हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

१९३२

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

वार्षिक मूल्य पाँच   से दस शिलिंग

हिंदुस्तानी, १६३२

लेख-सूची

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग २ } जनवरी १९३२ { अंक १

देवनागरी लिपि तथा हिंदी अक्षरविन्यास

[लेखक—डाक्टर बाबूराम सक्सेना, एम्० ए०, डी० लिट्०]

देवनागरी लिपि के सुधार का प्रश्न कई बार उठाया जा चुका है। कभी कभी यह भी कहा जाता है कि देवनागरी के स्थान पर फ़ारसी लिपि अथवा रोमन लिपि स्वीकार कर ली जावे। देवनागरी को अपने स्थान से हटाने का प्रयत्न निष्फल रहेगा, ऐसी मेरी धारणा है। इस का यह तात्पर्य नहीं कि देवनागरी वर्णमाला सर्वांगपूर्ण है, उस में त्रुटियाँ नहीं। संसार की और वर्णमालाएँ भी अपूर्ण हैं, संभवतः देवनागरी सब से कम अपूर्ण है। इस में जो दोष हों उन को दूर करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

देवनागरी लिपि द्वारा संस्कृत, प्राकृतें तथा अन्य आर्यभाषाएँ विशेष कर हिंदी, मराठी और नैपाली लिखी जाती हैं। संस्कृत और प्राकृतों के लिये अपनी वर्णमाला सैकड़ों बरसों से काम में लाई जा रही है और कभी संशोधन की आवश्यकता नहीं पड़ी। प्रश्न केवल आधुनिक भाषाओं के विषय मे उठाया जाता है। इस संबंध में गत वर्ष की 'हिंदुस्तानी' में श्री० धीरेंद्र वर्मा जी का एक लेख 'हिंदी में नई ध्वनियाँ तथा उन के लिये नए चिह्न' शीर्षक दे कर

निकला था। धीरेंद्र जी के लेख के प्रतिवाद अथवा आलोचना के रूप में श्री० जगमोहन 'विकसित' का एक विस्तृत लेख 'माधुरी' भाग ९, खंड २ की चौथी और पाँचवीं संख्याओं में प्रकाशित हुआ है। उपर्युक्त दोनों सज्जनों ने देवनागरी वर्णमाला अथवा अक्षरविन्यास की अपूर्णता दिखा कर कुछ संशोधनों का प्रस्ताव किया है। इन पर समुचित रीति से विवेचन करना हिंदी भाषा प्रेमियों का कर्तव्य है। धीरेंद्र जी के लेख का सारांश यह है कि—(१) संस्कृत की कुछ ध्वनियाँ हिंदी में दूसरे रूप में बोली जाती हैं; इन में ध्वन्यात्मक परिवर्तन कर लेना चाहिये (यथा ऋ के स्थान पर रि, ष के स्थान पर श), (२) कुछ ध्वनियाँ ऐसी उपस्थित हो गई हैं जिन को ठीक ठीक लिखने का प्रबंध अभी तक नहीं हुआ है (यथा लघु ए, ऐ, ओ और औ) और कुछ विदेशी ध्वनियाँ ऐसी आ गई है जिन को भी व्यक्त करने के लिये नए चिह्न आवश्यक हैं (जैसे फारसी ; के लिये फ़)। 'विकसित' जी का धीरेंद्र जी से बहुत अंशों में मत-भेद है; आप का विचार है कि ऋ और ष आदि का ठीक उच्चारण शिष्ट जनता करती है (!) इसलिये परिवर्तन की आवश्यकता नहीं; लघु ए आदि का अन्य प्रकार से भी बोध कराया जा सकता है और विदेशी ध्वनियों को व्यक्त करने की आवश्यकता नहीं, उन के स्थान पर निकटतम स्वदेशी ध्वनि (यथा क़ के स्थान पर क) का ही प्रयोग करना श्रेयस्कर है। इस प्रकार की आलोचना कर के लेख के अंतिम भाग मे उन्हों ने हिंदी अक्षरविन्यास के सुधार के संबंध में कुछ मंतव्य प्रकाशित किए हैं जो सचमुच उपादेय हैं।

किसी भी लिपि को सर्वसाधारण में प्रचलित करने के लिये उस को सुगम और स्पष्ट करना आवश्यक होता है। यदि केवल सुगमता पर ही ध्यान दिया जाय तो भी काम नहीं चलता और यदि स्पष्टता ही लक्ष्य रहे तो जटिलता आ जाती है। इसीलिये भाषा-संबंधी वैज्ञानिक अनुसंधान के लिये एक प्रकार से एक सर्वांग-संपूर्ण वर्णमाला की आवश्यकता होती है। अंतर्जातीय ध्वनि-विज्ञान परिषत्[1] ने रोमन लिपि मे आवश्यक हेर फेर कर के एक ऐसी लिपि तैयार कर

---

[1] International Phonetics tion

ली है जो ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से संपूर्ण है पर वह जनसाधारण के व्यवहार की वस्तु नहीं। इसी प्रकार सुभीते और समय की बचत के लिहाज़ से शार्टहैंड लिपियाँ बहुत अच्छी हैं—पर कितने मनुष्य इन का प्रयोग कर सकते हैं ? यदि थोड़े लोग भी साधारण रीति से इन का व्यवहार करने लगें तो 'स्वयमपि लिखितं स्वयं न वाचयति' वाली उक्ति चरितार्थ हो जावे।

देवनागरी लिपि धीरे धीरे चलती है, यह सत्य है, पर संभवतः इसी कारण कि वह शीघ्र लिखी जाने वाली लिपियों से अधिक स्पष्ट है। प्रश्न यह है कि इस में क्या क्या सुधार हो सकते है। ऊपर कहा जा चुका है कि संस्कृत और प्राकृत के लिखने के लिये यह वर्णमाला पर्याप्त है। इसलिये सुधार का प्रश्न केवल आधुनिक भाषाओं के लिखने के विषय में सीमित हो जाता है। किसी भाषाविशेष के लिखने में यह प्रश्न और भी परिमित हो जाता है। प्रस्तुत लेख का विषय केवल हिंदी-भाषा-संबंधी है।

इतना ध्यान में रखना चाहिए कि कोई भी लिपि किसी भी भाषा की ध्वनियों को वैज्ञानिक आदर्श के अनुसार ठीक ठीक व्यक्त नहीं कर सकती। जब प्रत्येक ध्वनि जिस का हम उच्चारण करते हैं दूसरे क्षण में बोली हुई उसी ध्वनि से भिन्न है, जब किसी शब्द को अकेले बोलने पर कुछ ध्वनियाँ सुनाई पड़ती है और किसी वाक्य में रख कर उच्चारण करने में उस की ध्वनियों मे भेद पड़ जाता है तब यह बात स्पष्ट है कि लिपि वाणी को पूर्णरूप से व्यक्त करने में असमर्थ है।

हिंदी शब्द कई अर्थों में व्यवहार किया जाता है। (१) भाषा-वैज्ञानिकों का मतलब हिंदी से न केवल संस्कृत-मिश्रित हिंदुस्तानी (खड़ी बोली) से है प्रत्युत अंबाले से लेकर मिर्ज़ापुर तक बोली जाने वाली सभी बोलियों से है। (२) साहित्य में हिंदी कभी आधुनिक साहित्यिक हिंदी (खड़ी बोली) का बोध कराती है और कभी पुरानी हिंदी बोलियों का अर्थात् अवधी, ब्रज अथवा हिंदुई का।

जब भारतवर्ष में भाषा-विज्ञान का अध्ययन प्रचलित हो जाएगा त
देवनागरी लिपि में इस दृष्टि से हेर फेर करने पड़ेंगे कि सब

भाषाएँ उस लिपि द्वारा व्यक्त कराई जा सकें। उस के लिये धीरेंद्र जी के विचारों पर ध्यान देना उचित होगा। वह लिपि अंतर्जातीय ध्वनि-विज्ञान परिषत् की लिपि की तरह केवल भाषा-तत्वज्ञों तक परिमित रहेगी। इस समय आवश्यकता केवल इतनी है कि वह हिंदी जिस को उत्तर-भारत की शिष्ट जनता बोलती है और लिखती है यथासाध्य शुद्ध लिखी जा सके। हिंदी भाषा संभवतः दिल्ली मेरठ की ओर से उठी पर आज इस का विस्तार केवल युक्त-प्रांत मे ही नहीं, बिहार, मध्य प्रांत, मध्य भारत, कलकत्ता, बम्बई आदि में भी है। भिन्न भिन्न प्रांतों के हिंदी-भाषा-भाषी एक ही वाक्य को तरह तरह से बोलते हैं। यदि आगरा वाला कहेगा 'मै ने चिट्ठी लिखी' तो इसी भाव को प्रकट करने के लिये संभवतः काशी में रहने वाला बोलेगा 'हम चिट्ठी लिखे'। इन दोनों में कौन वाक्य स्टैंडर्ड माना जाएगा ? मेरी समझ में आगरा वाला। इसी प्रकार ध्वनियों के विषय में मतभेद है। पश्चिमी युक्तप्रांत का रहने वाला कहेगा 'मै कहेॅता[1] हूॅं', पूरब वाला बोलेगा 'मइ कहता हूॅं'; पूरब वाले के क में जो गोलाई है वह पश्चिम वाले के क में कहीं भी नहीं। पश्चिम वाला कहेगा ये और वो पूरब वाला बोलेगा *यह* और *वह* यद्यपि दोनों ही *यह* और *वह* लिखेंगे। इस भेदभाव को मिटाने का केवल एक उपाय है और वह यह कि जहाँ तक संभव हो लेख को उच्चारण के समीप रक्खें। बलिया में रहने वाला भोजपुरी ई ऊ बोलने वाला बेचारा क्या जाने कि स्टैंडर्ड हिंदी में लिखा तो जाता है *यह वह* पर बोला जाता है *ये वो*, अथवा लिखा जाता है *पहला* पर बोला और पढ़ा जाता है *पहेॅला*। उस के इस भ्रम को दूर कर देना हमारा उद्देश्य होना चाहिए।

देवनागरी लिपि के विरुद्ध बहुत से आक्षेप हैं जिन में कुछ का प्रतिकार करने का प्रयत्न भी संभव नहीं जान पड़ता। उदाहरण के लिये—कहा जाता है कि यह लिपि देर में लिखी जाती है क्यों कि क़लम को उठा कर बार बार ऊपर नीचे ले जाना पड़ता है। यह बात सच है पर इस को दूर करने का उपाय

---

[1] 'ए', 'ओ' की मात्राओं के साथ जहाँ ˘ चिह्न लगा है वहाँ उन को ह्रस्व समझना चाहिये।

नही है। यदि कहें कि ऊपर की बेड़ी पाई को उड़ा दिया जाए तो घ और ध, म और भ आदि में भेद रखना असंभव हो जाएगा। एक दोष यह भी है कि हमारी लिपि वर्णात्मक (syllabic) है, मूलध्वन्यात्मक (phonemic) नही है। इस से कभी कभी कठिनाई पड़ती है यथा यदि क् ध्वनि को बताना हो तो क के नीचे हल् का चिह्न लगाना पड़ता है। इस का भी कोई सुलभ प्रतिकार नहीं है। कुछ स्वरों के और उन की मात्राओं के रूप में समानता नहीं है, यथा इ (ि), ई (ी), ऊ (ू), ए (े), ऐ (ै)—यह भी चिंत्य है पर इस को दूर करने का कोई सरल विधान नहीं है। एक दोष और असाध्य मालूम होता है—वह यह कि इ की मात्रा लगाई तो व्यंजन के पूर्व जाती है पर उच्चारण व्यंजन के अनंतर का है (यथा कि=क्+इ न कि इ+क्) और व्यंजनों का तात्पर्य कभी तो व्यंजन+अ होता है (यथा 'कम' मे क=क्+अ) और कभी केवल व्यंजन का (यथा 'कूप' मे कू=क्+ऊ)। जब तक लिपि का ढँग बिल्कुल ही न बदल दिया जाए यह दोष नहीं दूर हो सकते।

अन्य त्रुटियाँ ऐसी हैं जो आसानी से दूर की जा सकती है। इन का विवेचन दो भागों मे हो सकता है—

(क) हिंदी में नई ध्वनियाँ और उन के लिए नए चिह्न अथवा पुराने चिह्नों का प्रयोग।

(ख) हिंदी की चिर-प्रचलित ध्वनियाँ जिन को व्यक्त करने के लिये पुराना अक्षरविन्यास अनुचित है।

इस विवेचन में 'हिंदी' से मुख्यरूप से शिष्ट समाज की आजकल की बोली और लिखी जाने वाली हिंदी से अभिप्राय है।

(क)

हिंदी की नई ध्वनियाँ या तो पुरानी ध्वनियों के विकसित रूपांतर हैं या विदेशीय। पुरानी ध्वनियों के विकास-स्वरूप यह नई ध्वनियाँ मिलती हैं:—

१—लघुतर अकार जिस का भाषा वैज्ञानिक रोमन लिपि मे ə से बोध कराते हैं, यथा बकरा के क का अ। यह ब के अ से छोटा है पर इस को व्यक्त करने के लिये कोई अलग चिह्न नहीं है

२—लघु एकार यथा ऍकाई, कहॅता, पहॅला आदि का ऍ एक कहेगा पहेली के ए से छोटा है।

३—लघु ओकार यथा दॉहाई का ऑ दोहा के ओ से छोटा है।

४—ओष्ठ्य वकार यथा ज्वर का व ओष्ठ्य और वहाँ और अवगत का व दंत्योष्ठ्य है।

इन मे से लघुतर अकार और ओष्ठ्य वकार के लिये अलग चिह्नों की आवश्यकता मुझे प्रतीत नहीं होती। लघुतर अकार, शब्द के मध्य मे सुव्यवस्थित रूप मे आता है जिस का निर्देश नियमों द्वारा हो सकता है। इसी प्रकार ओष्ठ्य वकार केवल किसी दूसरे व्यंजन के उपरांत आता है। अन्यत्र वह दंत्योष्ठ्य ही है। जब तक एक ध्वनि का दूसरी ध्वनि से व्यतिक्रम होने की संभावना न हो तब तक नया चिह्न बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उदाहरण के लिये अँगरेजी में ल् दो प्रकार का बोला जाता है—एक विशद (clear) और दूसरा अव्यक्त (dark); पर विशद सदा शब्द के आदि (यथा लेयम lame) मे आता है और अव्यक्त अंत में व्यंजन के अनंतर (यथा लिट्ल् little का अंतिम); इसी कारण भिन्न चिह्न की आवश्यकता नही है। भाषा-विज्ञान की लिपि के लिये भले आवश्यकता हो पर जनसाधारण की लिपि के लिये नही। लघु ए और ओ के लिये चिह्नों की आवश्यकता प्रतीत होती है क्योंकि इन मे भ्रम पड़ सकता है; कोई नियम भी ऐसे नहीं बन सकते कि अमुक स्थान पर शब्द में होने से ए अथवा ओ लघु होगा और अमुक में दीर्घ। लघु ए का कोई उचित चिह्न न होने से ही संभवतः ऍकाई, ऍक्का और पहॅला को कभी कभी इकाई, इक्का और पहिला लिखते हैं। पर कहॅता को कोई न कहिता लिखता है न बोलता। इसी प्रकार दोहाई को वस्तुतः बोलते तो दॉहाई हैं पर लिखते कभी कभी दुहाई हैं। यदि हिंदी के दिग्गज विद्वान इस स्थिति को ही संतोषप्रद समझें तो और बात है। प्रश्न हो सकता है कि प्राकृतों में भी तो लघु ए और ओ थे वहाँ कैसे काम चला। परंतु वहाँ स्थिति भिन्न थी। उन भाषाओं में ए और ओ सदा संयुक्ताक्षर अथवा अक्षर के द्वित्व के पूर्व आते थे इस कारण

सुव्यवस्था थी। हिंदी मे क्या सुव्यवस्था हो सकती है?[१]

विदेशी आई हुई ध्वनियाँ एक तो फ़ारसी अरबी से आए हुए शब्दों में है और दूसरे अंग्रेजी से आए हुए शब्दो मे। अँगरेजी की ट ड थ द और आ जिन का संकेत धीरेंद्र जी ने अपने लेखमें ट़ ड़ थ़ द़ और ऑ से किया है सुनने में हिंदी से इतनी मिलती जुलती है कि कोई हिंदी-भाषा-भाषी हिंदी बोलते समय अंगरेजी ध्वनि का उच्चारण नहीं करता। फिर इन नए चिह्नों की स्टैंडर्ड हिंदी को लेखबद्ध करने के लिये आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। फ़ारसी ध्वनियों की बात दूसरी है। पश्चिमी युक्तप्रांत की शिष्ट हिंदी जनता क़, ख़, ग़, ज़, फ़ का व्यवहार करती है। पर झ़ (ژ) और अ़ (ع) का व्यवहार नहीं करती। अरबी शिक्षा प्राप्त मनुष्य भले ही *पझ़मुर्दा* (پژمرده) और *मअ़लूम* (معلوم) कहते हों पर अन्य शिष्ट जन *पज़मुर्दा* और *मालूम* ही कहते हैं। इस कारण झ़ और अ़ यह दो चिह्न रखना बेकार मालूम होता है। रही क़, ख़, ग़, ज़ और फ़ की बात। इन के बारे में हिंदी जनता में मतभेद है। मध्य प्रांत, बिहार, राजस्थान आदि का शिष्ट समाज भी बहुधा उच्चारण में और लेख में इस बात मे अवहेलना करता है। पर मेरी समझ मे स्टैंडर्ड हिंदी पश्चिमी युक्तप्रांत की भाषा है और उसी को ऐसे प्रश्न निर्धारित करने के लिये शिष्ट समाज की भाषा समझना चाहिये। इसी कारण मेरी अल्पमति में जिन शब्दों में यह फ़ारसी अक्षर आवें उन में बिंदु लगाना आवश्यक समझना चाहिए। 'विकसित' जी तथा उन के पक्ष वाले अन्य सज्जनों का वक्तव्य है कि जब गुजराती, मराठी, बंगाली आदि में शुद्ध फ़ारसी रूप लिखने का प्रयत्न नहीं किया जाता तो हिंदी पर ही यह बोझ क्यों लादा जाय। इस के उत्तर में मेरा निवेदन है कि गुजराती आदि से उर्दू (अथवा फ़ारसी) का उतना घनिष्ट संबंध नहीं है जितना हिंदी का। उर्दू और हिंदी एक ही स्थान की भाषाएँ हैं। फिर दोनों का व्याकरण एक

---

[१]भोजपुरी में 'अ' और 'आ' के बीच की एक अकार ध्वनि है पर वह स्टैंडर्ड हिंदी में नहीं बोली जाती इसलिये उस का विवेचन नहीं किया गया। ब्रज मे ऐ' और 'औ' पाए जाते हैं पर स्टैंडर्ड हिंदी में नहीं।

है; विशेष अंतर केवल इतना है कि एक संस्कृत का आश्रय लेती है दूसरी फ़ारसी का। संभव है सौ दो सौ वर्ष में ऐसा हो जाए कि हिंदी शिष्ट समाज भी इन फ़ारसी अक्षरों का शुद्ध उच्चारण छोड़ दे तब और बात होगी संप्रति इन ध्वनियों को व्यक्त करना उचित जान पड़ता है।

(ख)

हिंदी को शुद्ध शुद्ध लिखने में अकार की कोई अलग मात्रा न होने के कारण बड़ी बाधा पड़ती है। उदाहरण के लिये *आँत* और *अंत* दोनों शब्दों में त है किंतु *आँत* के उच्चारण में *त* से तात्पर्य केवल *त्* का है और *अंत* के उच्चारण में *त* का मतलब है *त्+अ*। शब्द के मध्य में भी अकार गड़बड़ी करता है; समझना में *स म झ* तीनों अक्षरों में *अ* शामिल है पर उच्चारण केवल *स* और *म* में किया जाता है—यदि जैसे समझना बोलते हैं वैसे लिखें तो समझ्ना होना चाहिए। अकार की इस त्रुटि को दूर करने का उपाय धीरेंद्र जी की राय में केवल विशिष्ट चिह्नों का प्रस्तुत कर देना है। मैं समझता हूँ कि इस के बिना भी सुगमता से कार्य चलाया जा सकता है। अंतिम *अ* के बारे में यह नियम है—यदि अकार संयुक्त व्यंजन (क्त) अथवा दीर्घ (त्त) व्यंजन के उपरांत लिखा हो तो उसका उच्चारण होता है यदि एक लघु व्यंजन (आँत) के अनंतर हो तो नहीं होता। शब्द के मध्य वाले *अ* को तभी लिखना चाहिये जब उस का उच्चारण होता हो, अन्यथा नहीं—यथा करता और कर्ता दोनों को कर्ता लिखना चाहिए। जब नैपाली वाले सक्छ और सक्ना लिख सकते हैं तो हम हिंदी वाले क्यों नहीं लिखते, यह समझ में नहीं आता।

हिंदी वर्णमाला में तीन स्वर हैं—*ऋ, ॠ* और *ऌ*। इन में से पिछले दो का प्रयोग शायद ही किसी हिंदी शब्द में होता हो। हाँ *ऋ* का प्रयोग (यथा ऋषि, ऋण, ऋतु, पितृ देश में) होता है पर उच्चारण *रि* का होता है *ऋ* स्वर का नहीं होता। इस स्वर का शुद्ध उच्चारण तो अब संस्कृत भाषा के बोलने वाले भी नहीं करते; उत्तर भारत के संस्कृतज्ञ अथवा असंस्कृतज्ञ सज्जन *रि* बोलते हैं और दक्षिण भारत वाले *रु*। हिंदी वाला *ऋतु* को *रितु* कहेगा और

गुजराती वाला *रितु*। जब हम सभी लोग ऋ नहीं बोलते (अथवा नहीं बोल पाते) तब व्यर्थ का यह चिह्न वर्णमाला में रख कर केवल हिंदी पढ़ने वालों को क्यों परेशान करें। जो संस्कृत पढ़ेगा वह उस अक्षर को याद कर लेगा। सब को क्यों कष्ट दिया जाए। इसी कारण मेरा अनुरोध है कि ऋ, ॠ और ऌ हिंदी वर्ण माला से हटा दिए जाएँ और ऋ, को *रि* लिखने की पूर्ण स्वतंत्रता दे दी जाए।

अनुस्वार का शुद्ध उच्चारण संस्कृत के वैयाकरणों के अनुसार केवल नासिका से होना चाहिए—पर मुझे तो विरला ही संस्कृतज्ञ भी ऐसा मिला है जो इस का शुद्ध उच्चारण करता हो, यदि मनुष्य बड़ा प्रयत्न करता है तो हंस का उच्चारण *हङ्‌स* अथवा *हम्स* और *अंश* का *अङ्श* अथवा *अम्श* करता है। हिंदी बोलने में तो इस का उच्चारण वर्ग के अक्षरों के पूर्व उस वर्ग के पंचम वर्ण का, *स* (*मान्स*) और *श* (*मुन्शी*) के पूर्व *न* का और *ह* (*सिंघ*) के पूर्व *ङ* का होता है। इसलिये हिंदी में अनुस्वार से वर्गों के पंचम वर्ण का तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए। पंचम वर्ण हैं पाँच—*ङ ञ ण न* और *म*। इन में से *ङ* और *ञ* केवल किसी व्यंजन के पूर्व आते है (अङ्क, चञ्चल) अन्यथा उन की स्वतंत्र स्थिति नहीं। *ण* (गणपति), *न* (बावन) और *म* (आम) स्वतंत्र रूप से भी आते है। वर्गों के व्यंजनों के पूर्व वाले *न* और *ण* मे तथा *ञ* में बहुत कम अंतर है। *दन्त* और *घण्टा* तथा *तमञ्चा* मे जो अनुनासिक है उन का स्थान एक दूसरे से बहुत निकट है। इसी कारण अशिक्षित मनुष्य *घण्टा* की जगह *घन्टा* लिखते हैं। *न* और *म* की स्वतंत्र स्थिति है, अपने वर्ग के अन्य अक्षरों के पूर्व आ सकते हैं तथा वर्गों से भिन्न अक्षरों के पूर्व भी आ सकते हैं यथा *कनपटी, कन्सी, कान्ह, अम्चुर, अम्खोरा, अम्रूद*। इस लिये *न* और *म* जहाँ आवें इन को अनुस्वार से कभी व्यक्त नहीं करना चाहिए अन्यथा भ्रम की संभावना है—अनुस्वार से लिख कर *कनपटी कम्पटी* पढ़ा जा सकता है और *अमचुर अञ्चुर*। *ण्, ञ्* और *ङ्* केवल अपने वर्ण के व्यंजनों के पूर्व आते हैं इसलिये इन को अनुस्वार से व्यक्त कर सकते है और यह **नियम बना सकते हैं कि अनुस्वार जिस व्यंजन के पूर्व हो उसी व्यंजन के**

स्थान को ग्रहण कर लेता है। साथ ही साथ ण् और ञ् को शब्द के मध्य में न लिखने की अनुमति दे देनी चाहिए।

एक और झगड़ा है चंद्रबिंदु का। संस्कृत में चंद्रबिंदु का केवल कुछ संधियों में व्यवहार होता था; पर हिंदी में बहुत स्थानों पर इस का प्रयोग आता है। और इस का व्यवहार अनुस्वार की अपेक्षा अधिक स्थलों पर है। शब्द के अंत में दीर्घ अथवा संयुक्त स्वर के अनंतर सदा चंद्रबिंदु होता है अनुस्वार नहीं होता इसलिये यदि यह नियम विद्यार्थी को समझा दिया जाए तो ऐसी स्थिति में वहाँ अनुस्वार लिख कर ही काम चलाया जा सकता है। अन्यत्र अनुस्वार और चंद्रबिंदु के भेद का कड़ाई से पालन होना चाहिए चाँद को चांद लिखना अशुद्ध समझा जाए। यदि चंद्रबिंदु का चिह्न (ँ) कष्टप्रद है तो उस के स्थान पर कोई नया चिह्न बना लिया जाने में मुझे आपत्ति नहीं पर अनुस्वार को उस के स्थान पर अनियमित रूप से प्रयोग में नहीं लाना चाहिए।[1]

जिस प्रकार स्वरों में ऋ का शुद्ध उच्चारण हिंदी-भाषा-भाषी जनता नहीं करती उसी प्रकार ऊष्म वर्णों में ष का उच्चारण नहीं होता—इसीलिये विद्यार्थियों की कापियों में कश्ट, कश्ठी आदि मिलते हैं। संस्कृतज्ञ भी ष का मूर्धन्य उच्चारण नहीं करते वर्त्स्य करते हैं। तब ष् का हिंदी वर्णमाला में रखना अनुचित है; इस के स्थान पर श् लिखने की पूर्ण स्वतंत्रता दे देनी चाहिए।

विसर्ग का तात्पर्य अघोष ह से है। संस्कृत में केवल अंतिम ह अघोष होता था अन्य सघोष। इसी कारण संस्कृत में विसर्ग की स्थिति केवल अंत में होती थी। जहाँ तक मैं ने ध्वनिविज्ञान में प्रयोग द्वारा अनुसंधान किया है मुझे प्रतीत हुआ है कि हिंदी में शब्द के आदि का ह सदा अघोष, मध्य का सदा सघोष और अंत का सघोष से प्रारंभ हो कर अघोष में अंत होता है। इसलिये हिंदी में यदि विसर्ग शब्द के आदि में (हाथ को :ाथ) नहीं लिख सकते तो

---

[1] 'में' का चंद्रबिंदु नहीं बोला जाता, इसलिये उस के स्थान पर 'मे' लिखना अधिक उचित है। अन्य स्थानों में भी जहाँ उच्चारण न होता हो वहाँ बिंदी लगाना वर्जित होना चाहिए।

विसर्ग रखने की आवश्यकता नहीं। मेरी समझ में अघोष और सघोष का भेद एक ऐसी वारीकी है जिस का जन साधारण की लिपि में रखना बेकार है।

संयुक्त व्यंजनों की ध्वनियों में ज्ञ ह्न ह्म विचारणीय हैं। ज्ञ वास्तव मे ज् ञ के मेल से बना है पर इस का जनसाधारण में ग्यँ अथवा द्यँ उच्चारण है—ग्यँ उत्तर भारत में और द्यँ दक्षिण भारत में; बहुधा ँ भी उच्चारण मे नही आता केवल ग्य अथवा द्य बोला जाता है। अब शिष्ट समाज में ज्यँ का भी प्रचार हो चला है विशेष कर आर्य समाज के प्रभाव से। मेरी समझ में ज्ञ के रूप का बहिष्कार कर देना चाहिए और उस के स्थान पर ज्यँ (और यदि यह असंभव हो तो ग्यँ) लिखना चाहिए। इस से व्यर्थ का एक चिह्न हट जाएगा और उच्चारण की शुद्धता भी आ जाएगी। ह्न और ह्म का उच्चारण भी हिंदी-भाषा-भाषी जनता ही नहीं संस्कृतज्ञ भी न्ह् और म्ह् करते हैं—इसीलिये मध्याह्न को मध्यान्ह् और ब्रह्मा को ब्रम्हा बोलते हैं। उचित यही प्रतीत होता है कि ह्न और ह्म के स्थान में हिंदी में न्ह और म्ह लिखा जाए।

इस के अतिरिक्त अपनी लिपि में संदिग्धता और जटिलता मिटाने के लिये कई बातें और विचारणीय हैं। हिंदी में अ का रूप कभी अ और कभी अ लिखा जाता है; दोनो का रखना बेकार है। इन में से एक ग्रहण कर लेना चाहिए और दूसरे का व्यवहार छोड़ देना चाहिए। स्वरो के दो रूप हैं एक पूर्ण (इ) और एक मात्रा का (ि); परंतु उ ऊ की मात्राओं के र के अनंतर दो रूप और है— ु (रु) और ू (रू)। लोगों का इस के विषय में यह प्रस्ताव कि साधारण मात्राएं ु और ू र के साथ भी लगानी चाहिए और रु रू के स्थान पर र् ु और र् ू लिखना चाहिए तुरंत कार्य मे परिणत करना चाहिए।

इस प्रकार जैसे स्वरों के दो रूप स्थिर हो जाएंगे वैसे ही व्यंजनों के दो रूप स्थिर कर देने का प्रयत्न करना चाहिए—एक ऐसा रूप जिस के अनंतर स्वर हो यथा त (त, ति, तु) और दूसरा जिस के अनंतर व्यंजन हो यथा त् (त्म, त्न) इस प्रकार ऐसे अक्षरों के, जिन में अंतिम अंश आड़ी पाई है, दो दो रूप विद्यमान हैं वे ये हैं

ख ख्, ग ग्, घ घ्, च च्, ज ज्, ञ ञ्, ण ण्, त त्, थ थ्, ध ध्, न न्, प प्, ब ब्, भ भ्, म म्, य य्, ल ल्, व व्, श श्, ष ष्, और स स्।

बाक़ी बचते हैं क, ङ, छ, झ, ट, ठ, ड, ढ, द, फ, र और ह। इन में से क, झ और फ का दूसरा रूप अंतिम नोक हटा कर बन सकता है (*रक्त, हफ्त, समझना*) और उसी का प्रयोग करना चाहिए। शेष के नीचे हल् का चिह्न लगाना चाहिए। ङ् का व्यवहार प्रायः नहीं होता। उस के स्थान पर अनुस्वार की बिंदी लगानी चाहिए। छ् का प्रयोग बहुत कम होता है (*कछ्छी*) वहाँ हल् चिह्न लगाने में कोई आपत्ति न करनी चाहिए। ट्, ठ्, ड्, ढ्, द् और ह् को लिखने के लिये आज कल पूरा (किंतु ज़रा छोटे आकार का) लिखते हैं और उस के नीचे बाद को आने वाला व्यंजन लिखते हैं। यह रीति यदि अधिक नहीं तो कम से कम उतनी कष्टसाध्य अवश्य है जितनी हल् का चिह्न लगाने की। मेरी समझ में *अट्ठा, अड्डा, उद्यान*, लिखना *अट्ठा, अड्डा, उद्यान*, से आसान है। र् का प्रश्न टेढ़ा है, इस को आगामी अक्षर पर ˚ चिह्न लगा कर सूचित करते हैं। प्रचलित प्रथा अधिक सुभीते की है—लोग अर्घ को अर्‍घ से अधिक पसंद करेंगे। मेरी समझ मे लिखने में और टाइपराइटर में इस प्रथा को चलने देना चाहिए। केवल लिनोटाइप मशीन पर संभवतः र् व्यवहार मे लाना पड़ेगा अन्यथा (*र्क, र्ख* आदि) इकतीस चिह्न रखने पड़ेंगे। अथवा ˚ को आगामी अक्षर के ऊपर न रख कर उस के पूर्व रक्खा जाय (अ˚क=अर्क)। व्यंजन के उपरांत आने वाले र का ‐ चिह्न लिखने में, टाइपराइटर में तथा लिनोटाइप मशीन सभी में रखना पड़ेगा। इस का कोई उपाय नहीं। केवल ‐ के अन्य रूप ‸ (ट्र) (त्र) (क्र) आदि बंद कर देने चाहिए। इस प्रकार र के तीन रूप (र, ˚, ‐) और अन्य व्यंजनों के दो दो रूप स्थिर हो जाएंगे और विद्यार्थियों को नीचे लिखे संयुक्ताक्षर याद करने का परिश्रम नहीं उठाना पड़ेगा—

क्त, क्र, क्ल, क्क, त्त, घ्न, ङ्क, ङ्ख, ङ्ग, ङ्घ, ज्ञ, ट्ट, ट्ठ, ट्य, ट्र, ठ्र, ड्ड, ड्ढ, ड्य, ड्र, ढ्य, ढ्र, त्त, त्र, द्र, द्म, द्य, द्व, द्ध, न्न, प्र, ल्ल, स्र, श्र, स्त्र, ह्म, ह्न, ह्व, ह्य, ह्र, हृ, ह्ल

इस प्रकार यदि यह ४२ चिह्न वर्णमाला से अलग कर दिए जाएँगे तो कितनी सुविधा होगी इस का अनुमान पाठक कर सकते हैं। संयुक्ताक्षरों को ऊपर नीचे लिखने की प्रथा का तुरंत उड़ा देना चाहिए। *कच्चा मल्ल* कभी न लिख कर *कच्चा* और *मल्ल* लिखना चाहिए। इसी प्रकार ँ के अनंतर (कर्म्म) अथवा *य* (कृत्त्य) *व* (तत्त्व) के पूर्व व्यंजन के द्वित्व के लिखने की प्रथा छोड़ देनी चाहिए।

व्यंजनों में संयुक्त *श* के दो रूप प्रचलित हैं एक *श्* (*अश्व*) और *श्र* (*श्री*)। इन में से दूसरे रूप का बहिष्कार कर देना चाहिए। *श्री* को श्री लिखना चाहिए। इसी प्रकार ण के दो रूप हैं, ण और *ण*। इन में से भी *ण* का परित्याग कर के ण रखना चाहिए क्योंकि ण का मात्रारहित रूप 'ण' सरल तथा असंदिग्ध है, *ण* का *रा* में भ्रम होता है।

भ्रम की दृष्टि से *ख* भी त्रुटियुक्त है। लिखे हुए खाना को रवाना पढ़ जाना संभव है। पर इस में क्या परिवर्तन किया जाए यह समझ में नहीं आता। पुरानी हस्तलिखित हिंदी पोथियों में *ख* के स्थान पर बहुधा *ष* मिलता है—*लषन* का उच्चारण *लखन* होता था *लशन* नहीं। पर आधुनिक हिंदी में जिस में नित्य प्रति हम लोग संस्कृत से सैकड़ों शब्द लेते हैं *ष* का *ख* के लिए प्रयोग में लाना स्वयं ही भ्रमोत्पादक होगा। अच्छा होगा कि जब *श* का व्यवहार ष के स्थान पर पक्का हो जाए तब *ख* को *ष* लिखा जाए।

भूतकाल की क्रिया *लिए*, *दिए*, *लिया*, *दिया*, *गई*, *हुआ* आदि के संबंध में हिंदी संसार में बहुत वादविवाद हो चुका है और दलबंदियाँ हो गई हैं। इस कारण इस के विषय में कुछ कहते संकोच होता है। मेरी धारणा है कि बहुवचनांत पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग की क्रिया में केवल स्वर बोला जाता है, इसलिये *लिए*, *दिए*, *हुए*, *आई*, *गई* आदि रूप *लिये*, *दिये*, *हुये*, *आयी*, *गयी* की अपेक्षा अधिक उपयुक्त हैं। पर पुल्लिंग एक वचन में *य्* *व्* की श्रुति पश्चिमी युक्तप्रांत की शिष्ट जनता के उच्चारण में होती है इसलिये *लिआ*, *दिआ*, *हुआ* की अपेक्षा *लिया*, *दिया*, *हुवा* लिखना अधिक उचित है। पर यदि इस के विषय में निर्णय नहीं हो सकता तो भी दलबंदी करने की कोई नहीं प्रतीत

होती। दोनों प्रकार का व्यवहार ठीक समझा जाए। *रक्खा* में क् लिखना आवश्यक है क्यों कि वह बोला जाता है पर *लिखा* को *लिक्खा* लिखना अनुचित है।

'विकसित' जी ने अपने लेख में और दो प्रस्ताव रक्खे हैं—एक यह कि संज्ञाओं को बड़े अक्षर से आरंभ करना चाहिए और दूसरे यह कि प्रत्येक वाक्य अथवा कम से कम पैराग्राफ़ का प्रथम अक्षर बड़ा लिखना चाहिए। यह प्रस्ताव समुचित जान पड़ता है और छपाई में तुरंत कार्य में परिणत किया जा सकता है। पर लिखने में यह कर पाना दुस्साध्य है। रोमन लिपि में बड़े (capital) और छोटे (small) अक्षर होते हैं देवनागरी में नहीं। यदि प्रचलित अक्षरों को बड़ा कर के लिखा जाए तो बेड़ी पाई लगाने में कठिनता का अनुभव होगा।

मेरी समझ में ऊपर निर्दिष्ट किए हुए सुधार ऐसे हैं जो अपेक्षित हैं और आसानी से व्यवहार में लाए जा सकते हैं। संभव है कि इन में से बहुतों पर पूर्व में हिंदी जनता विचार और विवाद कर चुकी हो पर एक बार इन प्रश्नों पर फिर विचार कर के अंतिम निर्णय कर लेना चाहिए। इन प्रश्नों के विषय में वैयक्तिक पक्षपात और वैमनस्य अथवा दलबंदी को क्षण भर के लिये भी स्थान न देना चाहिए। सौभाग्य से हिंदुस्तानी एकेडमी में प्रत्येक यूनिवर्सिटी, शिक्षा-विभाग के बोर्ड, नागरी प्रचारिणी सभा, साहित्य-संमेलन आदि सभी संस्थाओं के सदस्य उपस्थित हैं। यदि एकेडमी के प्लैटफार्म पर इन प्रश्नों पर समुचित विचार कर लिया जाए और सर्व-सम्मति से कुछ निर्णय कर लिया जाए तो सरकारी तथा ग़ैर सरकारी सभी संस्थाओं में उस के अनुसार कार्य किया जा सकता है। इस से हिंदी का भविष्य में कल्याण ही होगा, ऐसा मेरा विचार है।

संस्कृत साहित्य में ग्रंथ-प्रणयन

[लेखक—डाक्टर मंगलदेव शास्त्री, एम्० ए०, डी० फिल् (ऑक्सन)]

संस्कृत साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास लिखने का प्रयत्न अभी थोड़े दिनों से ही शुरू हुआ है। इसलिये यह स्वाभाविक है कि उस मे अनेकानेक कठिनाइयाँ हों। उन सब पर यहाँ विचार करना हमारा उद्देश्य नही है। यहाँ हम कुछ ही समस्याओं को ले कर, जो प्रायः संस्कृत अध्ययन करने वालों के सामने उपस्थित होती हैं, उन के समाधान करने का प्रयत्न करेंगे। उदाहरणार्थ, कुछ समस्यायें यह हैं :—

(१) अनेक ग्रंथो पर उन के ग्रंथ-कर्ताओं का नाम नहीं मिलता। जैसे उपनिषद्, ब्राह्मण आदि।

(२) अनेक ग्रंथो के दो रूप मिलते हैं; और दोनों एक ही ग्रंथकर्ता के नाम से प्रसिद्ध हैं। उदाहरणार्थ, अनेक स्मृति-ग्रंथ (शंख-स्मृति आदि) थोड़े बहुत गद्य तथा पद्य दोनों रूपों मे पाए जाते हैं।

(३) अनेक ग्रंथों मे उन के ग्रंथकारों की ही संमतियाँ प्रथम पुरुष के प्रयोग के द्वारा उद्धृत की गई हैं। उदाहरणार्थ, शौनक की सम्मति बृहद्देवता मे अनेक जगह उद्धृत की गई है। यही नहीं, 'शौनक उवाच ह' (२।१२६) इस प्रकार परोक्ष-काल का भी प्रयोग किया गया है। अपने ही ग्रंथ में ग्रंथकार अपनी सम्मति परोक्ष-काल और प्रथम-पुरुष में उद्धृत करे यह विचित्र सी बात है।

(४) एक ही ग्रंथ के अनेक संस्करण—जो वेदों के शाखा-भेद की तरह के नहीं हैं—मिलते हैं। जैसे, मनुस्मृति, वृद्धमनुस्मृति आदि।

ऐसी अनेक समस्यायें हैं जिन का सामना प्रत्येक संस्कृत साहित्य के इतिहास के लेखक को करना पड़ता है। यहाँ हम सुसंबद्ध रीति से इन के समाधान की चेष्टा करेंगे।

इन समस्याओं की कठिनता का मुख्य कारण यह है कि अधिकांश हम आधुनिक ग्रंथ-प्रणयन की परिपाटी को ही सामने रख कर इन पर विचार करते हैं। प्रायः बड़े विद्वान् भी इस दोष से खाली नहीं पाए जाते। परंतु यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक देश में और इतिहास के प्रत्येक काल में उक्त परिपाटी का ही अनुसरण किया जाता रहा हो। अनेकानेक अवस्थितियों के भेद से उक्त परिपाटी में भी भेद हो सकता है। इसलिए भारतवर्ष के भिन्न भिन्न काल में क्या क्या ग्रंथ-प्रणयन की परिपाटी रही—इस पर विचार करना आवश्यक है।

ग्रंथ-प्रणयन का प्रारंभ कैसे हुआ ?

अध्ययनाध्यापन की परंपरा भारतवर्ष में अत्यंत प्राचीन काल से चली आई है। आजकल हम यह समझते हैं कि पठन-पाठन के लिये किसी छपी हुई या लिखी हुई पोथी की अनिवार्य रूप से आवश्यकता होती है। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। असल में देखा जावे तो अध्ययनाध्यापन की परंपरा के चलने के बहुत काल बाद ही ग्रंथ (जिस का अर्थ इस प्रसंग में हम यही समझते हैं कि जो किन्हीं लिखे हुए पत्रों को ग्रंथन करने से बने) प्रणयन का युग प्रारंभ हुआ होगा। इस विषय में यास्क-कृत निरुक्त में एक बड़ा उपयुक्त संदर्भ मिलता है। वह यह है—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मंत्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायंतोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रंथं समाम्नासिषुः। वेदं च वेदांगानि च। (१।२०)

अर्थात्, सब से पहले ऐसे ऋषि हुए जिन्हों ने स्वयं धर्म का साक्षात्कार किया, या, दूसरे शब्दों में, मंत्रों का निर्माण किया। उन्हों ने अपने पीछे आने वालों को उपदेश द्वारा मंत्रों को सिखलाया या पढ़ाया। तदनंतर ऐसे लोग पैदा हुए जिन के लिये केवल उपदेश पर्याप्त न था। उन्हों ने अपनी सुविधा के लिये ग्रंथ-प्रणयन की परिपाटी का प्रारंभ किया। इसी समय वेद वेदांग आदि ग्रंथ-रूप में बने

इस संदर्भ के पहले अंश के अनुसार एक समय ऐसा था जब कि ग्रंथ-प्रणयन का प्रारंभ ही नहीं हुआ था, या उस की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती थी। इस समय पठन-पाठन के साधन ग्रंथ न थे; किंतु मौखिक उपदेश से ही शिक्षा दी जाती थी। यह अतिप्राचीन काल है। इस समय वैदिक संहितायें भी न थीं। तभी तो ऊपर कहा है—'वेदं च वेदांगानि च।' ऋग्वेद (७।१०३।५) में प्रायः इसी अवस्था का सुंदर वर्णन मंडूक-सूक्त में मिलता है। जैसे—

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं

शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः ॥

अर्थात् एक मेढक दूसरे मेढक की बोली को इसी तरह दुहराता है जैसे शिष्य गुरु या शिक्षक के वचन को।

यास्क के अनुसार इस युग के बाद ग्रंथ-प्रणयन के युग का प्रारंभ हुआ। परंतु वास्तव में ग्रंथ-प्रणयन के पूर्व एक और अवस्था भी थी जिस को हम 'विद्या-प्रवचन' भी कह सकते हैं। ऐसा हो सकता है कि यास्क के 'ग्रंथ-समाम्नान' या 'समाम्नाय' में विद्या-प्रवचन और ग्रंथ-प्रणयन दोनों का समावेश है। कुछ ही हो, इस में संदेह नहीं कि विद्या-प्रवचन और ग्रंथ-प्रणयन में भेद है; और ग्रंथ-प्रणयन की परिपाटी का प्रारंभ विद्या-प्रवचन के आरंभ होने के पीछे ही हुआ। दोनों में क्या भेद है, इस का विचार हम नीचे करते हैं।

प्रोक्त और ग्रंथकर्ता

पाणिनि की अष्टाध्यायी में दो सूत्र आते हैं जिन से उक्त भेद और उस के स्वरूप के समझने में बड़ी सहायता मिलती है। वे सूत्र ये हैं—

तेन प्रोक्तम् ॥४।३।१०१॥

कृते ग्रंथे ॥४।३।११६॥

दोनो सूत्र दो पृथक् प्रकरणों से संबंध रखते हैं। पर आपाततः दोनों में कोई विशेष भेद नहीं प्रतीत होता। किसी ने एक ग्रंथ बनाया या एक ग्रंथ कहा, इस में क्या भेद हो सकता है? पर यदि दोनों में भेद नहीं है, तो दो प्रकरणों की ही क्या थी? दोनों प्रकरणों के उदाहरण भी प्रायः भिन्न भि

ही हैं। इसलिये यही मानना होगा कि विद्या-प्रवचन और ग्रंथ-प्रणयन में वस्तुत: भेद है; और विद्या-प्रवचन के करने वाले को प्रोक्ता और ग्रंथ-प्रणयन के करने वाले को ग्रंथ-कर्ता कहना उचित है। 'ग्रंथ' शब्द यहाँ हम उपर्युक्त लिखित पत्रादि सामग्री के ग्रंथन से बनी हुई पोथी के विशिष्ट अर्थ में ले रहे है। इसीलिये ऊपर ग्रंथ-प्रवचन न कह कर विद्या-प्रवचन कहा है।

विद्या-प्रवचन और ग्रंथ-प्रणयन में मुख्य भेद, हमारी सम्मति में यह है। विद्या-प्रवचन में अर्थ का प्राधान्य होता है। अक्षरानुपूर्वी की ओर ध्यान नहीं होता। ग्रंथ-प्रणयन मे अक्षरानुपूर्वी का भी पूरा पूरा ध्यान रहना है। प्रवचन और व्याख्यान (आधुनिक 'लेक्चर' के अर्थ में) दोनो समानार्थक है। इस लिये विद्या-प्रवचन और ग्रंथ-प्रणयन में वैसा ही भेद है जैसा एक व्याख्यान और पुस्तक में हो सकता है।

अध्ययनाध्यापन की परंपरा में भारतवर्ष में एक समय ऐसा था जब कि प्रवचन या व्याख्यान के द्वारा ही पठन-पाठन का कार्य चलता था। ग्रंथों का उस मे कोई स्थान ही नहीं था। इस काल को हम शुद्ध-प्रवचन-काल कह सकते हैं। यह काल वही है जिस को संस्कृत साहित्य के इतिहास-लेखक ब्राह्मण-उपनिषत्-काल[1] कहते हैं। यह काल चरणों, शाखाओं और परिषदों के प्रारंभिक काल से भी मिलता है। इन का विचार हम नीचे करेंगे। शुद्ध-प्रवचन-काल के वाङ्मय या साहित्य की हम आजकल के 'यूनिवर्सिटी लेक्चरस' के साथ तुलना कर सकते हैं। भेद केवल इतना है कि आधुनिक 'लेक्चरस' प्राय: किसी लिखित आधार पर पढ़े जाते है, और शुद्ध-प्रवचन-काल मे बहुत कर के उन का कोई लिखित आधार न होता था।

उस समय का साहित्य दो तरह का पाया जाता है। एक तो वह जिस

---

[1] प्राचीनतर वैदिक काल का भी समावेश इस मे हो सकता है। परंतु उस में केवल मंत्रों को छोड कर और कोई विद्या प्रवचन द्वारा नहीं पढ़ाई जाती थी। इसलिये उस को हम ने छोड़ दिया है। प्रवचन में कुछ विशेष व्याख्यान का भाव भी शामिल है

का संबंध किसी व्यक्ति-विशेष से कहा जाता है; जैसे, 'ऐतरेय ब्राह्मण' का संबंध महिदास ऐतरेय से कहा जाता है। दूसरा वह जिसका कि किसी व्यक्ति-विशेष से बतौर उस के कर्ता के, संबंध नहीं है। इस काल में इसी तरह के साहित्य का बाहुल्य है। अनेक उपनिषद् और ब्राह्मण भी ऐसे ही हैं। परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि इस काल का दोनो तरह का साहित्य उस समय के चरणों की धरोहर या संपत्ति समझी जाती थी। याज्ञवल्क्य आदि का अपने अपने ब्राह्मण से संबंध प्रवचन द्वारा ही था, न कि ग्रंथ-प्रणयन-द्वारा। 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मण-कल्पेषु' ॥४।३।१०१॥ इत्यादि सूत्रों में पाणिनि का भी यही अभिप्राय है। यही कारण है कि उक्त ब्राह्मणादि साहित्य के विषय में कोई ग्रंथ-कर्ता नही माना जाता। व्यक्ति-विशेष के साथ संबंध होने पर भी उस व्यक्ति को ग्रंथ-कर्ता न कह कर प्रोक्ता ही कहा जाता है। इसी कारण 'याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि'। आदि मे पाणिनि का 'कृते ग्रंथे' सूत्र नहीं लगता और प्रोक्तार्थक ही प्रत्यय होता है।

इस से यह सिद्ध है कि शुद्ध-प्रवचन-काल मे ग्रंथ-प्रणयन का प्रारंभ नहीं हुआ था।

चरणो, शाखाओं और परिषदों के काल मे ही दूसरा काल ऐसा आया जब कि प्रवचन और ग्रंथ-प्रणयन दोनों ही प्रकार साथ साथ प्रचलित थे। इस को हम मिश्रित काल कह सकते है। तो भी इस में संदेह नही कि प्रवचन का प्रकार धीरे धीरे लुप्त हो रहा था, और ग्रंथ-प्रणयन का प्रकार बढ़ रहा था। यह विचारणीय है कि प्राचीन कल्पसूत्रों मे (जैसे 'पैंगी कल्पः' यहाँ 'पिंगेन प्रोक्तः' यही अर्थ किया जाता है, न कि 'पिंगेन कृतः' यह अर्थ) और अन्य ग्रंथों मे भी ग्रंथकर्ता के नाम के साथ साथ रहने पर भी प्रोक्तार्थ मे ही प्रत्यय किया जाता है; 'कृते ग्रंथे' इस अर्थ मे नहीं। यह बात पिछले न्याय-सूत्र आदि के विषय में नहीं है। वे अपने ग्रंथकारों द्वारा 'प्रोक्त' नहीं, किंतु 'कृत' समझे जाते हैं। इस का कारण यही है कि ये ग्रंथ उस समय के बने हुए हैं जब चरणों आदि की परम्परा बहुत कुछ ढीली पड़ गई थी। चरणों, परिषदो के दिनों में, जिन की तुलना बहुत कुछ आधुनिक 'रेज़िडेंशल यूनिवर्सिटीज़' से

की जा सकती है, गुरु अपनी शिष्यमंडली के सामने, परंपरागत प्रणाली के अनुसार, विद्या-प्रवचन ही किया करते थे। और ग्रंथ-प्रणयन होता भी था तो स्वयं या शिष्यों के द्वारा गौण रीति से ही किया जाता था।

यहाँ प्रसंगवश एक और बात पर भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। शुद्ध-प्रवचन-काल के ब्राह्मणादि के लिये 'श्रुति' शब्द का प्रयोग किया जाता है, और उस के बाद के सूत्र-ग्रंथ 'स्मृति' समझे जाते हैं। इस भेद का कारण अनेक विद्वान और ही बतलाते हैं। पर हमारी सम्मति में तो इस का कारण स्पष्टतया यही है कि शुद्ध-प्रवचन-काल में लिखित ग्रंथों के न होने से ये श्रवण और प्रवचन की मौखिक परंपरा के द्वारा ही शिष्य-प्रशिष्यों में रक्षित थे। इसलिये इन को श्रुति नाम से ही स्मरण किया जाता है। प्राचीन साहित्य में इसी कारण 'इति अनुशुश्रुम' (=ऐसा सुनते हैं) बार बार आता है। लिखित ग्रंथों के न होने के कारण और केवल श्रवण की परंपरा से रक्षित होने से इस साहित्य में कितना अंश शब्दशः किस आचार्य का है, यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता था। इसीलिये इस साहित्य को हमारे धार्मिक ग्रंथों में 'अपौरुषेय' तक कहा है।

प्रवचन और ग्रंथ-प्रणयन के मिश्रित काल में जो कुछ सुना जाता था वह बाद को किसी लिखित आधार की सहायता से स्मरण किया जाता था। इसीलिये इस को 'श्रुति' न कह कर 'स्मृति' कहने लगे। लेख द्वारा प्रवचन-कर्ता के कथन ठीक ठीक सुरक्षित किए जा सकते हैं। इसलिये निःसंदेह उस को किसी व्यक्ति-विशेष के साथ संबद्ध कर सकते हैं। इसी कारण इस काल के ग्रंथ स्पष्टतया 'पौरुषेय' हैं।

ऐसा प्रतीत होता है, कि उक्त मिश्रित काल में भी, पुरानी परिपाटी के अनुसार ये ग्रंथ बहुत अंश तक परिषदों की ही संपत्ति समझे जाते थे। इस का अर्थ यह है कि आवश्यकता के अनुसार उक्त ग्रंथों में धीरे धीरे परिषदों के द्वारा परिवर्तन किये जा सकते थे।

इस समय के ग्रंथों में यह बात अक्सर देखने में आती है कि उन के मूल-रूप के साथ धीरे धीरे कुछ नया अंश भी बढ़ता रहा है ऋग्वेद-प्रातिशाख्य

वाजसनेयि प्रातिशाख्य आदि ग्रंथों में स्पष्टतया पीछे से बढ़ाये हुए अंश मौजूद हैं। धर्मसूत्रों में भी, कई के विषय में, विद्वानों की यही सम्मति है। कहीं कहीं यह बढ़ाया हुआ अंश प्राचीन मूल अंश से विरुद्ध भी दिखलाई देता है। कहीं कहीं भाव के भेद के साथ साथ शैली का भेद भी स्पष्ट है। इन कारणों से यह अतिरिक्त अंश स्पष्टतया मूल-ग्रंथ-कर्ता का तो हो नहीं सकता। ऐसी अवस्था में प्रश्न होता है कि, 'ऐसा क्यों कर हुआ ?'

हमारी समझ में इस का उत्तर यही है कि या तो भिन्न भिन्न चरणों की परिषदों के द्वारा या उस उस आचार्य की परिषदंतर्गत शिष्य-परंपरा के द्वारा ही उन ग्रंथों को समयानुकूल या संपूर्णांग बनाने के लिये अतिरिक्त अंश उन मे जोड़ दिये जाते थे।

इस का प्रारंभिक प्रकार यही रहा होगा कि या तो नई बात परिशिष्ट के तौर पर ग्रंथों में जोड़ दी गई हो और धीरे धीरे वह ग्रंथ का भाग ही समझ ली गई हो (निरुक्त आदि अनेक ग्रंथों में ऐसे परिशिष्ट पाये जाते हैं) या यह हो सकता है कि अतिरिक्त अंश टीका-टिप्पणी के तौर पर मूल-ग्रंथ के साथ लगा दिया गया हो, और धीरे धीरे वह ग्रंथ का भाग ही बन गया हो। उदाहरणार्थ, ऋग्वेदप्रातिशाख्य में ग्यारहवाँ पटल दशम पटल की विस्तृत व्याख्या जैसा ही है। स्पष्टतया वह पीछे से बढ़ाया गया है। इस ग्रंथ में तीसरे पटल का अंतिम श्लोक और दूसरे पटलों के कई श्लोक स्पष्टतया पीछे से जोड़े हुए हैं। अनेक टिप्पणियाँ किस प्रकार मूल-ग्रंथ मे संमिलित हो जाती हैं, इस का आधुनिक उदाहरण हस्तलिखित पोथियों में मिलता है। जिन को ऐसी पोथियों से काम पड़ा है वे जानते हैं कि एक पोथी के किनारे की (Marginal) टिप्पणियाँ दूसरी पोथी में किस प्रकार मूल मे संमिलित कर ली जाती हैं।

यह भी हो सकता है कि मूल-ग्रंथ समय समय पर परिषदों के द्वारा वस्तुतः प्रतिसंस्कृत या 'रिवाइज्ड' किये जाते थे। ये नवीन संस्करण परिषदों के द्वारा 'प्रकाशित' किये जाते थे। ऐसा होने पर भी इन नवीन परिवर्धित संस्करणों पर मूल ग्रंथ-कर्ता (या प्रोक्ता) का ही नाम रहता था। दूसरे शब्दों

में यदि हम परिषदों को उन दिनों की 'यूनिवर्सिटीज़' समझें तो इन संस्करणों को 'यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन्स' कह सकते हैं।

एक प्रतिसंस्कर्ता या संपादक चाहे परिषद् के रूप में, चाहे किसी एक शिष्य के रूप में, मूल-ग्रंथ में परिवर्तन करने में काफ़ी स्वतंत्रता से काम ले सकता था। इस का विशेष विचार हम आगे चलकर करेंगे। हमारे विचार में इस स्वतंत्रता से यहाँ तक काम लिया जाता था कि मूल-ग्रंथ के रूप को ही प्रतिसंस्कर्ता बिल्कुल बदल सकता था। अनेक शास्त्र-स्मृति आदि ग्रंथ जो प्रारंभ में सूत्र-रूप में गद्य में थे पीछे से पद्य में कर दिये गए। यह इस स्वतंत्रता का ही फल है। उस पर भी ये रूपांतरित ग्रंथ प्रायः मूल-ग्रंथ-कर्ता के ही नाम से प्रसिद्ध रहे।

मूल-लेखक के शब्दों के साथ प्रतिसंस्कर्ताओं की इतनी स्वतंत्रता की प्रवृत्ति कैसे चल पड़ी ? इस का कारण, हमारे विचार में, शुद्ध-प्रवचन-काल से ही मिल सकता है। हम कह चुके हैं कि उस समय आधुनिक 'लेक्चरों' के समान प्रवचन शब्दशः सुरक्षित नहीं किए जा सकते थे। उन के भाव की ही रक्षा हो सकती थी। यही प्रवृत्ति दूसरे मिश्रित काल में भी बनी रही। इसी परंपरागत प्रवृत्ति के कारण उक्त स्वतंत्रता मूल-ग्रंथ के साथ बाद को भी ली जाती रही।

ऐसा भी हो सकता है कि प्रोक्ता या प्रवचन-कर्ता के प्रवचनों को लेख-बद्ध, उसी समय या बाद को, उस के शिष्य करते रहे हों। जैसा ऊपर कहा है, बृहद्देवता आदि ग्रंथों में उन के प्रसिद्ध ग्रंथकारों के नाम और मत प्रमाणरूप से प्रथम-पुरुष और परोक्षभूत काल में उद्धृत किए हैं। यही नहीं बृहद्देवता में उस के ग्रंथकर्ता शौनक के शिष्य आश्वलायन का भी मत उद्धृत किया है (देखो बृहद्देवता, ४।१३९।) यही बात वेदांत-सूत्रों में भी पाई जाती है। इस असंगति का समाधान अनेक लोग अनेक तरह से करते हैं। उदाहरणार्थ, बोधायन धर्म-सूत्र में बोधायन के ही मत का उल्लेख देख कर उस का टीकाकार कहता है—

बोधायन संशब्दनाद् अस्य शिष्योऽस्य ग्रंथकर्तेति गम्यते।

अर्थात् 'बोधायन' शब्द के सुनने से जान पड़ता है कि इन का शिष्य इस का ग्रंथकर्ता है।

एक और टीकाकार ऐसे प्रसङ्ग में कहता है—

प्रायेण ग्रंथकाराः स्वमतं परापदेशेन ब्रुवते।

अर्थात् प्रायः ग्रंथकार अपना मत दूसरे के नाम से प्रकाशित करते है।

हम तो यही समझते हैं कि इस असंगति का भी समाधान वही है जो ग्रंथों में परिवर्तन और परिवृद्धि आदि का है। अर्थात् उन दिनों परिषदों के प्रभाव से ही, चाहे साक्षात् परिषद् के द्वारा, चाहे परिषदंतर्गत उस आचार्य के शिष्यों के द्वारा, मूल-ग्रंथ संस्कृत या प्रतिसंस्कृत होते थे। ऐसा मान लेने से उक्त असंगति का समाधान सरल रीति से हो जाता है।

ऊपर शाखा, चरण और परिषद् के विषय में बहुत कुछ कहा है। इस लिये यहाँ इन के स्वरूप और कर्तव्य आदि के विषय मे कुछ कहना आवश्यक है।

शाखा, चरण और परिषद्

ऊपर दिये हुए निरुक्त के वचन के अनुसार पहले ऋषियों ने मंत्रों का निर्माण किया और फिर उपदेश-द्वारा उन को दूसरों को सिखलाया। प्रारंभ में भिन्न भिन्न ऋषिकुलों में अपने पूर्वजों से प्राप्त मंत्रों की इसी प्रकार रक्षा की गई। कुछ काल के बाद समस्त मंत्रों को इकट्ठा कर के वैदिक-संहिता या-संहिताओं का रूप दिया गया। धीरे धीरे आर्यों के दैशिक विस्तार के कारण भिन्न भिन्न वैदिक 'शाखाओं' की उत्पत्ति हुई। देशभेद (और कालभेद) से मूल-संहिता में अनिवार्य रूप से होने वाला भेद ही शाखाभेद का कारण था। धीरे धीरे वैदिक संहिताओं के सहकारी ब्राह्मणादि साहित्य में भी वैसा ही भेद हो गया।

इन शाखाओं के अनुयायी 'चरण' कहलाते थे।

इन चरणों की विद्वत्सभाओं या विद्यासभाओं को ही 'परिषद्' समझना चाहिए।

मनुस्मृति में धर्मनिर्णयार्थ परिषदों का वर्णन इस प्रकार किया है—

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥
त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥
ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ १२ । ११० — ११२ ॥

अर्थात् 'दशावरा' परिषत् अथवा 'त्र्यवरा' परिषत् जिस धर्म की परिकल्पना करे उस धर्म से नहीं हटना चाहिए। त्रैविद्य, हेतुक, तर्की, नैरुक्त, धर्मपाठक, और प्रथम तीन आश्रम वाले यह मिलकर दशावरा परिषत् होती है । ऋग्वेदज्ञाता, यजुर्वेदज्ञाता, तथा सामवेदज्ञाता यह मिल कर त्र्यवरा परिषद् बनती है। यह परिषदें धर्म में उपस्थित होने वाले संशयों के निर्णय के लिये है।

ऊपर के श्लोकों से यह स्पष्ट है कि एक समय ऐसा था जब कि भारतवर्ष में परिषदों की परिपाटी थी। यह माना कि यहाँ केवल धर्मविषयक निर्णयों के लिये ही परिषद् का वर्णन है; परंतु अध्ययनाध्यापन की परंपरा में भी 'परिषद्' 'पार्षद' आदि शब्दों के पाये जाने से यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि जैसे दूसरे विषयों में सर्व-साधारण के हित के लिये सामूहिक प्रश्नों के निर्णयार्थ परिषद् होती थीं, इसी प्रकार विद्याविषयक निर्णयों के लिये भी विद्यापरिषद् होती थीं। उदाहरणार्थ, निरुक्त के 'पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि' (१।१७) इस वाक्य से, तथा ऐसे ही अनेक प्रमाणों से उस काल में चरणों से संबंध रखने वाली परिषदों की सिद्धि होती है।

चरणों के अनुयायियों या 'मेंबरों' का इन परिषदों के साथ घनिष्ट संबंध होता था। परिषद् का कर्तव्य था कि अपने अपने चरण से संबद्ध विद्यापरंपरा की पूर्णतया रक्षा करे और उस की उन्नति करे। अपने सभापति-स्थानीय आचार्य या किसी अन्य सभासद द्वारा प्रोक्त, प्रचारित विद्या या प्रणीत ग्रंथ की वह संरक्षिका होती थी। यही कारण प्रतीत होता है जिस से किसी अपने

सभासद के ग्रंथ को बढ़ाने का या परिवर्तित कर देने का पूर्ण अधिकार परिषद् को होता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि चरणों और शाखाओं की तरह सब परिषदें वैदिक पठन-पाठन-परंपरा से ही संबद्ध नहीं होती थीं। हमारा विचार है कि समस्त धार्मिक साहित्य—जैसे धर्मशास्त्र और पुराण की देख भाल भी कुछ विद्या या धर्म-परिषदें ही करती थीं। पुराणों में नैमिषारण्य आदि में ऋषियों की परिषदों[1] का वर्णन मिलता है। इन परिषदों का किसी वैदिक चरण या शाखा-विशेष से संबंध नहीं होता था। इसीलिये वैदिक चरणों आदि की परंपरा के ढीले पड़ जाने पर भी इन परिषदों द्वारा पुराणों आदि में रूपांतर या प्रतिसंस्करण किये गए। यदि इन प्रतिसंस्करणों में परिषदों का हाथ न होता तो इनको सर्व-मान्यता का पद प्राप्त होना अत्यंत कठिन था। पुराणों और धर्मशास्त्रों के समय समय पर ऐसे प्रतिसंस्करण होते रहे हैं, इस के अनेकानेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। हमारे विचार में मनुस्मृति आदि के वृद्ध-मनुस्मृति, बृहन्मनुस्मृति जैसे प्रतिसंस्करण या गद्यात्मक स्मृतियों के पद्यात्मक प्रतिसंस्करण ऐसी ही परिषदों के द्वारा किये गए होंगे। इसीलिये ऐसे प्रतिसंस्करणों के साथ किन्हीं व्यक्ति-विशेषों के नाम नहीं जुड़े हुए हैं।

कालक्रम से वैदिक चरणों से संबंध रखने वाली परिषदों का लोप होने लगा। इस समय संस्कृत साहित्य में एक प्रकार से वैज्ञानिक युग का प्रारंभ हुआ। वैदिक परिषदों के दिनों में उन के साहित्य का दायरा वेद की परिधि से संकुचित था। उस साहित्य का संबंध मुख्यतः वेद से था। दूसरे शब्दों में वेद-वेदांग ही उन के पठन-पाठन के विषय थे। परंतु अब विद्वान् लोगों की दृष्टि

---

[1] बौद्ध इतिहास में भी ऐसी परिषदों का वर्णन आता है। बौद्धों के 'तिपिटक' का संपादन ऐसी ही परिषद् के द्वारा हुआ था। यह उन की अपनी नई सूझ नहीं थी; किंतु परंपरागत भारतीय प्रथा का ही अनुकरण था। इन परिषदों में कैसे विचार होता था, इस का अच्छा उदाहरण चरकसंहिता, सूत्रस्थान, अध्याय २५ और २६ में मिलेगा

अतिव्यापक और विस्तृत होने लगी। जहाँ पहले प्रति-शाखाओं से संबंध रखने वाले 'प्रातिशाख्य' जैसे ग्रंथ लिखे जाते थे, वहाँ अब पाणिनीय व्याकरण जैसे वैज्ञानिक ग्रंथ लिखे जाने लगे। जहाँ प्रातिशाख्यों का संबंध वेद की शाखा-विशेषों से ही था, वहाँ पाणिनीय अष्टाध्यायी प्रधानतया वैदिक भाषा के लिये नहीं, किंतु लौकिक संस्कृत के लिये लिखी गई। पाणिनि की दृष्टि, हमारे विचार में, किसी भी परिषत्कालीन ग्रंथ से व्यापकतर है।

यह वस्तुतः 'शुद्ध-ग्रंथ-प्रणयन-काल' का प्रारंभ था। एक-स्थानीय परिषदों से संबंध रखने वाले चरणों के लिये विद्या-प्रवचन एक आवश्यक और महत्त्व की प्रथा थी। आस पास रहने वाले (अंतेवासी) शिष्यों के लिये आचार्य का प्रवचन ही पर्याप्त था। अब अतिव्यापक दृष्टि से लिखे गए ग्रंथों का क्षेत्र देश-व्यापी हो गया। इसी कारण प्रवचन से ग्रंथ-प्रणयन का महत्त्व कहीं अधिक होने लगा। और और कारणों के साथ बौद्ध आदि विरोधियों के संघट्ट से संकुचित वैदिक परिषदों के ह्रास में सहायता अवश्य मिली होगी। इसी कारण से शायद विद्वानों में वैज्ञानिक और व्यापकतर दृष्टि के पैदा करने में भी सहायता मिली होगी।

शुद्ध-ग्रंथ-प्रणयन प्रथा के चल पड़ने पर ग्रंथों पर ग्रंथ-कर्ताओं के नाम की मुहर लगने लगी। धर्म-शास्त्र और पुराणों को छोड़ कर जिन की देख भाल, हमारे विचार में, कदाचित् अब भी धर्म-परिषदों के हाथ में थी, अन्य ग्रंथों में इस समय के बाद प्राचीन परिषत्कालीन ग्रंथों की तरह परिवर्तन या प्रति-संस्करण की चाल उठ गई। इसीलिये इस समय के बाद के ग्रंथो मे अधिकतर परिवर्तन नहीं देखे जाते। यदि उन का प्रतिसंस्करण हुआ भी तो प्रतिसंस्कर्ता का नाम भी साथ में दिया जाने लगा। इस का उत्तम उदाहरण चरकसंहिता से मिलता है। अग्निवेश-द्वारा 'प्रोक्त' आयुर्वेद शास्त्र का संस्करण या प्रतिसंस्करण चरक ने किया। इस में पीछे से कुछ अंश दृढ़बल ने बढ़ाया। यह सब स्पष्टतया सिद्धिस्थान, अध्याय १२ मे लिखा मिलता है।

संस्कर्ता या प्रतिसंस्कर्ता

ऊपर अनेक स्थलों पर हम ने या का उल्लेख किया

है। इस का प्रकार क्या था, इस का बड़ा स्पष्ट वर्णन हम को चरकसंहिता के सिद्धिस्थान, अध्याय १२ में मिलता है। वह यह है—

इत्यध्यायशतं विंशमात्रेयमुनिवाङ्मयम्।
हितार्थं प्राणिनां प्रोक्तमग्निवेशेन धीमता ॥ ७४ ॥
विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यतिविस्तरम्।
संस्कर्ता कुरुते तंत्रं पुराणं च पुनर्नवम् ॥ ७६ ॥
अतस्तंत्रोत्तममिदं चरकेणातिबुद्धिना।
संस्कृत............................ ॥ ७७ ॥

अर्थात्—आत्रेय महर्षि-द्वारा प्राप्त इस एक सौ बीस अध्याय वाले वाङ्मय को प्राणियों के हित के लिये बुद्धिमान् अग्निवेश ने सूत्र रूप से ग्रंथवद्ध कर के शिष्यों को पढ़ाया। इस उत्तम तंत्र का संस्करण (या प्रतिसंस्करण) अति बुद्धिमान् चरक ने किया। संस्कर्ता (या प्रतिसंस्कर्ता) का काम यही होता है कि वह संक्षेप से कही हुई बात को विस्तार कर के समझा दे, और अति विस्तृत अंश को संक्षिप्त कर दे। इस प्रकार संस्कर्ता एक पुराने ग्रंथ को पुनः नवीन कर देता है।

चरक के स्थानों के अंत में यह शब्द आते हैं—

अग्निवेशकृते तंत्रे चरकप्रतिसंस्कृते।

अर्थात् अग्निवेश इस शास्त्र के बनाने वाले हैं और चरक प्रतिसंस्कर्ता है।

इसी ग्रंथ के सूत्र-स्थान के प्रथम अध्याय में इस ग्रंथ का अग्निवेश तक का भी इतिहास दिया है। इस प्रसंग मे उस को भी देना उचित प्रतीत होता है। इंद्र ने भरद्वाज महर्षि को आयुर्वेद पढ़ाया। भरद्वाज ने अन्य ऋषियों को पढ़ाया। तब

अथ मैत्रीपरः पुण्यमायुर्वेदं पुनर्वसुः।
शिष्येभ्यो दत्तवान् षड्भ्यः सर्वभूतानुकंपया ॥ २८ ॥
अग्निवेशश्च भेलश्च जतूकर्णः पराशरः।
हारीतः क्षारपाणिश्च जगृहुस्तं मुनेर्वचः ॥ २९ ॥

बुद्धेर्विशेषस्तत्रासीन्नोपदेशांतरं मुनेः ।
तंत्रप्रणेता प्रथममग्निवेशो यतोऽभवत् ॥ २० ॥
अथ भेलादयश्चक्रुः स्वं स्वं तंत्रं कृतानि च ।
श्रावयामासुरात्रेयं सर्षिसंघं सुमेधसः ॥ २१ ॥
श्रुत्वा सूत्रणमर्थानामृषयः पुण्यकर्मणाम् ।
यथावत्सूत्रितमिति प्रहृष्टास्तेऽनुमेनिरे ॥ २२ ॥

अर्थात् तब मैत्री रखने वाले पुनर्वसु (ऋषि) ने सब जीवों पर कृपा के कारण अपने छः शिष्यों को पढ़ाया। मुनि के वचन को अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि ने ग्रहण किया। उपदेश के अनंतर बुद्धि मे मुनि मे और अग्निवेश मे विशेष अंतर नहीं था, इसलिये प्रथम अग्निवेश तंत्र के प्रणेता हुए। उस के उपरांत भेल आदि ने भी अपने अपने तंत्र बनाए और बनाकर उन मेधावियों ने ऋषि समाज में उन्हें स्थित आत्रेय को सुनाया। उन पुण्य कर्म करने वालों के अर्थ के सूत्रण को सुन कर प्रसन्न हो कर ऋषियो ने कहा कि ठीक ठीक सूचित किया गया है और अनुमति भी दी।

इस से स्पष्ट है कि पहले कई पीढ़ियो तक प्रवचन-द्वारा ही इस शास्त्र की परंपरा चलती रही। पीछे से इसे अग्निवेश आदि ने ग्रंथवद्ध किया। इस समय ऋषियों की परिषद् को सुना कर इस का अनुमोदन कराया गया। कालांतर मे इसी पुराने शास्त्र को प्रतिसंस्करण-द्वारा चरक ने पुनः नया कर दिया। इस की भी पूर्ति चिरकाल के बाद दृढ़बल ने की यह हम ऊपर कह चुके है।

इसी तरह के प्रतिसंस्करण या 'रिवीजन' के अनेक उदाहरण संस्कृत साहित्य से दिये जा सकते हैं। एक उदाहरण ऋग्वेद-प्रातिशाख्य की एक टीका से मिलता है। विष्णुमित्र अपनी वृत्ति (जो समाप्त न हो सकी) के आरम्भ में कहता है—

लेख्यदोषनिवृत्त्यर्थं विस्तरार्थं क्वचित् क्वचित् ।
ज्ञातार्थपाठनार्थं च योज्यते सा मया पुनः ॥ ३ ॥

अर्थात् लिखने की भूलों को मिटाने, कहीं कहीं विस्तार के लिये और ज्ञात अर्थ के पढ़ाने के लिये (जहाँ तहाँ) मैं ने ठीक किया है

प्रतिसंस्करण के विषय में जो कुछ ऊपर कहा है उस को यदि हम आजकल की प्रक्रिया से तुलना करें तो यही कहना होगा कि जहाँ आज कल एक संपादक किसी प्राचीन (या नवीन) ग्रंथ का संपादन करते हुए अनेक टिप्पणी या फुटनोट आदि से उसे पूर्णांग कर देता है और साथ ही उस ग्रंथ के मूल-स्वरूप की रक्षा करता है, अपने नोटों को उस मे नहीं मिला देता, वहाँ प्राचीन समय में एक संस्कर्ता अपने नोटों को मूल-ग्रंथ मे ही मिला देता था। साथ ही उस के संपादन में और भी अधिक स्वतंत्रता से काम लेता था।

उपसंहार

संस्कृत साहित्य की कुछ समस्याओं का समाधान करते हुए ऊपर हम ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि संस्कृत साहित्य में ग्रंथ-निर्माण-काल कब से प्रारंभ होता है। ग्रंथ-निर्माण में भी प्रोक्ता, ग्रंथकर्ता, संस्कर्ता आदि के भेद को समझ लेने से तथा एतद्विषयक आधुनिक पद्धतियों के साथ प्राचीन प्रथा की तुलना करने से अनेक कठिनताओं का सरलतया समाधान हो जाता है। संस्कृत-साहित्य के क्रमिक इतिहास को लिखने वाले के लिये इन बातों को समझने की कितनी उपयोगिता है, इस के कहने की जरूरत नहीं।

इसी संबंध में और भी अनेक उपयोगी विचार उठते हैं। उदाहरणार्थ, संहिता-कार, ग्रंथ-प्रचार के प्राचीन काल में कुछ विचित्र उपाय, ग्रंथ-निर्माण में चोरी, ग्रंथ-निर्माण और सांप्रदायिकता, खिल और प्रक्षेप, ग्रंथों में प्राचीन ग्रंथों के उद्धरण। इन पर विचार उपयोगी होने के साथ साथ मनोरंजक भी होता। परंतु यहाँ पर उन के लिये स्थान नहीं है।

गोरखनाथ का समय

[लेखक—डाक्टर हरिरामचन्द्र दिवेकर, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)]

उपलब्ध हिंदी साहित्य में गद्य लिखने का पहला मान महात्मा गोरखनाथ को दिया जाता है। 'पराधीन उपरांति बंधन नाहि, सु आधीन उपरांति मुकुति नाहिं' का हिंदी लोगों को हिंदी भाषा में प्रथम पाठ पढ़ाने वाले इस महात्मा के समय के विषय मे हिंदी साहित्य लेखकों में एक मत नहीं है। मिश्र-बंधुओं के मत से[1] "महात्मा गोरखनाथ का रचना-काल वि० सं० १४०७ से आरंभ होता है।" इस का कारण आप ने यह दिया है कि[2] "खोज मे इन का समय संवत् १४०७ लिखा है।" हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने वाले श्री रामचंद्र जी शुक्ल की धारणा यह है कि "ये सब ग्रंथ स्वयं गोरखनाथ जी के लिखे नहीं है।"[3] आप को "उन का समय १४०० से और पहले समझ पड़ता है।"[4] श्री रमाशंकर जी ने अपने हिंदी साहित्य के संक्षिप्त इतिहास मे लिखा है कि "चौदहवीं शताब्दी के मध्य में बाबा गोरखनाथ हुए।"[5] पर इन मे से कोई भी गोरखनाथ के समय के विषय में कुछ निश्चित प्रमाण नही देते। इस छोटे से लेख में यह दिखलाना है कि बाबा गोरखनाथ जी का समय इस से भी प्राचीन है।

यह तो सुप्रसिद्ध ही है कि महात्मा गोरखनाथ गुरु मछंदरनाथ के चेले

---

[1] 'मिश्रबंधु विनोद', द्वितीय संस्करण पृ० ९५।

[2] वही, पृ० २१०।

[3] 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ० ४७८।

[4] वही, पृ० ४७९।

[5] 'हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास', पृ० ३०।
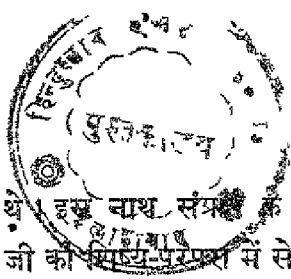
थे। इस नाथ संप्रदाय के आद्य प्रवर्तक गुरु मछंदरनाथ ही थे। गोरखनाथ जी की शिष्य-परंपरा में से किसी के भी हिंदी साहित्य में सर्वप्रसिद्ध नाम नहीं मिला है। परंतु मराठी भाषा के प्राचीन भगवद्भक्त कवि श्रीज्ञानदेव जी, महात्मा गोरखनाथ जी की शिष्य परंपरा में थे। श्रीज्ञानेश्वर जी ने हिंदी कविता को भी थोड़ा बहुत अपनाया था।[1] आप की बहिन मुक्ताबाई मराठी में ही नहीं परंतु हिंदी में भी कविता करने वाली प्रथम स्त्री कवि थीं।[2] श्रीज्ञानेश्वर जी का प्रसिद्ध ग्रंथ 'भावार्थ दीपिका' है। श्रीमद्भगवद्गीता की यह आद्य मराठी टीका है। मराठी भाषा में यह ग्रंथ 'ज्ञानेश्वरी' नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ के अंत में श्रीज्ञानेश्वर जी महाराज अपनी गुरु-परंपरा नीचे लिखे अनुसार देते है। "क्षीर समुद्र के पर तीर पर देवी पार्वती जी के कानों मे जिस ज्ञान का उपदेश श्रीशंकर जी ने किया वह उस समय क्षीर समुद्र में रहने वाले एक मत्स्य के पेट में गुप्त रूप से वास करने वाले मछंदरनाथ को प्राप्त हुआ। इन्ही के संचार में सप्तशृंग पर्वत पर हाथ पैर टूटे हुए चौरंगीनाथ मछंदरनाथ जी के दर्शन से चंगे हो गए। विषयोपभोग का जहाँ गंध भी नहीं पहुँच सकता ऐसी अविचल समाधि लगाने की योगविद्या श्रीमछंदरनाथ जी ने गुरु गोरखनाथ को दी। इस प्रकार गोरखनाथ जी योग कमलिनी सर तथा विषय विध्वंसक एक वीर बन कर योगीश्वर पद पर अभिषिक्त हुए। श्रीशिव जी से प्राप्त अद्वय आनंद देने वाला यह ज्ञान गुरु गोरखनाथ जी के पास से श्रीगैनीनाथ जी ने पूर्णतया संपादन किया। फिर कलिकाल से ग्रस्त लोगों को देख कर गुरु गैनीनाथ जी ने श्रीनिवृत्तिनाथ जी को आज्ञा दी कि 'श्रीशिव जी से ले कर शिष्य परंपरा प्राप्त जो ज्ञान मेरे पास है उसे ले कर इन कलित्रस्त लोगों को दुःख-मुक्त करो।' गुरु निवृत्तिनाथ पहले ही दयालु, उस पर श्रीगुरु जी की आज्ञा। फिर तो ज्ञान दान के लिये आप ऐसे आतुर हो उठे जैसे कि वर्षा काल आते ही वृष्टि करने के लिये अत्यंत उत्सुक मेघ। इन्हीं कलि-पीड़ित लोगों का दुख

---

[1] 'मिश्रबंधु विनोद', पृ० ९५।

[2] हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० २८।

दूर करने के हेतु गीतार्थ के मिष से आप ने ब्रह्म रस की जो वर्षा की वही इस ग्रंथ के रूप से मेरे द्वारा प्रकट हुई है।"[1] इस पर से श्रीज्ञानेश्वर की गुरु-परंपरा यों दी जा सकती है—

आदिनाथ-श्रीशिव
|
मछंदरनाथ
|
गोरखनाथ
|
गैनीनाथ
|
निवृत्तिनाथ
|
ज्ञानेश्वर

श्रीज्ञानेश्वर जी में योग और भक्ति दोनों का बड़ा सुरस संयोग था। महाराष्ट्र में योग की अपेक्षा भक्ति का ही बीज अधिक फैला और महाराष्ट्रीय भक्ति मार्ग के ज्ञानेश्वर जी आद्य प्रवर्तक माने गए। इस गुरु-परंपरा से यह स्पष्टतया जान पड़ता है कि ज्ञानेश्वर जी के गुरु निवृत्तिनाथ, परम गुरु गैनीनाथ, परमेष्ठी गुरु गोरखनाथ और परात्पर गुरु मछंदरनाथ थे। अर्थात् गोरखनाथ जी का काल ज्ञानेश्वर के पूर्व कम से कम पचास साल तो होना ही चाहिए।

अब श्री ज्ञानेश्वर जी के समय का विचार करें। श्री ज्ञानेश्वरी के अंत मे आप कहते हैं—"इस कलिकाल में महाराष्ट्र देश के भीतर गोदावरी के दक्षिण तीर पर त्रिभुवन मे पवित्र जो पंचक्रोशी का क्षेत्र है और जहाँ पर इस संसार का जीवन सूत्र श्री महालया निवास करती हैं, वहाँ पर यादव वंश विलास, सकल कला निवास श्री रामचंद्र राजा के न्याय शासन काल में श्री शिव परंपरागत श्री निवृत्तिनाथ शिष्य श्री ज्ञानेश्वर ने गीता को देशी भाषा का अलंकार चढ़ाया।"[2] गोदावरी के दक्षिण तीर पर देवगिरि नगर में यादव वंश राज्य करता

---

[1] श्रीज्ञानेश्वरी अध्याय १८, ओंवी १७५०—६१।

[2] वही, १८०१ १८०५

था और इस का अंतिम राजा रामचंद्र सन् १२९४ अर्थात् वि० सं० १३५० में अलाउद्दीन के आधीन हुआ।[१] श्री ज्ञानेश्वरी का रचना काल इस के पूर्व अवश्य ही होना चाहिए। श्री ज्ञानेश्वरी के लेखक सच्चिदानंद बाबा ने ग्रंथ पूर्ण लिख डालने के बाद स्पष्टतया कहा है कि "शकवर्ष १२१२ मे ज्ञानेश्वर ने टीका की और सच्चिदानंद बाबा ने उसे आदरपूर्वक लिखा।"[२] इस पर से श्री ज्ञानेश्वर तथा मुक्ताबाई दोनों का समय विक्रम संवत् १३४७ के लगभग ही मानना पड़ेगा। पर समझ मे नहीं आता कि श्री रमाशंकर जी ने किस आधार पर मुक्ताबाई को तेरहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में रखा है।[३] 'मिश्रबंधु विनोद' में इन दोनों भाई-बहनों का समय १३५० वि० सं० के लगभग ठीक बतलाया है[४]। श्री ज्ञानेश्वर का जन्म शकवर्ष ११९७ मे और मृत्यु शक वर्ष १२१८ अर्थात् वि० सं० १३५३ में हुई[५]। अर्थात् ज्ञानेश्वर का मध्य-समय १३४२ मानना चाहिए और गोरखनाथ का इस के पूर्व पचास वर्ष अथवा तेरहवीं सदी का बिलकुल अंतिम भाग या चौदहवीं सदी का ठीक प्रारंभिक भाग मानना चाहिए।

लेख को समाप्त करते करते और भी एक प्रमाण देना अनुचित न होगा। महाराष्ट्र में हिंदी भाषा का प्रचार साधु संतों के ही द्वारा हुआ और इन में नाथपंथी साधुओं की ही संख्या अधिक थी। नाथपंथी लोगों की प्राचीन कविता मे मराठी-हिंदी-मिश्रित कविता पाई जाती है। महाराष्ट्र में गोरखनाथ जी के नाम से जो पद प्रसिद्ध हैं उन में मराठी हिंदी का मिश्रण पाया जाता है। 'कैसे बोलो पंडितो', 'भीतर कई भीजे', 'कोई न बूझत अंधा' इत्यादि वाक्य मराठी

---

[१] विंसेंट स्मिथ, 'एंशंट हिस्ट्री अव् इंडिया', पृष्ठ ४२५।

[२] श्रीज्ञानेश्वरी, अ० १८ अंतिम ओवी, १८१०।

[३] 'हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास', पृ० २८।

[४] पृ० ९५।

[५] 'महाराष्ट्र सारस्वत', पृ० ४२, ५२।

वाक्यों के साथ संबद्ध हैं।[1] दक्षिण भारत के दामोदर पंडित के मराठी-हिंदी-मिश्रित 'वत्सहरण' ग्रंथ का काल भी १३२५ वि० सं० के लगभग है।[2] बहुत संभव है कि हिंदी पूर्णतया समझने के पहले जो कुछ छोटेमोटे हिंदी वाक्य गोरखनाथ ऐसे प्रसिद्ध साधुओं के मुख से लोग सुन लेते थे उन्हीं का प्रयोग उस जमाने की कविता में पाया जाता था। इस मराठी हिंदी रचना काल के पूर्व बाबा गोरखनाथ को मानना चाहिए। इस पर से भी यही अनुमान युक्तिसंगत जान पड़ता है कि गोरखनाथ जी का समय तेरहवी शताब्दी के अंत में या चौदहवीं के प्रारंभ मे ही मानना चाहिए।

---

[1] वही 'महाराष्ट्र सारस्वत', पृ० ४०।

[2] 'मिश्रबंधु विनोद' पृ० ९४।

गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं का कालक्रम

[लेखक—श्रीयुत माताप्रसाद गुप्त, बी० ए०]

प्राक्कथन

गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं का पठन-पाठन इस समय हिंदी-साहित्य के अध्ययन का एक सर्वप्रधान अंग हो रहा है। इधर लगभग चार दशाब्दियों से इन के विषय में विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है किंतु आज से छः वर्ष पूर्व तक इन पर सविस्तर विचार प्रस्तुत करने वाले चार प्रमुख ग्रंथ थे—

(क) नोट्स आन् तुलसीदास[1]

(ख) श्री गोस्वामी तुलसीदास जी[2]

(ग) हिंदी नवरत्न[3] तथा

(घ) तुलसी-ग्रंथावली[4]

इन में से प्रत्येक में गोस्वामी जी की रचनाओं का अलग अलग नामोल्लेख कर सभी के विषय में कुछ न कुछ लिखा गया है फिर भी वह परिचयात्मक ढंग का ही है, और इस शैली के विवेचन की एक सब से बड़ी त्रुटि यह है कि उस से कवि की प्रतिभा की प्रगति का यथार्थ बोध नहीं होता। यह तो तभी

---

[1] 'इंडियन एंटीक्वेरी', १८९३ ई०, पुस्तकाकार १९२१ ई०; सर जार्ज ग्रियर्सन रचित।

[2] लाला शिवनंदन सहाय रचित, १९१६ ई० में प्रकाशित।

[3] मिश्रबंधु रचित, प्रस्तुत संस्करण, १९८५ वि०।

[4] संपादक पं० रामचंद्र शुक्ल, ला० भगवानदीन तथा बा० ब्रजरत्नदास, १९८० वि०।

संभव है जब हम उस की समस्त कृतियों का रचना-क्रम निर्धारित कर लें और तदनंतर उन पर समष्टि रूप से विचार करें।

छः वर्ष हुए नवलकिशोर प्रेस ने 'मानस' के एक संस्करण के साथ किन्हीं वेणीमाधवदास का लिखा हुआ 'मूल गोसाईंचरित'[1] नामक ग्रंथ प्रकाशित किया। संक्षेप में गोस्वामी जी का जीवनवृत्त देते हुए उन्हों ने उक्त ग्रंथ में गोस्वामी जी की रचनाओं का भी यत्र तत्र निर्देश कर दिया है और साथ ही दो एक को छोड़ उन सब के निर्माण की तिथि का भी उल्लेख किया है। लगभग एक मास हुए बाबू श्यामसुंदरदास ने हिंदुस्तानी एकेडमी से 'गोस्वामी तुलसीदास'[2] नामक एक ग्रंथ प्रकाशित किया है और उस में उन्हों ने 'मूल गोसाईंचरित' में दी हुई लगभग कुल रचना-तिथियों को शुद्ध मानते हुए गोस्वामी जी की कृतियों पर अलग अलग संक्षेप में विचार किया है।

फिर भी, प्रस्तुत निबंध के उपस्थित करने का कारण न केवल इतना है कि इन विवेचनों से गोस्वामी जी की प्रतिभा की प्रगति पर स्पष्ट प्रकाश नहीं पड़ता वरन् उस के मूल में रचनाओं का जो क्रम है उस से भी मुझे संतोष नहीं होता।

अन्य विवेचकों ने रचनाओं का काल-क्रम क्या कुल रचनाओं का काल भी निर्धारित करने का प्रयत्न नहीं किया है। केवल बाबू श्यामसुंदरदास ने यह उद्योग किया है, किंतु वह मूलतः 'मूल गोसाईंचरित' के आधार पर है—जहाँ दो एक स्थलों पर भेद रखता है, उस पर यथास्थान विचार किया जाएगा। यहाँ हम संक्षेप में 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार रचनाओं के कालक्रम पर विचार करेंगे। वह इस प्रकार है—

गीतावली कृष्णगीतावली	सं० १६१६ से १६२८ तक
रामचरितमानस	सं० १६३१ से १६३३ तक

---

[1] नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से, १९२५ ई० में प्रकाशित।

[2] हिंदुस्तानी एकेडेमी से १९३१ ई० में प्रकाशित

विनयपत्रिका	सं० १६३९
दोहावली	सं० १६४०
सतसई	सं० १६४२
बरवै	सं० १६६९
नहछू	" "
जानकीमंगल	" "
पार्वतीमंगल	" "
बाहुक	" "
वैराग्य संदीपिनी	" "
रामाज्ञा	" "

विभिन्न ग्रंथों के रचनाकाल के विषय में जो संदेह उपर्युक्त तालिका के देखने से होता है उस का उल्लेख इसी निबंध में आगे यथा-स्थान होगा प्रत्येक ग्रंथ के अलग अलग काल-निर्णय के समय पर भी उन शंकाओं के उल्लेख से पुनरावृत्ति अनिवार्य होगी। अतः उपर्युक्त समस्तक्रम के विषय में अभी हम दो एक मोटी शंकायें ही उपस्थित करेंगे।

(क) 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार गोस्वामी जी का कविता-काल सं० १६१६ से प्रारंभ होता है और उस का अंत १६६९ में हो जाता है। इस प्रकार वह कुल ५३ वर्ष का होता है। किन्तु बीच मे १६४२ से १६६९ तक अर्थात् २७ वर्ष क्या गोस्वामी जी की सरस्वती मूक थी? इसी प्रकार पुनः क्या १६६९ के पश्चात् मृत्यु पर्यंत उन्हों ने कवि-कर्म एक दम छोड़ दिया था?

(ख) उन की सभी प्रौढ़ रचनायें, अकेले 'बाहुक' को छोड़ कर 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार १६४२ तक अर्थात् कविता-काल के पूर्वार्द्ध में ही लिखी जा चुकी थी, और सभी अप्रौढ़ रचनायें जो उन के आगे बाल-प्रयास सी लगती हैं उत्तरार्द्ध में लिखी गईं—क्या यह भी विश्वास-योग्य है?

(ग) 'नहछू' तथा 'जानकीमंगल' 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार ११५ वर्ष की अवस्था में लिखी गईं। इतने बड़े महात्मा ने—जैसे गोस्वामी जी थे—इतनी जर्जर अवस्था में भी ऐसी श्रृंगारपूर्ण रचनाओं का निर्माण

किया होगा, क्या इसे मान लेने में विशेष संकोच न होना चाहिये ? और,

(घ) 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार ११५ वर्ष की अवस्था होने पर सं० १६६९–७० में, और २७ वर्ष तक मौन धारण किए रहने के उपरांत, केवल १ वर्ष और ढाई मास[1] से अधिक मे नहीं, सात ग्रंथों की रचना क्या गोस्वामी जी ने की होगी ?

---

[1] 'मूल गोसाईंचरित' में १६६९–७० का जो कार्य-विवरण दिया हुआ है वह सुविधा के लिये नीचे दिया जाता है—

सोरह सै उनहत्तरो, माधव सित तिथि धीर ।
पूरन आयू पाइ कै, टोडर तजे सरीर ॥ ८७ ॥
पाँच मास बीते परे, तेरस सुदी कुआर ।
युग सुत टोडर बीच मुनि, बाँटि दिये घर बार ॥ ८९ ॥
नखशिख कर्ता आशुकवि, भीषम सिँह कलगोय ।
आयो मुनि दर्शन कियो, त्यागेउ तनु हरि जोय ॥ ९० ॥
गंग कहेउ हाथी कवन, माला जपेउ सुजान ।
कठमलिया बंचक भगत, कहि सो गयो रिसान ॥ ९१ ॥
क्षमा किये नहिं शाप दिय, रँगे शांतिरस रंग ।
मारग में हाथी कियो, झपटि गंग तनु भंग ॥ ९२ ॥
कवि रहीम बरवै रचै, पठये मुनिवर पास ।
लखि तेइ सुंदर छंद में, रचना कियेउ प्रकास ॥ ९३ ॥
मिथिला में रचना किए, नहछू मंगल दोय ।
पुनि प्राचे मंत्रित किए, सुख पावें सब कोय ॥ ९४ ॥
बाहु पीर व्याकुल भये, बाहुक रचे सुधीर ।
पुनि विराग संदीपनी, रामाज्ञा सकुनीर ॥ ९५ ॥
पूर्व रचित लघु ग्रंथ भनि, दुहराये मुनि धीर ।
लिखवाये सब आन ते, भो अति खीन सरीर ॥ ९६ ॥

जो क्रम मैं निर्धारित कर सका हूँ वह इस प्रकार है—

रामललानहछू	सं० १६१२	के लगभग
जानकीमंगल	सं० १६२०	"
रामाज्ञा	सं० १६२४	"
वैराग्यसंदीपिनी	सं० १६२६	"

जहाँगीर आयो तहाँ, सत्तर संवत बीस।
धन धरती दीबो चहै, गहै न गुन विपरीत ॥ १७ ॥

ं—

ार सुदी १३ सं० १६६९ में टोडर के लड़कों के बीच गोस्वामी जी ने
टवारा किया।

ीषम सिंह तथा गंग से भेंट की।

वै की रचना की।

मिथिला की यात्रा की।

हछू', 'जानकी मंगल' और 'पार्वती मंगल' की रचना की।

हु-पीड़ा और 'बाहुक' की रचना की।

ैराग्य संदीपिनी' और 'रामाज्ञा' का निर्माण किया।

ं-रचित लघु ग्रंथों को दुहराया।

न्हें दूसरों से लिखवाया।

हाँगीर १६७० बीतने पर आया।

हाँगीर का आना १६७१ के चैत्र शुक्ल से माना जाए तो बँटवारे के पश्चात्
१ वर्ष ६ मास होते हैं। इस में से १५ दिन भीषम सिंह और गंग से
मास मिथिला यात्रा के लिये, १५ दिन 'बाहुक' रचना से पूर्व पीड़ा के
ंथों को दुहराने के लिये और १ मास भी दूसरों से उन्हें लिखवाने के
ए जायें तो सात ग्रंथों के प्रणयन के लिये शेष समय केवल १ वर्ष २
है। यदि कहीं से खींच खाँच कर यह समय बढ़ाया भी जा सके तो
१ से अधिक नहीं हो सकता।

मध्य	रामचरितमानस	सं० १६३१	
	सतसई	सं० १६४२	
	पार्वतीमंगल	सं० १६४४	
	गीतावली	सं० १६४८	के लगभग
	कृष्णगीतावली	सं० १६५०	”
उत्तर	विनयपत्रिका	सं० १६६०	”
	बरवै	सं० १६६४	”
	दोहावली	सं० १६८०	”
	बाहुक	सं० ”	”
	कवितावली	सं० ”	”

ऊपर जो तिथियाँ दी हुई हैं वे नितांत निश्चित नहीं हैं—अर्थात् उन के देने का अभिप्राय यह नहीं है कि वे निश्चय ही विभिन्न ग्रंथों की रचना-तिथियाँ हैं वरन् वे सब से अधिक संभव तिथियाँ हैं—उन में से केवल 'मानस', 'सतसई' तथा 'पार्वतीमंगल' की तिथियाँ ही नितांत निश्चित हैं। संभव है पर्याप्त और स्पष्ट साक्ष्य प्राप्त होने पर भविष्य में ऐसी सुनिश्चित तिथियों का निर्देश किया जा सके। फिर भी, मेरी ऐसी धारणा है कि उन में और ऊपर दी हुई तिथियों मे दो तीन वर्षों का अंतर ही अधिक से अधिक हो सकेगा। किंतु, जो अधिक ध्यान देने योग्य बात है वह है ऊपर उपस्थित किया हुआ क्रम। तिथियो मे चाहे अंतर पड़े भी किंतु उपर्युक्त क्रम में अंतर पड़ने की न्यूनातिन्यून संभावना है—कारण यह कि इस की नींव सुदृढ़ अंतर्साक्ष्य पर स्थित है।

ऊपर दिये हुए क्रम मे संभव है शंकाये बहुत सी उपस्थित की जा सकें, किंतु एक साधारण शंका यह हो सकती है कि सं० १६६४ के लगभग से १६८० तक के समय में कवि ने क्या किया। पहिला समाधान तो यह है कि कवि अब एक वयोवृद्ध था। वह अपनी समस्त सुंदर कृतियों को सहृदय-समाज में सम्मानित देख कर संतुष्ट था और अब उस की यह धारणा थी कि वह अपने जीवन का उद्देश्य भली भाँति पूरा कर चुका है और आत्मा का दिव्य-संदेश पूर्ण-रूप से सब तक पहुँचा चुका है; अतएव, वह उस का विश्राम-काल था।

किंतु, क्या उस ने कवि-कर्म त्याग दिया था ? नहीं। 'कवितावली' के अधिकांश की स्फुट-रचना इसी काल की है। और यद्यपि 'दोहावली' के अधिकतर दोहों की रचना इस समय से पूर्व की माननी चाहिए फिर भी उस के एक पर्याप्त अंश की रचना इसी काल की है यह निस्संदेह है। बाहुपीड़ा होने पर तो कवि ने अपनी महाकवि की प्रतिभा का परिचय 'बाहुक' की रचना कर भली भाँति दिया है—दारुण यंत्रणा का जैसा यथातथ्य चित्र 'बाहुक' उपस्थित करता है उस के लिये अलौकिक क्षमता अपेक्षित थी। किंतु इन नवीन रचनाओं के अतिरिक्त अधिक आवश्यक था अपने पूर्व-रचित ग्रंथों को दुहराना—क्योंकि वह महामुनि अब अंतिम प्रयाण की तैयारी करने लगा था। 'विनयपत्रिका' के विषय में तो यह निश्चित ही है कि वह १६६६ के पीछे दुहराई गई होगी, अन्य ग्रंथों के विषय में भी यह अनुमान किया जा सकता है। इस के अतिरिक्त काशी में इस समय घोर उपद्रव मचा हुआ था, अतएव ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उस से अधिक की एक वयोवृद्ध से आशा करना निरर्थक होगा।

प्राक्कथन समाप्त करने के पूर्व दो शब्द और मुझे कहने हैं। पहिला यह कि प्रस्तुत निबंध में गोस्वामी जी की रचनाओं का कालक्रम और प्रतिभा की प्रगति दोनों को संमिलित करते हुए भी प्रथम विषय को यथासंभव अधिक स्पष्ट करने का लक्ष्य रखा गया है और यद्यपि दूसरे पर भी एक व्यापक दृष्टि डाली जाएगी किंतु वह संक्षेप में होगी क्योंकि प्रगति की एक अटूट धारणा निर्मित करने में विस्तार कदाचित् बाधक हो सकता है। दूसरे, रचनाओं का काल निर्धारित करते समय उन की प्रामाणिकता पर भी विचार किया गया है—यह तो आवश्यक था ही किंतु यह विचार प्रत्येक के अंत में इसलिये किया गया है कि जिन साक्ष्यों का प्रयोग तिथि के निर्धारण में किया गया है उन की पुनरावृत्ति न करनी पड़े; और क्योंकि तिथि का निर्धारण अधिक स्पष्ट होना चाहिए इसलिये दूसरी बार रचनाओं की प्रामाणिकता पर विचार करते हुए उन साक्ष्यों की ओर जो पहिले आ चुके हैं संकेत मात्र कर दिया गया है।

रामललानहछू

'रामललानहछू' के विषय में अभी तक विद्वानों के दो मत हैं—

क) 'नहछू' यज्ञोपवीत के अवसर का है और अयोध्या में हुआ,
(ख) 'नहछू' विवाह के अवसर का है और मिथिला में हुआ।

किंतु ये दोनों ही मत भ्रांति-पूर्ण हैं। तथ्य यह है कि रामलला
विवाह के अवसर का है और अयोध्या में हुआ। 'रामललानहछू'
लिये स्पष्ट 'दूलह' तथा 'वर' शब्दों का प्रयोग हुआ है—

गोद लिए कौसल्या बैठी रामहि बर हो।
सोभित दूलह राम सीस पर आँचर हो॥ ९॥
आनँद हिय न समाइ देखि रामहिं बर हो॥१०॥
दूलह के महतारि देखि मन हरषइ हो॥१२॥

इस के अतिरिक्त उक्त ग्रंथ में वर्णित लोकाचार भी विवाह का ही है

बनि बनि आवत नारि जानि गृह मायन हो॥ ५॥
दरजिनि गोरे गात लिहे कर जोरा हो॥ ६॥
मोचिनि बदन सकोचिनि हीरा माँगनि हो।
पनहि लिहे कर सोभित सुंदर आँगन हो॥
बलिया क सुघर मलिनिया सुंदर गातहि हो।
कनक रतन मनि मौर लिहें मुसुकातहि हो॥ ७॥
नैन बिसाल नउनियाँ भौं चमकावइ हो।
देइ गारी रनिवासहिं प्रमुदित गावइ हो॥ ८॥
गावहिं सब रनिवास देहिं प्रभु गारी हो।
रामलला सकुचाहिं देखि महतारी हो॥१८॥

उपर्युक्त उद्धरण से यह नितांत स्पष्ट हो जाता है कि विवाह
का दिन है, दरजिनि दूलह के लिये जोड़ा (जामा), मोचिनि
मालिन मौर लाती है, नाउनि रनिवास तथा रनिवास राम को ग
जिन्हें वैवाहिक लोकाचारों और यज्ञोपवीत की रीतियों का थोड़ा
जिस के लिये प्रत्येक पाठक से आशा की जाती है—वे इस संबंध
संदेह में नहीं पड़ सकते।

फिर भी प्रसिद्ध रामायणी पं० रामगुलाम द्विवेदी[1] तथा सर जार्ज ग्रियर्सन[2] आदि विद्वानों को प्रथम मत का समर्थन कदाचित् इसलिये करना पड़ा कि राम विवाह के अवसर पर मिथिला में थे। अस्तु, अन्य विद्वानों ने दूसरे मत का समर्थन किया है किंतु यह भी उतना ही भ्रांतिपूर्ण है क्योंकि 'रामललानहछू' में यह स्पष्ट कहा गया है कि यह नहछू अयोध्या में दशरथ के घर हुआ—

कोटिन्ह बाजन बाजहिं दसरथ के गृह हो ॥ १ ॥
आजु अवधपुर आनँद नहछू राम क हो ॥१२॥

अतएव, उपर्युक्त दोनों मत ठीक नहीं हैं।

अभी तक राम-कथा के जो उद्गम-स्थान ज्ञात हैं उन में से किसी से भी यह प्रमाणित नहीं होता कि राम धनुष तोड़ने पर अयोध्या आए, यहाँ कुछ वैवाहिक लोकाचार हुए और तदुपरांत पुनः मिथिला जा कर उन्हों ने विवाह किया। अतएव, इसे गोस्वामी जी की एक बहुत बड़ी भूल माननी चाहिए— इतनी बड़ी जितनी उन की ग्रंथावली भर में अन्यत्र नहीं है। 'रामललानहछू' को गोसाईं जी कृत मान लेने मात्र से यह अनिवार्य नहीं है कि इतनी बड़ी और स्पष्ट भूलों की ओर से आँख मूँद ली जाए।

यही एक भूल होती तो कदाचित् उतना बुरा न होता जितना ऐसी ही एक दूसरी भूल के कारण है—

कौसल्या की जेठि दीन अनुसासन हो।
नहछू जाइ करावहु बैठि सिंहासन हो ॥ ९ ॥

इस प्रकार, 'रामललानहछू' के अनुसार कौशल्या की कोई जेठि (पति की ज्येष्ठ भ्रातृ-वधू) भी थीं जिन के अनुशासन से वे नहछू कराने लगीं। क्या यह भी ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य है। जहाँ तक मेरा ध्यान है यह उल्लेख कहीं नहीं हुआ है कि कोई ऐसी जेठि थीं। पटरानियों में भी उन का आसन सर्वोपरि था,

---

[1] 'तुलसी ग्रंथावली', तीसरा खंड, पृ० ६६।

[2] 'इंडियन ऐंटीक्वेरी', १८९३ ई०, पृ० १९७।

तब यह सौभाग्यवती कौन थी जिस का अनुशासन—अरुंधति सहमति आदि भी नहीं—कौशल्या को नहछू कराने के लिये हुआ ? अस्तु।

ऐसी बड़ी ऐतिहासिक भूलों के अतिरिक्त, 'नहछू' में प्रबंध-दोष भी साधारण नहीं है। इतने छोटे आकार के प्रबंध-काव्य में एक प्रबंध-दोष तो अति स्पष्ट है—

कटि के छीन बरिनियाँ छाता पानिहि हो।
चंद्रबदनि मृगलोचनि सब रस खानिहि हो।
नैन बिसाल नउनियाँ भौं चमकावइ हो।
देइ गारी रनिवासहि प्रमुदित गावइ हो ॥ ९ ॥

इतने वर्णन के अनुसार नाउनि भी बारिनि आदि के साथ वहाँ उपस्थित थी और 'गारी' देती तथा गाती थी किंतु आगे ही चल कर वह बुलाई जाती है—

नाउनि अति गुन खानि तौ बेगि बोलाई हो।
करि सिंगार अति लोन तौ बिहँसत आई हो॥
कनक चुनिन सों लसित नहरनी लिए कर हो।
आनँद हिय न समाइ देखि रामहि बर हो ॥१०॥

'नाउनि शीघ्र बुलाई गई, वह खूब सज धज कर हँसते हुए आई, सुंदर नहरनी उस के हाथ में थी और राम को दूलह वेष में देख कर उसे अपार हर्ष हुआ।' इस प्रकार, स्पष्ट ही वह पहले से वहाँ उपस्थित नहीं थी।

एक दूसरे स्थान पर, बारहवें पद में, ऐसी ही एक प्रबंध-त्रुटि है—वहाँ नाउनि का परिहास अत्यंत भ्रमपूर्ण है—

काहे रामजिउ साँवर लछिमन गोर हो।
कीदहुँ रानि कौसिलहि परिगा भोर हो ॥१२॥

तक जो परिहास है वह ठीक है—जो प्रत्येक सहृदय समझ सकता है—किंतु यही आगे उसी पद में नितांत भ्रमपूर्ण हो गया है—

राम अहहिं दसरथ के लछिमन आन क हो।
भरत सत्रुघन भाइ तौ श्री रघुनाथ क हो ॥१२॥

जब एक बार यह माना जाता है कि कौशिल्या को ही धोखा हुआ तो उसी के

आगे यह कैसे कहा जा रहा है कि राम दशरथ के हैं और लक्ष्मण दूसरे के हैं? फिर, भरत और शत्रुघ्न किस प्रकार भाई कहे जा सकते थे? भरत और राम एक अनुहारि के थे किंतु शत्रुघ्न तो लक्ष्मण की अनुहारि के थे। परिहास की भूलें और अधिक स्पष्ट करना कदाचित् शिष्टता के विरुद्ध होगा अतएव हमें इतने ही से संतुष्ट होना पड़ेगा।

इतनी बड़ी ऐतिहासिक भूलों तथा ऐसे बड़े प्रबंध-दोषों के अतिरिक्त 'रामललानहछू' में जो एक बड़ी विचित्रता है और जिस की तुलना के लिये गोस्वामी जी की ग्रंथावली में उदाहरण मिलना असंभव है, वह है उस के ठेठ शृंगार की—परकीया रति भी नहीं छूटने पाई है। दशरथ ऐसा धर्म-भीरु और सत्यनिष्ठ राजा भी एक साधारण अहिरिनि के यौवन पर मुग्ध हो जाता है—

अहिरिनि हाथ दहेंड़ि सगुन लै आवइ हो।
उनरत जोबनु देखि नृपति मन भावइ हो ॥ ५ ॥

इसी प्रकार,

रूप सलोनि तँबोलिनि बीरा हाथहि हो।
जाकी ओर निहारहि मन तेहि साथहि हो ॥ ६ ॥

तँबोलिन सुंदरी जिस की ओर देखती है उसी का मन उस के साथ हो जाता है।

कटि के छीन बरिनिआँ छाता पानिहि हो।
चंद्रबदनि मृगलोचनि सब रस खानिहि हो ॥ ७ ॥
नैन बिसाल नउनियाँ भौं चमकावइ हो।
देइ गारी रनिवासहि प्रमुदित गावइ हो ॥ ८ ॥

आदि में कवि ने सौंदर्य-वर्णन तथा रूप-निरूपण की भावना का जैसा दुरुपयोग किया है वह तुलसी-ग्रंथावली में अन्यत्र अप्राप्य है।

अतएव, इतनी बड़ी ऐतिहासिक भूलों, प्रबंध-दोषों, तथा ठेठ शृंगार-पूर्ण वर्णनों से तो यही कल्पना होती है कि 'रामललानहछू' का कर्ता 'मानस', 'गीतावली', 'विनय' और 'कवितावली' का स्वनामधन्य रचयिता नहीं है। किंतु रचना में तुलसीदास नाम आने से, बेणीमाधवदास द्वारा 'मूल गोसाईंचरित'

से उस के गोस्वामी जी कृत कहे जाने से, और पं० रामगुलाम द्विवेदी के प्रमाण पर उस के 'तुलसी ग्रंथावली' (ना० प्र० स०) में संमिलित किए जाने से यह कहना सरल नहीं है कि 'रामललानहछू' गोस्वामी जी की रचना नहीं है।

फिर भी, यदि यह गोस्वामी जी की रचना है तो निस्संदेह उन की प्राथमिक कृति है: मध्यकालीन रचनाओं में तो संमिलित की ही नहीं जा सकती और अंतिम रचनाओं में इसे स्थान देना कल्पनातीत होगा। किंतु बेणीमाधवदास ने 'मूल गोसाईंचरित' में इसे उन की अंतिम रचनाओं में रक्खा है और इस का निर्माण काल सं० १६६९ वि० माना है[1]—जिस वर्ष के पश्चात गोस्वामी

[1]बाबू श्यामसुंदरदास ने 'गोस्वामी तुलसीदास', १९३१, पृष्ठ २४ पर लिखा है—

"पार्वतीमंगल जानकीमंगल तथा रामललानहछू एक ही समय के लिखे हुए ग्रंथ जान पड़ते हैं। इन की शैली और भाषा एक ही प्रकार की है।..........

वेणीमाधवदास के अनुसार इन की रचना मिथिला में हुई—

मिथिला में रचना किए नहछू मंगल दोय।
पुनि प्रांचे मंत्रित किए सुख पावें सब लोय॥

इन ग्रंथो का उल्लेख मूल चरित में सं० १६६९ की घटनाओं के साथ किया गया है। परंतु इस से यह अर्थ नहीं निकलता कि १६६९ में गोसाईं जी ने इन की रचना की। यहाँ उन की पहली यात्रा से ही वेणीमाधवदास का तात्पर्य है। सं० १६६९ में तो गोस्वामी जी ने उन्हें केवल अभिमंत्रित किया जिस से वे विवाहादि के अवसर पर गाये जा कर मंगलकारी सिद्ध हों। सं० १६७० के आरंभ में गोसाईं जी इतने निर्बल हो गए थे कि जब पहले के बने हुए छोटे छोटे ग्रंथों का फिर से संशोधन किया तो उन्हें दूसरों से लिखवाना पड़ा। ऐसी अवस्था में यह समझना कि उन्हों ने इस से थोड़े ही समय पहले मिथिला यात्रा की हो यह संभाव्य नहीं जान पड़ता वास्तव में उस समय गोसाईं जी अखंड काशीवास कर रहे थे। पहली मिथिला-यात्रा गोसाईं जी ने सं० १६४० से पहिले की थी। १६४० में वे मिथिला से काशी लौट आए थे। इस से मूल चरित के अनुसार इन तीन ग्रंथों का रचना-काल सं० १६३९

जी ने कोई नवीन रचना उन के अनुसार नहीं की। यदि और सब बातें जाने भी दी जाएँ तो भी क्या कोई यह अनुमान कर सकता है कि ११५ वर्ष का जर्जर-वृद्ध महात्मा (वेणीमाधवदास के अनुसार गोस्वामी जी का जन्म १५५४ वि० में हुआ) ऐसी ठेठ शृंगारपूर्ण रचना मे प्रवृत्त हुआ होगा ? अतएव, वेणीमाधवदास चाहे जो कहें, 'रामललानहछू' गोस्वामी जी का बाल-प्रयास सा लगता है। यदि यह वस्तुतः गोस्वामी जी की कृति है तो निश्चय ही इस की रचना 'मानस' से लगभग २० वर्ष पूर्व हुई होगी।

इस की रचना दोनों 'मंगलों' के साथ मानते हुए बाबू श्यामसुंदरदास लिखते हैं—

"गोसाईं जी ने इसे वास्तव में विवाह के समय के गंदे नहछुओं के स्थान पर गाने के लिये बनाया है। उन का मतलब राम-विवाह ही से है। कथा-प्रसंग के पूर्वापर संबंध की रक्षा का ध्यान इसीलिये उस में नहीं किया गया है।"[1]

के लगभग ठहरता है।"

उपर्युक्त कथन को मानने में सब से बड़ी कठिनाई तो यही है कि वे 'पार्वती मंगल' की रचना १६४३ वि० में मानते हुए 'रामललानहछू' तथा 'जानकीमंगल' को उस के साथ ही की रचना मानते हैं। अतएव, यह स्वयं सिद्ध है कि १६२९ की मिथिला यात्रा में 'रामललानहछू' की रचना नहीं हुई। दोहे का ऊपर जो आशय निकाला गया है वह कदाचित् 'पुनि' शब्द के आश्रित है किंतु 'पुनि' का आशय यह नहीं है कि एक लंबा समय बीच में पड़ा हो। 'पुनि' का प्रयोग 'मूल गोसाईंचरित' ग्रंथ भर में केवल कथा को आगे बढ़ाने के लिये किया गया है (उदाहरणार्थ उस के आगे के ही दोहे में देखिए)। १६६९ की यात्रा के वर्णन में रचना का न उल्लेख हुआ है, न संकेत ही है और १६६९ की घटनाओं का वर्णन करते हुए भी पीछे की किसी घटना की ओर कोई संकेत नहीं है, अतएव, यह कल्पना कहाँ तक ठीक है इस का निर्णय पाठक स्वयं कर सकते हैं।

[1] 'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ ९६।

क्या यह समाधान ठीक है ? प्रश्न यह है कि क्या 'जानकीमंगल' में 'उन का मतलब राम-विवाह ही से' नहीं था ? किंतु, उस में क्यों कथा-प्रसंग के पूर्वापर संबंध की रक्षा का ध्यान रक्खा गया है ? इस के अतिरिक्त, दोनों की रचना बाबू साहब 'पार्वतीमंगल' के साथ की ही मानते हैं किंतु क्या 'रामललानहछू' अन्य दोनों की सुरुचि के दशमांश का भी परिचय देता है ?

जानकीमंगल

'जानकीमंगल' का नाम 'पार्वतीमंगल' के साथ लिया जाता है। सं० १६६९ की रचनाओं का उल्लेख करते हुए वेणीमाधवदास ने भी लिखा है—

मिथिला में रचना किए नहछू मंगल दोय ॥ ९४ ॥

और आधुनिक विद्वान भी दोनो ग्रंथो का प्रणयन साथ ही मानते है। किंतु 'जानकीमंगल' 'पार्वतीमंगल' के साथ की रचना नहीं हो सकती। सं० १६६९ की तो कल्पना दूर, सं० १६४३[1] भी इस का रचना-काल नही माना जा सकता।

'जानकीमंगल' का विषय है सिय-रघुबीर बिवाह—

सियरघुबीर बिवाह जथामति गावौं ॥ २ ॥

ग्रंथ सीता के जन्म और कौमार्य का अति संक्षिप्त परिचय देते हुए स्वयंवर के वर्णन से प्रारंभ होता है। जनक ने शिव-धनु-भंग करने वाले के साथ सीता के पाणिग्रहण की घोषणा प्रकाशित कर दी है, और धनुप-यज्ञ के लिये अत्यंत सुंदर रंगभूमि की रचना की गई है। देश देशांतर के राजाओ के पास संदेश भेज दिया गया है और वे एक एक कर के आने लगे है।[2] वे सब रूप, शील, बल आदि मे इतने श्रेष्ठ हैं मानों पुरंदर का एक दल ही आया है। 'दानव, देव, निसाचर, किन्नर, अहिगन' सभी नृप-वेश में प्रमुदित हो चल पड़े है।[3] चारों ओर गान वाद्यादि का बड़ा कोलाहल है—

---

[1] इसी लेख मे आगे देखिए।

[2] 'जानकीमंगल', पद ९।

[3] 'जानकीमंगल', पद १०, ११।

गान निसान कोलाहल कौतुक जहँ तहँ ।
सीयबिवाह उछाह जाइ कहि कापहँ ॥ १५ ॥
गाधि सुवन तेहि अवसर अवध सिधायउ ॥ १६ ॥

उसी समय विश्वामित्र राम-लक्ष्मण के लिये अयोध्या जाते हैं। 'जानकी-मंगल' छोड़ कर कथा का यह क्रम 'रामाज्ञा' के अतिरिक्त गोस्वामी जी के अन्य किसी ग्रंथ में नहीं है। 'रामाज्ञा' में भी राम-विवाह दो स्थानों पर वर्णित है[1] किंतु यह क्रम दूसरे स्थान पर है पहिले पर नहीं। 'रामाज्ञा' में दो स्थानों पर विवाह का वर्णन करते हुए दो क्रमों का होना कुछ आश्चर्यजनक नहीं किंतु, 'रामाज्ञा' के पश्चात् 'जानकीमंगल' का यह क्रम अन्य ग्रंथों में नहीं रक्खा गया। यह तथ्य इस बात की ओर संकेत करता है कि 'जानकीमंगल' की रचना न केवल 'मानस' से पूर्व हुई वरन् 'रामाज्ञा' से भी। 'रामाज्ञा' की रचना दोनों की मध्यवर्तिनी है क्योंकि उस में 'जानकीमंगल' तथा 'मानस' एवं मानसोत्तर ग्रंथों के दोनों क्रम दो विभिन्न स्थानों पर रक्खे गए हैं।

इस के अतिरिक्त 'जानकीमंगल' में वह फुलवारी लीला भी नहीं है जो 'मानस' में एक विशेष स्थान रखती है। 'जानकीमंगल' में रंगभूमि में ही सीता-राम यकायक एक दूसरे को देखते हैं। स्वयंवर में बड़े बड़े राजा उपस्थित हैं, नगर के नर-नारी भी दर्शक हैं, आपस में राम-लक्ष्मण के विषय में चर्चा हो रही है, इसी समय—

तब जनक आयसु पाइ कुल गुरु जानकिहि लै आयऊ ।
सिय रूप-रासि निहारि लोचन लाहु लोगन्हि पायऊ ॥ ९० ॥

....

राम दीख जब सीय सीय रघुनायक ।
दोउ तन तकि तकि मयन सुधारत सायक ॥ ९४ ॥
प्रेम प्रमोद परस्पर प्रगटत गोपहिं ।
जनु हिरदय गुन ग्राम-थूनि थिर रोपहिं ॥ ९५ ॥

---

[1] 'रामाज्ञा'—प्रथम सर्ग, सप्तक ४,५,६ तथा चतुर्थ सर्ग, सप्तक ५,६,७।

इसी प्रकार, 'जानकीमंगल' में 'मानस' 'गीतावली', 'कवितावली' आदि में उल्लिखित जनक का वह निराशा-वचन भी नहीं है जो उन्हों ने सब राजाओं के असफल होने पर कहा था, और न उस का वह दर्पपूर्ण उत्तर ही जिसे लक्ष्मण ने बड़ी ओजपूर्ण भाषा में दिया था।

'मानस' में लक्ष्मण के सरोष उत्तर का आतंक चारों ओर छा गया और जनक सकुचाए। राम ने यह देख इंगित से लक्ष्मण को चुप कर अपने पास बैठा लिया। उस समय विश्वामित्र ने उपयुक्त अवसर देख कर राम से कहा 'राम! उठो, शिवधनु का भंजन कर जनक के परिताप का शमन करो।' गुरु का ऐसा आदेश पा राम स्वाभाविक रीति से उठे, न हर्ष था न विषाद और रंगमंच पर बाल-सूर्य के समान शोभित हुए।[1]

जनक को निराशा और धनुर्भंग के बीच का यही प्रसंग 'जानकीमंगल' में एक दूसरे प्रकार से यों है—

देखि सपुर परिवार जनक हिय हारेउ।
नृपसमाज जनु तुहिन बनज बन मारेउ ॥१००॥
कौसिक जनकहिं कहेउ देहु अनुसासनु।
देखि भानुकुल भानु इसानु-सरासनु ॥१०१॥

विश्वामित्र के इस प्रस्ताव पर जनक कहते हैं कि यह अनुचित है—

मुनिवर तुम्हरे बचन मेरु महि डोलहिं।
तदपि उचित आचरत पाँच भल बोलहिं ॥१०२॥
बानु बानु जिमि गयउ, गवहिँ दसकंधरु।
को अवनीतल इन्ह सम बीर धुरंधरु ॥१०३॥
पारवती मन सरिस अचल धनु चालक।
हहिँ पुरारि तेउ एक नारि ब्रत पालक ॥१०४॥
सो धनु कहिं अवलोकन भूप-किसोरहि।
भेद कि सिरिस सुमन कन कुलिस कठोरहिँ ॥१०५॥

---

१ (हिंदी पुस्तक एजेंसी बाल कांड, दो० २५४

रोम रोम छबि निंदति सोभ मनोजनि ।

देखिय मूरति मलिन करिय मुनि सो जनि ॥१०६॥

एक तो यही क्या कम था कि विश्वामित्र प्रस्ताव करें और उस पर भी जनक उन की बात काट दें ! जनक के ऐसे अनभिज्ञतापूर्ण वचन सुन कर विश्वामित्र हँसे, और उन्हों ने कहा—

मुनि हँसि कहेउ जनक यह मूरति मोहइ ।

सुमिरत सकृत मोह मल सकल बिछोहइ ॥१०७॥

सब मल बिछोहति जानि मूरति जनक कौतुक देखहू ।

धनु सिंधु नृप बल जल बढ़यो रघुबरहिं कुंभज लेखहू ॥१०८॥

ऐसा सुन कर जनक असमंजस में पड़ गए और राम हर्ष-विषाद रहित हो धनुर्भंग के लिये चले—

सुनि सकुचि सोचहिं जनक गुरु पद बंदि रघुनंदन चले ।

नहिं हृदय हरष बिषाद कछु भए सगुन सुभ मंगल भले ॥१०८॥

यह एक बड़ा अंतर है। किंतु एक बहुत ही बड़ा अंतर परशुराम-गर्व-हरण प्रसंग का है। 'मानस' तथा 'कवितावली' में परशुराम स्वयंवरसभा में ही धनुर्भंग के पीछे उपस्थित होते हैं और वहाँ लक्ष्मण से उन का बड़ा व्यंग्यपूर्ण वाद-विवाद भी होता है। किंतु, 'जानकीमंगल' में यह नाटकीय दृश्य नहीं आता। यहाँ परशुराम, बारात की विदाई और प्रस्थान के पीछे मार्ग में राम से मिलते हैं और लक्ष्मण का उन से कोई वाद-विवाद नहीं होता—

तब कीन्ह कोसलपति पयान निसान बाजे गहगहे ॥१९८॥

पंथ मिले भृगुनाथ हाथ फरसा लिए ।

डाटहिं आँख दिखाइ कोप दारुन किए ॥१९९॥

कीन्ह राम परितोष रोषरिसि परिहरि ।

चले सौंपि सारंग सुफल लोचन करि ॥२००॥

इस प्रकार, 'मानस' से 'जानकीमंगल' मुख्यतया फुलवारीलीला, जनक के निराश-वचन, लक्ष्मण के दर्पपूर्ण उत्तर, सभा में ही परशुराम-गर्व-हरण के अभाव में भेद रखता है; 'मानस' में फुलवारीलीला तथा जनक के निराश-वचन

'प्रसन्नराघव' से, लक्ष्मण का उत्तर 'हनुमन्नाटक' से, तथा परशुराम का सभा में गर्वहरण पुनः 'प्रसन्नराघव' से लिये गए हैं। फलतः यह स्पष्ट हो जाता है कि 'जानकीमंगल' की रचना 'मानस' से पूर्व हुई क्योंकि 'मानस' में तो ये प्रसंग हैं ही 'गीतावली' तथा 'कवितावली' में भी हैं जिन की रचना 'मानस' से पीछे की है। और 'मानस' के तुलनात्मक अध्ययन के उपरांत विद्वानों की यह दृढ़ धारणा हो गई है कि उस की रचना के लिये गोस्वामी जी को लगभग २० ग्रंथों का सम्यक् अध्ययन करना पड़ा था, यदि इन ग्रंथों के अध्ययन की पूर्ति के लिये दश वर्ष भी माने जायँ—जो उस समय के लिये जब पुस्तकें मुद्रित नहीं होती थीं और बहुमूल्य होती थीं अधिक नहीं है—तो 'जानकीमंगल' की रचना १६२० विक्रम के लगभग की ठहरती है।

इस बात की पुष्टि एक प्रकार से और होती है—वह है 'जानकीमंगल' में शृंगार रस के रूप से। 'नहछू' का शृंगार ठेठ शृंगार है और 'मानस' का पवित्र तथा सौम्य शृंगार है। किंतु 'जानकीमंगल' का शृंगार दोनों का मध्य-वर्ती है। सीता की स्वाभाविक अवलोकनि का वर्णन 'जानकीमंगल' में इस प्रकार किया गया है—

रूप रासि जेहि ओर सुभाय निहारहि।
नील कमल सर श्रेनि मयन जनु डारहि ॥९२॥

सीता जिस ओर स्वाभाविक रीति से भी देखती हैं उधर मानो कामदेव नील कमल-शरों की वर्षा करता है।

राम-सीता का परस्पर दर्शन 'जानकीमंगल' में इस प्रकार है—

राम दीख जब सीय सीय रघुनायक।
दोउ तन तकि तकि मयन सुधारत सायक ॥९४॥

यहाँ भी परस्पर-दर्शन में कामदेव दोनों व्यक्तियों को व्यथित कर रहा है। जयमाल पहिनाने में भी इसी प्रकार

लसत ललित कर कमल माल पहिरावत।
कामफंद जनु चंदहि बनज फँदावत ॥

इस प्रकार भावक्षेत्र में कामदेव का उलझ पड़ना 'नहछू' तथा 'जानकी

मंगल' के अतिरिक्त तुलसी ग्रंथावली में रामचरित्र में नहीं है—यद्यपि कामदेव रूप-वर्णन क्षेत्र में सौंदर्य के आदर्श की भाँति निस्संदेह अनेक स्थानों पर आया है।

अतएव, 'जानकीमंगल' 'मानस' से पूर्व की रचना अवश्य है और १६२० के लगभग रचा गया होगा यह धारणा भी दृढ़ हो जाती है, किंतु १६२० के अधिक पूर्व नहीं क्योंकि 'नहछू' के से एक भी दोष इस ग्रंथ में नहीं है, शैली में भी परिपक्वता यथेष्ट है, छंद मोहर छंद होते हुए भी हरिगीतिका के संसर्ग से साहित्यिक प्रयोग के उपयुक्त बन गया है, कथा भी 'रामाज्ञा' के निकट है, यद्यपि 'रामाज्ञा' इस से कुछ पीछे की ही रचना है जैसा आगे के पृष्ठों से स्पष्ट होगा। अतएव, संवत् १६६९ अथवा १६४३ को भी इस का रचना-काल नहीं माना जा सकता।

रामाज्ञा

सर जार्ज ग्रियर्सन ने लिखा है[1], 'छक्कनलाल कहते हैं कि १८२७ ई० में उन्हों ने रामाज्ञा की एक प्रतिलिपि मूल प्रति से की थी जो कवि के हाथ की लिखी थी और जिस की तिथि कवि ने स्वयं सं० १६५५ ज्येष्ठ शुक्ल १० रविवार दी थी।' और अन्यत्र[2] 'रामाज्ञा की वह प्रति गोस्वामी जी के हाथ की, नरकुल की लिखी थी और प्रह्लादघाट पर ३० वर्ष पूर्व (लगभग सन् १८६३ ई०) तक विद्यमान् थी।'

'मूल गोसाईंचरित' में बाबा वेणीमाधवदास ने 'रामाज्ञा' की रचना सं०

---

[1] 'इंडियन ऐंटिक्वेरी', १८९३ ई०, पृष्ठ ९६। और फुटनोट में वे लिखते हैं—"छक्कनलाल की भाषा में 'श्री संवत् १६५५ जेठ सुदी १० रविवार की लिखी पुस्तक श्री गोसाईं जी के हस्तकमल की प्रह्लादघाट श्री काशी जी में रही। उस पुस्तक पर से श्री पंडित रामगुलाम जी के सत्संगी छक्कनलाल कायस्थ रामायणी मिरज़ापुर वासी ने अपने हाथ से सं० १८८४ में लिखा था'।"

[2] 'इंडियन ऐंटिक्वेरी', १८९३ ई०, पृष्ठ १९७।

१६६९ में होने का उल्लेख किया है[1] किन्तु यदि उपर्युक्त साक्ष्य सत्य माना जाए—कम से कम उक्त प्रति पर लिखी तिथि तो सत्य माननी ही पड़ेगी—तो सं० १६६९ उस की रचना-तिथि नहीं हो सकती। अब प्रश्न यह है कि १६५५ वि० ही 'रामाज्ञा' की रचना-तिथि मानी जाय या उस से पूर्व की कोई तिथि।

ऊपर के साक्ष्य में छक्कनलाल का कथन है कि वह प्रति गोस्वामी जी के हाथ की लिखी थी किंतु उस विषय में शंका होना कदाचित् अनुचित न होगा क्योंकि उन की यह धारणा जनश्रुति के आधार पर ही रही होगी और जन-श्रुति कम से कम ऐसे विषयों में बड़ी कठिनता से प्रामाणिक मानी जा सकती है। कुछ वर्ष पूर्व अनेक प्रतियाँ गोस्वामीजी के हाथ की लिखी मानी जाती थी किंतु आज दो एक को छोड़ अन्यों के विषय में विद्वानों की धारणा है कि वे गोस्वामी जी के हाथ की लिखी नहीं हैं। यदि यह माना भी जाय कि वह प्रति गोस्वामीजी के ही हाथ की लिखी थी तो क्या उस के साथ यह भी मानना अनिवार्य होगा कि वही प्रथम मूल-प्रति थी। अधिक संभावना तो इस बात की है कि वह एक प्रतिलिपि मात्र थी—चाहे वह किसी के हाथ की लिखी हुई हो।

सर जार्ज ग्रियर्सन ने अन्य तिथियों के साथ 'रामाज्ञा' की तिथि के विषय में लिखते हुए[2] यद्यपि सं० १६५५ वि० को उस की रचना-तिथि मान लिया है किंतु उन्हे यह खटका अवश्य था कि यह प्रतिलिपि-तिथि भी हो सकती है। इसीलिये उन्हों ने तिथियों का निष्कर्ष लिखते हुए इस प्रकार लिखा है—

(द) रामाज्ञा की रचना-तिथि (या प्रतिलिपि-तिथि ?)

रविवार जून ४, सन् १५९८ ई०।

मिश्रबंधुओं ने लिखा है[3] "रामाज्ञा के विषय मे कुछ संदेह बाक़ी है। कारण कुछ लोगों के कथनानुसार छक्कनलाल को 'रामाज्ञा' नहीं, 'रामशलाका'

---

[1] 'मूल गोसाईंचरित' दोहा, ९५।

[2] 'इंडियन ऐंटिक्वेरी', १८९३ ई०, पृ० ९८।

[3] 'हिंदी नवरत्न', पृ० ७८।

की प्रति मिली थी।"[1] किंतु ग्रियर्सन साहब की खोज के विषय में संदेह करना अनुचित होगा।

---

[1] बाबू शिवनन्दन सहाय ने (श्री गोस्वामी तुलसीदास जी पृ० ३५२ पर) लिखा है—

'यह जीवनी छपने के थोड़े ही दिन पहिले हम को का० ना० प्र० पत्रिका (भाग १९ संख्या १०) मे रणछोड़ लाल व्यास जी का एक लेख देखने मे आया—आप अपने को "गंगाराम ज्योतिषी का वंशधर बताते हैं और लिखते हैं कि गंगाराम जी दो भाई थे। दूसरे का नाम दौलतराम था। उन के वंशजों में पंण्डित गिरिवर व्यास हुए। (आप के पास ही ग्रियर्सन साहब ने गुसाईं जी की तसवीर देखी थी) मैं उन का भाँजा हूँ। असल में रामाज्ञा नहीं किन्तु रामशलाका थी जो रामचंद्र (मेरे बहनोई के भाई) और गंगाधर (मेरी बुआ के पुत्र) के हाथ से सं० १९२०-२२ के क़रीब लुटेरों ने श्रीनाथ जी की यात्रा के समय उदयपुर के निकट लूट ली थी। उस रामशलाका की नक़ल मिरज़ापुर निवासी पं० रामगुलाम जी द्विवेदी के श्रोता छगनलाल जी के पास है। तसवीर मेरे पास सुरक्षित है।" रामाज्ञा की रचना के संबंध में जो बातें ग्रियर्सन साहब ने लिखी है उन्हीं का सारांश इन्हों ने रामशलाका के विषय में लिखा है।'

सर जार्ज ग्रियर्सन ने ('इंडियन एँटिक्वेरी', १८९३ ई०, पृ० ९६ के फ़ुटनोट में) लिखा है—

"इस संबंध में पं० सुधाकर द्विवेदी मुझे सूचित करते हैं कि वह हस्तलिखित प्रति जिस से छक्कनलाल ने प्रतिलिपि की रामकृष्ण नामक एक पुरोहित के पास थी। एक समय रामकृष्ण ने इसे बस्ते से, कहीं सुनाने के लिये, निकाला और दुर्भाग्य वश रेलवे ट्रेन में इस की चोरी हो गई। यह सूचित किया जा सकता है कि रामकृष्ण के घर में तुलसीदास की एक अत्यंत सुरक्षित तसवीर है जो कहा जाता है कि अकबर के लिये चित्रित की गई थी।"

दोनों साक्ष्यों में कितना अंतर है। किंतु ग्रियर्सन साहब तथा पं० सुधाकर द्विवेदी के प्रमाण निश्चय ही अधिक विश्वसनीय हैं क्योंकि उन्हों ने छक्कनलाल से ही

इस प्रकार, सं० १६५५ वि० 'रामाज्ञा' की रचना-तिथि की एक सीमा अवश्य है किंतु कितने पूर्व उस की रचना-तिथि रक्खी जा सकती है यह ऊपर के साक्ष्य से अनिश्चित है। अंतसोक्ष्य अवश्य यह निस्संदेह सिद्ध कर देता है कि 'रामाज्ञा' 'मानस' से पूर्व की रचना है।

'रामाज्ञा' में कथा राजा दशरथ के राज्य-काल से आरंभ होती है और आरंभ में ही

'बिधि-बस बन मृगया फिरत दीन अंध मुनि साप। १-२-१।

द्वारा उस कथा की ओर संकेत किया जाता है जिसे 'मानस' में मरण-शय्या पर दशरथ ने स्वमुख से कहा है।

सीता-स्वयंवर की कथा 'रामाज्ञा' में दो स्थानों पर कही गई है पहिले, प्रथम सर्ग में, फिर, चतुर्थ सर्ग में। किंतु, प्रथम सर्ग में वह जिस क्रम से है वह 'मानस' का है; और चतुर्थ सर्ग का क्रम 'जानकीमंगल' का है और इस प्रकार है—

जनकनंदिनी जनकपुर जब ते प्रगटी आइ।
तब ते सब सुख संपदा अधिक अधिक अधिकाइ॥ ४-५-१॥
सीय-स्वयंबर जनकपुर, सुनि सुनि सकल नरेस।
आए साज समाज सजि भूषन बसन सुदेस॥ ४-५-२॥
चले मुदित कौसिक अवध सगुन सुमंगल साथ।
आए सुनि सनमानि गृह आने कोसल नाथ॥ ४-५-३॥

यह अंश 'जानकीमंगल' वाले उसी प्रसंग के अंश से मिलाने योग्य है। कथ

यह जाँच की थी और व्यास जी की बातें सुनी हुई हैं। 'रामाज्ञा शकुनावली' किसी गंगाराम को ही संबोधित कर के लिखी गई है—

सगुन प्रथम उनचास सुभ, तुलसी अति अभिराम।
सब प्रसन्न सब भूमि सुर, गोगन गंगाराम॥ १-७-७॥

यदि ये गंगाराम उपर्युक्त गंगाराम ज्योतिषी ही थे तो उन के वंशधरों के पास उपर्युक्त प्रति का रहा होना बहुत संभव है

का यह क्रम 'जानकीमंगल' छोड़ गोस्वामी-जी के किसी अन्य ग्रंथ मे नहीं है। ऐसा ज्ञात होता है कि 'रामाज्ञा' की रचना के समय उक्त प्रसंग के दोनों क्रम गोस्वामी जी के ध्यान मे थे और उस समय तक उन्हो ने यह निश्चित नहीं कर लिया था कि दोनों में कौन सा अधिक सुंदर होगा। कदाचित् इसीलिये 'रामाज्ञा' में एक ही प्रसंग दो सर्गों में रखते हुए दोनों विभिन्न कथा-क्रमो का आश्रय लिया है। 'रामाज्ञा' इस प्रकार 'जानकीमंगल' तथा 'मानस' की मध्य-वर्तिनी रचना प्रतीत होती है।

मख-रक्षा तथा अहिल्या-उद्धार के पीछे विश्वामित्र राम-लक्ष्मण के साथ जनकपुर जाते हैं किंतु न तो प्रथम सर्ग मे और न चतुर्थ में ही फुलवारी लीला की कथा आती है।

'मानस' में सब राजाओं के असफल होने पर जनक के जो निराशापूर्ण वचन है वे भी 'रामाज्ञा' में नहीं हैं। न उन वचनों का वह दर्पपूर्ण उत्तर ही जो लक्ष्मण ने दिया था।

'रामाज्ञा' मे चतुर्थ सर्ग में परशुराम-मिलन का तो प्रसंग ही नही है, किंतु प्रथम सर्ग की कथा में वे 'जानकीमंगल' की ही भाँति मार्ग में मिलते हैं, 'मानस' की भाँति सभा मे नहीं। इसीलिये लक्ष्मण से उन का वह नाटकीय वादाविवाद भी नहीं है जो 'मानस' में है और 'जानकीमंगल' में नहीं है। 'रामाज्ञा' का परशुराम-मिलन इस प्रकार है—

चारिउ कुँवर बियाहि पुर, गवने दसरथ राउ।
भए मंजु मंगल सगुन, गुरु सुर संभु-पसाउ ॥१-६-२॥
पंथ परसुधर आगमन, समय सोच सब काहु।
राज समाज विषाद बड़, भय बस मिटा उछाहु ॥१-६-४॥
रोष कलुप लोचन भ्रुकुटि, पानि परसु धनु बान।
काल कराल बिलोकि मुनि, सब समाज बिलखान ॥१-६-५॥
प्रभुहि सौंपि सारंग पुनि, दीन्ह सुआसिरबाद।
जय मंगल सूचक सगुन, राम-राम-संबाद ॥१-६-६॥

अयोध्या से बन जाते हुए निषाद से भेंट का भी उल्लेख 'रामाज्ञा' में नहीं है।

चित्रकूट में जनक का आगमन नहीं होता है।

जयंत के चोंच मारने के विषय में 'काक-कुचालि'। २ ६-१। कह कर संकेत किया गया है।

सीता की सुधि लाने के लिये जाने पर लंका में हनुमान और विभीषण की भेंट का भी उल्लेख 'रामाज्ञा' में नहीं है।

'रामाज्ञा' में हनुमान के समक्ष सीता-रावण-संवाद तो है हो नहीं मारुति-संदेश-निर्वहण भी मानस का सा नहीं है।

त्रिजटा-सीता संवाद में सीता की अग्नियाचना भी नहीं है।

'रामाज्ञा' में लक्ष्मणशक्ति की कथा नहीं है।

'मानस' में जिस सेतुबंध के अवसर पर रामेश्वर की स्थापना तथा शिव-उपासना को इतना महत्त्व दिया गया है वह भी 'रामाज्ञा' में अनुपस्थित है।

'रामाज्ञा' में राम-राज्याभिषेक के अनंतर की भी कथा षष्ठ सर्ग के छठे तथा सातवें सप्तकों में संक्षेप में—यद्यपि पूर्ण—दी गई है और 'सीताराम-वियोग' से 'सीता-अवनिप्रवेश' तक कुल है।

यहाँ पर कुछ विस्तारपूर्वक 'मानस' से 'रामाज्ञा' के मुख्य मुख्य कथा-भेदों को दिखाने का प्रयोजन यह बताना है कि 'रामाज्ञा' की कथा का आधार लगभग पूर्णरूप से वाल्मीकिरामायण ही है। 'मानस' में फुलवारी लीला तथा जनक के निराशावचन 'प्रसन्नराघव' नाटक से, लक्ष्मण का दर्पपूर्ण उत्तर 'हनुमान्नाटक' से, परशुराम का सभा में मिलन और उन का लक्ष्मण से व्यंग्यपूर्ण वाद-विवाद पुनः 'प्रसन्नराघव नाटक' से, निषाद से वनयात्रा के समय भेंट 'अध्यात्म रामायण' से कुछ मौलिकता के साथ, हनुमान के समक्ष सीता-रावण-संवाद तथा मारुति-संदेश-निर्वहण पुनः 'प्रसन्नराघव' नाटक से दोनों लगभग अक्षरशः, त्रिजटा-सीता-संवाद में अग्नियाचना पुनः 'प्रसन्नराघव' नाटक के अनुसार, सेतुबंध रामेश्वर की स्थापना पुनः 'अध्यात्म रामायण' के अनुसार हैं 'मानस' इन प्रसंगों में वाल्मीकि से भिन्न और 'रामाज्ञा' इन में 'मानस' से भिन्न है अतएव, निस्संदेह जिन लगभग २० बड़े बड़े ग्रंथों का सम्यक करने के अनतर उन से उपयुक्त सामग्री ले गोस्वामी जी ने 'मानस' की रचना की

'रामाज्ञा' की रचना तक उन कुल ग्रंथों का अध्ययन कदाचित् उन्हों ने नहीं कर लिया था अथवा यदि कुछ का किया भी था तो उस समय तक वे यह निश्चित न कर चुके थे कि राम-कथा में किन अंशों को इन ग्रंथों से ले कर संमिलित कर उसे और अधिक सुंदर बनाया जा सकता था। अतएव, 'रामाज्ञा' की रचना 'मानस' से ७।८ वर्ष पूर्व हुई माननी होगी।

'रामाज्ञा' में दो उल्लेखनीय दोष हैं। एक तो प्रबंध-दोष है—प्रथम सर्ग की पूरी कथा चतुर्थ सर्ग में दुहराई गई है किंतु चतुर्थ सर्ग में न तो वह उतनी पूर्ण है और न उतनी सुव्यवस्थित। प्रथम सर्ग के पश्चात् दो सर्गों में आगे की कथा कह कर ऐसी भद्दी तरह लौटना और बाधा डालना रुचिकर नहीं सिद्ध हुआ है। संभव है यह सात सर्ग पूरा करने के लिए किया गया हो किंतु यह क्रम बहुत भद्दा है। दूसरा दोष भी प्रबंध-दोष कहा जा सकता है किंतु वह जानबूझ कर किया हुआ है—वह है रामकथा को शकुनावली के साथ जोड़ देना। लगभग प्रत्येक दोहे का प्रथम चरण कथा का कोई अंश देता है और दूसरा शकुन सूचित करता है। यहाँ राम-कथा का उद्देश्य 'स्वांतः सुखाय' नहीं वरन् कार्य-सिद्धि की सूचना देने के लिये है और फलतः निस्संदेह पार्थिवता आ गई है। इस जोड़ मिलाने से कुछ खींचा-तानी हो गई है जिस के कारण रचना में शिथिलता स्पष्ट है। इसी शैथिल्य की ओर देखते हुए, और कदाचित् उस के कारण की ओर ध्यान न दे कर मिश्र-बंधुओं ने लिखा है[1]—"रामाज्ञा-प्रश्न में गोस्वामी जी के से विचार अवश्य हैं, किंतु इस की रचना ऐसी शिथिल है कि गोस्वामी जी कृत कहने को जी नहीं चाहता।" किंतु, कदाचित् जी का चाहना न चाहना किसी कृति की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता का उचित मापक नहीं हो सकता। 'रामाज्ञा की रचना शिथिल है' यह उसे कल्पित कहने के लिये पर्याप्त नहीं है। पं० रामगुलाम द्विवेदी के प्रमाण पर सर जार्ज ग्रियर्सन ने इसे गोस्वामी जी कृत माना है[1] और तुलसी-ग्रंथावली के संपादकों ने इसे उस में स्थान दिया है। वेणीमाधवदास ने भी इसे गोस्वामी जी के ग्रंथ-समूह में रक्खा

१ 'हिंदी नवरत्न', पृ० ९६।

। तुलसी और तुलसीदास नाम भी अधिकतर दोहों में आया है और 'दोहावली' में इस के ३५ दोहे संग्रहीत हैं। ऐसी दशा में केवल शिथिलता के कारण, जिस का कारण ऊपर बताया जा चुका है, 'रामाज्ञा' को कल्पित ठहराना कदाचित् गोस्वामी जी के साथ अन्याय होगा।[१]

वैराग्यसंदीपिनी

'वैराग्यसंदीपिनी' का प्रथम दोहा—

राम बामदिसि जानकी लषन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यानमय सुरतरु तुलसी तोर॥ १॥

'रामाज्ञा' का ७-२-७ है। इस दोहे में 'कल्यानमय' ध्यान देने योग्य है। 'रामाज्ञा' के लगभग कुल दोहों के दूसरे चरण में शकुनसूचक कोई न कोई शब्द अवश्य रहता है, अतएव, उपर्युक्त दोहा 'रामाज्ञा' से 'वैराग्य संदीपिनी' में लिया गया

---

[१] सर जार्ज ग्रियर्सन ने इसे तुलसीकृत मानते हुए अपनी पुस्तक ('नोट्स आन् तुलसीदास', भूमिका, पृष्ठ ८) में लिखा है—'मुझे संदेह है कि यह जाली है और इस का कुछ अंश कवि की अन्य कृतियों से लिया गया है।' किंतु संदेह के आधार का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। यदि अन्य कृतियों के कुछ दोहे 'रामाज्ञा' में मिलते हैं और इस कारण 'रामाज्ञा' को जाली कहा जाता है तो यह अनुचित है। 'रामाज्ञा' के दोहे केवल दो ग्रंथों में मिलते हैं; 'वैराग्यसंदीपिनी' और 'दोहावली' में। पहिले में केवल एक दोहा है और वह स्पष्ट ही 'रामाज्ञा' से 'वैराग्यसंदीपिनी' में रक्खा गया है न कि उलटे—जैसा आगे ही ज्ञात होगा। और 'दोहावली' में जो दोहे हैं वे भी 'रामाज्ञा' से उस में लिये गए हैं न कि उलटे—जैसा 'दोहावली' की तिथि का निर्णय करने आगे ज्ञात होगा।

बाबू शिवनंदन सहाय ने भी लिखा है, 'वस्तुतः यह (रामाज्ञा) उन के (गोस्वामी जी का) रचा ग्रंथ नहीं है।' (श्री गोस्वामी तुलसीदास जी, पृ० ३५४ किंतु उन्हों ने अपने कथन का कोई आधार नहीं दिया है अतः उस पर विचार करना अनावश्यक है।

है, यह स्पष्ट है। गोस्वामी जी को यह दोहा इतना अधिक प्रिय था कि 'वैराग्य संदीपिनी' तथा 'दोहावली' का श्री गणेश ही उन्हों ने इस दोहे से किया, 'सत-सई' में इस की क्रम-संख्या केवल दूसरी है।

'वैराग्यसंदीपिनी' में दोहों के अतिरिक्त सोरठों तथा चौपाइयों का प्रयोग हुआ है। अब तक इन पीछे के दोनो छंदों का प्रयोग गोस्वामी जी ने नहीं किया था किंतु 'वैराग्यसंदीपिनी' से इन का भी प्रयोग प्रारंभ कर 'मानस' में चरम आदर्श उपस्थित कर दिया। सोरठे 'वैराग्यसंदीपिनी' में केवल दो ही आए हैं और वे भी दो स्थानों पर, पहिले स्थान पर तीन तीन और दूसरे पर पाँच पाँच के बीच वे प्रयुक्त हुए हैं। वह प्रयोग विश्राम के ढंग का है और निस्संदेह प्रशंसनीय है। किंतु, चौपाइयों का प्रयोग बड़ी बेढंगी रीति से 'वैराग्यसंदीपिनी' में हुआ है। कुल दस स्थानों पर चौपाइयाँ आती हैं जिन में से सात पर चार चार पंक्तियों के समूह हैं, दो पर आठ आठ के और एक पर बारह के। दोहों का प्रयोग भी इसी प्रकार कम ठीक हुआ है—उन की संख्या विभिन्न स्थानों पर एक से सात तक है। चौपाइयाँ दोहों से दबी हुई हैं। इतने छोटे ग्रंथ में भी इस प्रकार की त्रुटियाँ खटकती हैं। जैसा समन्वय 'मानस' में इन्हीं छंदों का हुआ है वैसा वैराग्य संदीपिनी में ढूँढ़ने की चेष्टा निस्सार होगी।

विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से 'वैराग्यसंदीपिनी' में 'रामाज्ञा' की भाँति द्वंद्व नहीं है। एक ही विषय है और उस के प्रतिपादन की चेष्टा है। विषय को कई भागों में विभाजित कर एक पूर्ण विचार प्रस्तुत करने का प्रयास निस्संदेह है। 'रामाज्ञा' की भाँति खटकने वाला प्रबंध-दोष भी कोई नहीं है।

इस प्रकार, 'वैराग्यसंदीपिनी' छंद, विषय-प्रतिपादन और प्रबंध-पटुता में 'रामाज्ञा' से बीस ही है। शैली भी उपयुक्त है और रचना शिथिल नहीं है अतएव, यह 'रामाज्ञा' के पीछे की रचना अवश्य है, किंतु कदाचित् दो तीन वर्ष से अधिक का अंतर दोनों में नहीं माना जा सकता। अतएव, इस की रचना सं० १६२५-२६ के लगभग की ठहरती है।

वेणीमाधवदास ने इस की रचना सं० १६६९ में होने का उल्लेख किया

है[1] जो स्पष्ट ही ठीक नहीं ज्ञात होता। बाबू श्यामसुंदरदास का अनुमान है कि 'वैराग्यसंदीपिनी' की रचना 'विनयपत्रिका' के साथ हुई। वे लिखते हैं[2]—
"अतएव १६३८ और १६३९ के बीच किसी समय विनयपत्रिका बनी होगी।

वैराग्य संदीपनी भी इसी समय का रचा हुआ ग्रंथ जान पड़ता है। उस में गोसाईं जी अपने मन को कामादिक से दूर रह कर शांत रखने के लिये प्रबोधन करते दिखाई जान पड़ते हैं। बार बार वे अपने मन को राग द्वेष से अलग रहने को कहते हैं और शांति की महिमा गाते हैं ... .
तुलसीदास जी के हृदय में राग द्वेष की सब से अधिक संभावना उस समय थी जिस समय उन के रामचरितमानस के विरुद्ध काशी में एक बवंडर सा उठ रहा था और पंडित लोग उन को कई प्रकार से नीचा दिखाने का प्रयत्न कर रहे थे। इस में संदेह नहीं कि उत्तेजना का अवसर होने पर भी वे उत्तेजित नहीं हुए क्योंकि उन्हों ने इस समय भी अपने प्रभु को न छोड़ा—

फिरी दोहाई राम की गे कामादिक भाजि।
तुलसी ज्यों रवि के उदय तुरत जात तम लाजि॥

इस में तो संदेह नहीं कि 'वैराग्यसंदीपिनी' 'दोहावली' के संग्रहीत होने के पहिले बनी क्योंकि 'वैराग्यसंदीपिनी' के कई दोहे 'दोहावली' में संग्रहीत हैं। इस बात की आशंका नहीं की जा सकती है कि 'दोहावली' ही से 'वैराग्यसंदीपिनी' में दोहे लिए गए हों; क्योंकि 'वैराग्यसंदीपिनी' एक स्वतंत्र ग्रंथ है और 'दोहावली' स्पष्ट ही संग्रह ग्रंथ। 'दोहावली' का संग्रह सं० १६४० में हुआ था। इस से यह ग्रंथ १६४० से पहले ही बन चुका होगा। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं हमें इसे 'विनयपत्रिका' के साथ साथ का बना मानने का कारण भी विद्यमान है। कलि-काल की जिस कुचाल के विरुद्ध राम को उद्दिष्ट कर 'विनयपत्रिका' लिखी गई उसी के विरुद्ध अपने मन को दृढ़ करने के लिये आत्मोपदेश के रूप में 'वैराग्य-संदीपिनी' भी रची गई।" यह विवेचन कहाँ तक उपयुक्त है इस का निर्णय

---

[1] 'मूल गोसाईंचरित' (नवल किशोर प्रेस), दो० ९५।

[2] 'गोस्वामी तुलसीदास', १९३१ ई०, पृष्ठ ९१।

पाठक स्वयं कर सकते हैं। कम से कम हमें ऐसी दूर की कल्पना निराधार सी लगती है। और, कवि का तो 'वैराग्य संदीपिनी' में कहीं नाम तक नहीं आया है। शैली, विषय-प्रतिपादन, भावगांभीर्य आदि में कहाँ 'विनयपत्रिका' और कहाँ 'वैराग्य संदीपिनी' ?

रामचरितमानस

'मानस' का रचना-काल निर्विवाद है। ग्रंथ में ही गोस्वामी जी ने उस का रचना-काल इस प्रकार दिया है—

संवत सोरह सै इकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा।
नौमी भौमवार मधु मासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा।
जेहि दिन राम जनम स्रुति गावहिँ। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिँ।
असुर नाग खग नर मुनि देवा। आइ करहिँ रघुनायक सेवा।
जनम महोत्सव रचहिँ सुजाना। करहिँ राम कलकीरति गाना॥३४॥
....

सब विधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धिप्रद मंगलखानी।
विमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा।
रामचरित मानस एहि नामा। सुनत स्रवन पाइय बिस्रामा॥३५॥

केवल नवमी कहने से यह अनिश्चित होता कि वह नवमी शुक्ल-पक्ष की थी अथवा कृष्ण-पक्ष की अतएव गोस्वामी जी ने राम-जन्म-दिन कह कर इसे स्पष्ट कर दिया कि उक्त तिथि सं० १६३१ की चैत्र शुक्ल नवमी थी और उस दिन मंगलवार था।[१] सं० १६३१ में चैत्र शु० ९ मंगलवार को लगी और बुध-वार को प्रातः काल थी इसलिये मंगलवार तथा बुधवार दोनों दिन नवमी मनाई गई होगी, गोस्वामी जी ने उसे मंगलवार को ही माना—मंगलवार को

---

[१] गणना से विगत संवत वर्ष और प्रचलित संवत वर्ष दोनों ठीक उतरते हैं किंतु वेणीमाधवदास की समाप्ति की तिथि यदि ठीक मानी जाय तो निश्चय ही इसे प्रचलित वर्ष मानना पड़ेगा

कस संप्रदाय वालों की नवमी रही होगी यह प्रस्तुत विषय से बाहर की बात है।

'मानस' की समाप्ति वेणीमाधवदास ने १६३३ में राम-विवाह की तिथि पर माना है—

दुइ बत्सर सात क मास परे। दिन छब्बिस मांझ सो पूर करे।
तैंतिस को संवत औ मगसर। शुभ द्यौस सु रामबियाहहिँ पर।
सुठि सन्त जहाज तयार भयो। भवसागर पार उतारन को॥

सीता-राम-विवाह तिथि मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी है अतएव, 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार 'मानस' १६३३ की उक्त तिथि को समाप्त हुआ और इस प्रकार इस में दो वर्ष सात मास के लगभग लगे। इस विषय पर अन्य कोई साक्ष्य नहीं है। यद्यपि इतने ही समय में 'मानस' ऐसे बृहद् काव्य-ग्रंथ की रचना गोस्वामी जी ऐसे प्रतिभा-संपन्न महाकवि के लिये असंभव नहीं कही जा सकती फिर भी, यह समय कुछ छोटा प्रतीत होता है। इस के अतिरिक्त, उक्त तिथि की प्रामाणिकता के विषय में निश्चयात्मक रूप से अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि वेणीमाधवदास ने दिन का नाम स्पष्ट नहीं दिया है[1] जिस से गणना की शुद्धि नहीं ज्ञात हो सकती। फिर भी जब तक कोई

---

[1] 'मूल गोसाईंचरित' में यों दिया है—

तैंतीस को संवत औ मगसर। शुभ द्यौस सु राम बिवाहहि पर।

यहाँ पर दिये हुए शुभ द्यौस का अर्थ मंगलवार लगाकर बाबू श्यामसुंदरदास ने (नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ७—अंक ४) लिखा है कि यह तिथि ठीक नहीं है क्योंकि १६३३ की मार्ग० शुक्ल ५ को रविवार पड़ता है न कि मंगलवार। किंतु शुभ द्यौस का रविवार ही अर्थ होता है यह अधिक संभव है क्योंकि गोस्वामी जी ने स्वयं टोडर के लड़कों के पंचनामे में 'शुभ दिन' का प्रयोग रविवार के अर्थ में किया है:— 'सं० १६६९ समये कुआर सुदि तेरसि वार शुभदिने लिखितं'। सर जार्ज ग्रियर्सन ने ('इंडियन ऐंटिक्वेरी' १८९३ ई० पृ० ९८) शुभदिन का अर्थ रविवार लेकर उक्त तिथि की प्रामाणिकता बताई है। यदि शुभ द्यौस का अर्थ रविवार हो तो वेणी की तिथि गणना के अनुसार, कम से कम, अवश्य शुद्ध है

अन्य साक्ष्य इस का विरोध नहीं करता इस तिथि को हम भली भाँति मान सकते हैं।

सतसई

'सतसई' में उस का रचना-काल इस प्रकार दिया हुआ है—

अहि रसना (२) थन-धेनु (४) रस (६) गनपति द्विज (१) गुरुवार।
माधव सित सिय जनम तिथि सतसैया अवतार ॥ १—९ ॥

और सीता की जन्म तिथि वैशाख शु० ९ मानी जाती है अतः 'सतसई' की रचना सं० १६४२ वैशाख शु० ९ को माननी चाहिए। किंतु सर जार्ज ग्रियर्सन ने गोस्वामी जी की कुछ तिथियों के विषय मे निर्धारण करते हुए इस के संबंध मे लिखा है[1]—"यदि यह तिथि शुद्ध है तो तुलसीदास ने 'सतसई' की तिथि के लिखने में प्रचलित संवत् वर्ष का व्यवहार किया न कि विगत संवत् वर्ष का। पंडित सुधाकर द्विवेदी इस बात की ओर संकेत करते हैं कि यह उस कवि की प्रणाली के विरुद्ध है और उस दोहे की प्रामाणिकता पर जिस में वह तिथि आती है, सब से अधिक संदेह उत्पन्न करता है।"

'मूल गोसाईंचरित' में वेणीमाधवदास ने 'सतसई' का रचनाकाल यों दिया है—

माधव सित सिय जनम तिथि, ब्यालिस संवत बीच।
सतसैया बरनै लगे प्रेम-बारि तें सींच ॥ ५६ ॥

इस दोहे की पहिली पंक्ति का पूर्वार्द्ध 'सतसई' से उद्धृत उपर्युक्त दोहे की दूसरी पंक्ति का पूर्वार्द्ध है और प्रथम पंक्ति का उत्तरार्द्ध उक्त दोहे की पहिली पंक्ति का आशय है। इस प्रकार, 'मूल गोसाईंचरित' भी 'सतसई' के दोहे की प्रामाणिकता का समर्थन करता है। अतएव, १६४२ की तिथि अशुद्ध न माननी चाहिए।

फिर भी पं० सुधाकर द्विवेदी का यह कथन कि गोस्वामी जी की प्रणाली प्रचलित संवत् वर्ष न दे कर विगत संवत् वर्ष देने की थी विचारणीय है।

---

[1] 'इंडियन ऐंटिक्वेरी', १८९३ ई०, पृ० ९५

गोस्वामी जी ने केवल तीन ही ग्रंथों में अपना रचना काल दिया है : 'मानस', 'सतसई' और 'पार्वतीमंगल' में। 'मानस' की तिथि दोनों प्रणालियों से शुद्ध ठहरती है फिर भी प्रचलित संवत की अधिक संभावना है।[1] 'सतसई' का विषय सामने ही है। रहा 'पार्वतीमंगल' के विषय में सो उस में गोस्वामी जी ने केवल जय संवत दिया है जिसे विगत संवत वर्ष की प्रणाली से ही मानना ठीक होगा।[2]

ऊपर की तिथियों के अतिरिक्त तीन और भी हैं जिन पर विचार किया जा सकता है —

(क) 'रामाज्ञा' की प्रति पर लिखी हुई तिथि—ज्येष्ठ शु० १० सं० १६५५ रविवार।

(ख) पंचायतनामा—सं० १६६९ कुआर सु० १३ वार शुभ दिन। और,

(ग) वाल्मीकिरामायण की हस्तलिखित प्रति पर लिखी हुई तिथि—मार्ग शीर्ष शु० ७ रविवार सं० १६४१।

इन में से पहिली को एक प्रामाणिक साक्ष्य तभी माना जा सकता है जब उसे गोस्वामी जी के हाथ की लिखी निश्चित कर लिया जाय। दूसरी उस दशा में प्रमाण हो सकती है जब शुभदिन का अर्थ रविवार सुनिश्चित हो। और, तीसरी की गणना ही कदाचित् अभी तक पूरी नहीं की गई है। अतएव, इन तिथियों के आधार पर भी गोस्वामी जी की तिथि देने की प्रणाली का दृढ़ता-पूर्वक निश्चय नहीं किया जा सकता। इस प्रकार, केवल दो उदाहरणों के आधार पर यह मान लेना कि गोस्वामी जी की एक विगत संवत वर्ष देने की ही प्रणाली थी कदाचित् बिल्कुल ठीक न होगा।

'सतसई' की प्रामाणिकता के विषय में कुछ वर्षों पूर्व तक बड़ा मतभेद था यद्यपि 'मूल गोसाईंचरित' के प्रकाशित होने[3] के पीछे से वह अधिकतर प्रामा-

---

[1] इसी निबंध का पृष्ठ २६ का फुटनोट।

[2] वही, पृष्ठ ३१।

[3] 'मूल गोसाईंचरित' प्रकाशित सन् १९२५ नवल किशोर प्रेस से

णिक मानी जाने लगी है। पं० सुधाकर द्विवेदी ने 'सतसई' की प्रामाणिकता पर मुख्यतया चार कारणों से संदेह प्रकट किया था।[१]

(क) रचनातिथि गोस्वामी जी की प्रणाली के विपरीत दी हुई है।

(ख) पं० रामगुलाम द्विवेदी की गुरुपरंपरा ने इसे तुलसी ग्रंथावली में नहीं माना है।

(ग) दृष्टिकूट दोहों की रचना गोस्वामी जी की प्रकृति के अनुकूल नहीं थी—कम से कम उन की इतनी बड़ी संख्या तो उस के विरुद्ध अवश्य थी।

(घ) 'सतसई' की शैली (मुख्यतया शब्दभंडार और शब्दों के रूप) गोस्वामी जी के अन्य ग्रंथों की शैली से पूरा मेल नहीं खाती।

इन चारों में से प्रथम के विषय में ऊपर कहा जा चुका है। दूसरा 'सतसई' को प्रामाणिक मानने में विशेष अड़चन नहीं डालता। दृष्टिकूट दोहों की संख्या तो 'दोहावली' में ही काफ़ी बड़ी है और 'दोहावली' की प्रामाणिकता पर संदेह नहीं किया जाता अतएव, तीसरा कारण भी महत्त्वपूर्ण नहीं है। चौथा अवश्य कुछ अधिक ध्यान देने योग्य है किंतु कुछ तो पाठ की अशुद्धि, कुछ प्रक्षिप्त अंश तथा कुछ विषय की प्रकृति में भेद होते हुए 'सतसई' की शैली अन्य ग्रंथों से पूरा मेल नहीं खाती तो विशेष आश्चर्य न होना चाहिए। इस के अतिरिक्त, गोस्वामी जी ने दो तीन बोलियों का बड़ा सफल प्रयोग किया है बहुत संभव है कि 'सतसई' में वे उस बोली की ओर विशेष झुक गए हों जिसे उन्हों ने अपने अन्य ग्रंथों में विशेष महत्त्व नहीं दिया।

दूसरी ओर इतने काफ़ी प्रमाण हैं कि उन से सहज में ही 'सतसई' की प्रामाणिकता का अनुमान किया जा सकता है। 'दोहावली' की प्रामाणिकता असंदिग्ध सी है, उस के ५७३ दोहों में से १३१ 'सतसई' के हैं और 'दोहावली' की रचना निश्चय ही १६८० के लगभग हुई[२] तब यह कब संभव है कि गोस्वामी

---

[१] 'इंडियन ऐंटिक्वेरी' १८९३ ई०, 'नोट्स आन् तुलसीदास' (पुस्तकाकार) पृ० ३९, ४०।

[२] इस निबंध में आगे देखिए

जी के अतिरिक्त किसी अन्य तुलसी या तुलसीदास ने जो गोस्वामी जी के ही बराबर विद्वान भी था, 'दोहावली' से दोहे चुरा कर सं० १६४२ में ही 'सतसई' में रक्खे ? सतसई का एक दोहा इस प्रकार है—

रविचन्चल और गंगाद्रव बीच सुवास बिचारि।
तुलसिदास आसन करै अवनिसुता उर धारि ॥ २—५७ ॥

जिस का अर्थ यह है कि लोलार्क और गंगा के बीच (असीघाट पर) रहना उत्तम समझ कर तुलसीदास सीता का ध्यान करता हुआ आसन करता है। क्या यह संभव है कि गोस्वामी जी के साथ ही १६४२ में उन की ही भाँति विद्वान असीघाट पर रहता रहा हो ? फिर पं० सुधाकर द्विवेदी जी की तुलसी नामक किसी गाजीपुरी कायस्थ के 'सतसई' का रचयिता होने की निराधार कल्पना का क्या मूल्य हो सकता है इस का निर्णय पाठक स्वयं कर लें। अथवा, दूसरा समाधान, कि गोस्वामी जी ने ही संभव है इस दूसरे विद्वान की कृतियों की चोरी कर 'दोहावली' के अन्य दोहों से मिलाया हो, संभव है कोई प्रस्तुत करे किंतु ऐसा कोई कारण नहीं दीखता कि 'मानस', 'गीतावली', 'विनय' और 'कवितावली' का प्रतिभासंपन्न रचयिता दूसरे कवि की कृतियों को अपनाकर सुयश-साधन का प्रयत्न करे। इस के अतिरिक्त, 'दोहावली' में जो दोहे हैं उन का कोई क्रम नहीं है, वे अस्तव्यस्त हैं, किंतु 'सतसई' में वे अपने अपने स्थान पर ऐसे बैठे हुए हैं कि उन्हें निकाल देने में प्रबंध-सूत्र टूट जाता है। क्या यह तथ्य इस बात का पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि वास्तव में वे दोहे सतसई की ही माला के रत्न हैं जो 'दोहावली' में इतस्ततः फेंक दिए गए हैं ?

पार्वतीमंगल

'पार्वतीमंगल' में ग्रंथकार ने उस का रचना-काल इस प्रकार दिया है—

जय संबत फागुन सुदि पाँचै गुरु दिनु।
अस्विनि बिरचेउँ मंगल सुनि सुख छिनु छिनु ॥ ५ ॥

'(मैंने) जय संवत् की फाल्गुन शु० ५ वार गुरुवार को अश्विनी नक्षत्र में 'मंगल' ('पार्वतीमंगल') की रचना की।' पं० सुधाकर द्विवेदी ने गणना कर के बताया था कि यह पूरा योग सं० १६४३ (विगत सं० वर्ष) में ही पड़ता है

अतएव उक्त तिथि को पार्वती-मंगल का रचना-काल मानना चाहिए।[1] किंतु, इस के विपरीत वेणीमाधवदास ने इस की रचना के सं० १६६९ में होने का उल्लेख किया है[2] जो स्पष्ट ही न केवल गणना वरन् शैली के भी साक्ष्य से अशुद्ध ठहरता है। 'विनयपत्रिका', 'बरवै', 'बाहुक' तथा 'कवितावली' के अंतिम अंश की, जो गोस्वामी जी की अंतिम रचनाओं में से हैं, शैली इतनी प्रौढ़, सुगठित, तथा व्यंजना-पूर्ण है कि स्पष्टतः उन की श्रेणी में 'पार्वतीमंगल' को नहीं रक्खा जा सकता। 'पार्वतीमंगल' की शैली निश्चय ही माध्यमिक है—उस में लालित्य पर्याप्त है और भाषा तथा भावों का सामंजस्य बराबर बराबर का है।

'मानस' में शिव-विवाह की जो कथा दी हुई है मुख्य अंशों में 'पार्वती मंगल' की भी कथा वही है। दोनो रचनायें इतनी मिलती जुलती हैं कि कितने ही स्थलों पर दोनों में एक ही शब्दसमूह और एक ही वाक्य-विन्यास मिल जाता है। फिर भी जहाँ विभिन्नता है उस पर ध्यान देना चाहिए।

पार्वती के तप का वर्णन करते हुए 'मानस' में लिखा है—

> संवत सहस मूल फल खाये। सागु खाइ सत बरष गवाँये॥
> कछु दिन भोजन बारि बतासा। किये कठिन कछु दिन उपवासा॥
> बेलपाति महि परइ सुखाई। तीनि सहस संवत सो खाई॥
> पुनि परिहरे सुखानेउ परना। उमहि नाम तब भएउ अपरना॥

'पार्वतीमंगल' जो इसी का वर्णन है वह इस प्रकार है—

> नींद न भूख पियास सरिस निसि बासरु।
> नयन नीर, मुख नाम पुलकु तनु हिय हरु॥४१॥

---

[1] गणना से फाल्गुन शु० ५ अश्विनी नक्षत्र के योग में गुरुवार १६४३ में पड़ता है और १६४३ का फाल्गुन जय-संवत् के बाहर पड़ता है, किंतु फिर भी जय संवत् की समाप्ति १६४३ में हुई इसलिये विगत सं० वर्ष की प्रणाली के अनुरूप, और जैसे किसी दिन की तिथि वह मानी जाती है जो उस दिन में समाप्ति पावे, १६४३ को भी गोस्वामी जी ने जय संवत् मान लिया है।

[2] 'मूल गोसाईं चरित', दोहा ९४ (नवल किशोर प्रेस)।

कबहुँ मूल फल असन, कबहुँ जल पवनहिं ।

सूखे बेल के पात खात दिन गवनहिं ॥४२॥

नाम अपरना भयो परन जब परिहरे ।

नवल धवल कल कीरति सकल भुवन भरे ॥४३॥

'मानस' के वर्णन में इन व्रतों का लंबा चौड़ा समय दिया हुआ है किंतु 'पार्वतीमंगल' के वर्णन में उस का अभाव है। किंतु, दोनों में कौन अधिक सौम्य वर्णन है इस का निश्चय पाठक स्वयं कर सकते हैं।

'मानस' में राम आ कर शिव को पार्वती के साथ विवाह कर लेने का आदेश करते हैं और शिव उसे किसी न किसी प्रकार मान लेते हैं। 'पार्वती-मंगल' में यह घटना नहीं है। 'मानस' में राम का बीच में पड़ना कदाचित् 'रामचरितमानस' में इस कथा के संमिलित किए जाने के कारण है अन्यथा उस का कोई विशेष प्रयोजन नहीं था।

'मानस' में पार्वती के प्रेम की परीक्षा सप्तर्षियों द्वारा कराई गई है किंतु 'पार्वतीमंगल' में शिव ने स्वयं बटु का वेश धारण कर लिया है। ऐसा ज्ञात होता है कि 'मानस' की रचना के पीछे 'कुमारसंभव' का अध्ययन करने पर गोस्वामी जी को यह अनुचित प्रतीत हुआ कि पार्वती के इतने घोर तप करने पर भी उस के प्रेम की परीक्षा शिव दूसरों को भेज कर लेते—सो भी एकांत-प्रेम की। क्या यह पार्वती के आदर्श प्रेम और बलिदान का अपमान न था? अतएव, यह भेद उचित ही हुआ।

'मानस' में सप्तर्षियों के साथ पार्वती ने खुले मुँह वाद-विवाद किया है, किंतु 'पार्वतीमंगल' में बटु की बातों का उत्तर सखी द्वारा उन्हों ने दिया है। इस वार्ता में सखी की सहायता बड़ी विदग्धता पूर्ण है। 'मानस' में न यह सुंदरता ही आने पाई है और न शिष्टता ही। 'पार्वतीमंगल' में बटु ने जब अपना कथन समाप्त किया तब पार्वती कहती हैं—

आलि ! बिदा करु बटुहि बेगि बड़ बरबर ॥६९॥

भइ बड़ि बेर आलि कहुँ काज सिधारिहि ।

बकि जनि उठइ बहोरि कुजुगति सवाँरिहि ॥७२॥

'आली ! बटु को शीघ्र विदा करो यह बड़ा बकवादी है। .... आली इसे बक बक करते बड़ी देर हुई अच्छा होता कि यह कहीं अन्यत्र अपना काम देखता। मुझे भय है कि कहीं यह फिर न बक उठे और शांति-भंग कर दे।'

इन शब्दों में कितने भाव भरे हुए हैं ! सहृदय पाठक स्वयं देखें कि 'मानस' की मुहाँमुही और 'पार्वतीमंगल' की इस वार्ता में उन्हें कौन सी अधिक प्रिय है।

'मानस' में सप्तर्षि परीक्षा ले कर अंतर्द्धान हो जाते हैं और 'पार्वतीमंगल' में शिव साक्षात् प्रकट होते हैं, दोनों में कितना अंतर है ! तपस्या का फल, प्रेम की प्रतिमा, प्राणों की अनंत याचना का स्वरूप एक में नेत्रों के आगे प्रत्यक्ष हो रहा है। शिव कहते हैं—

> हमहिं आजु लगि कनउड़ काहु न कीन्हेउ।
> पार्वती ! तव प्रेम मोल मोहिं लीन्हेउ ॥ ८१ ॥

कितना प्रेम-विभोर आत्म-समर्पण है, और दूसरे में दूर से ही परीक्षा के प्रश्न-पत्र भेजे गए हैं !

जिस प्रकार 'कुमार-संभव' में (सर्ग ७—श्लो० ३२–३४) शिव जी ने विवाह के अवसर पर अपना कुवेश बदल दिया है और वे सुंदर शिव हो गए हैं उसी प्रकार 'पार्वतीमंगल' में भी उन्हों ने गणों समेत रूप-परिवर्तन किया है—

> श्रीपति सुरपति बिबुध बात सब सुनि सुनि।
> हँसहिं कमल कर जोरि मोरि मुख पुनि पुनि ॥ १२३ ॥
> लखि लौकिक गति संभु जानि बड़ सोहर।
> भए सुंदर सत कोटि मनोज मनोहर ॥ १२४ ॥
> नील निचोल छाल भइ, फनि मनि भूषन।
> रोम रोम पर उदित रूप मय पूषन ॥ १२५ ॥
> गन भए मंगल वेष मदन मन मोहन।
> सुनत चले हिय हरषि नारि नर जोहन ॥ १२६ ॥
> संभु सरद राकेस नखत गन सुरगन।
> जनु चकोर चहुँ ओर बिराजहिं पुर जन ॥ १२७ ॥

'मानस' में यह रूप-परिवर्तन नहीं है और शिव अंत तक वैसे ही कुरूप बने रहे हैं। उस में नारद आते हैं और वे पार्वती के माता-पिता को समझाते है कि शिव परमेश्वर हैं और पार्वती के पूर्व जन्म में भी उस के पति थे अतएव, उन का पाणिग्रहण शिव के साथ वे सहर्ष करा दें। नारद का वचन मान कर शिव-पार्वती का विवाह बड़े आनंदपूर्वक कर दिया जाता है। यहाँ पर भी 'मानस' और 'पार्वतीमंगल' की कथा में किस में अधिक सुंदरता है इस का निर्णय पाठक स्वयं कर सकते हैं।

गोस्वामी जी ने 'जानकीमंगल' में सीताराम-विवाह लिखा ही था शिव-विवाह भी सोहर छंदों में लिखने की उन्हें इच्छा बनी थी उस की पूर्ति उन्हों ने 'पार्वतीमंगल' की रचना कर की। जिस प्रकार 'मानस' में सीताराम-विवाह 'जानकी मंगल' की अपेक्षा कहीं सुघर रूप में बन पड़ा है वैसे ही 'पार्वतीमंगल' में शिव-विवाह भी 'मानस' की अपेक्षा कुछ अधिक सुंदरता पूर्वक वर्णित हो सका है।

'पार्वतीमंगल' की प्रामाणिकता पर संदेह करते हुए मिश्रबंधु महोदयों ने लिखा है[1]—"यद्यपि पार्वतीमंगल की रचना भी जानकी-मंगल से मिलती है तथापि हम उसे कल्पित समझते हैं। मानस में गोस्वामी जी ने ये दोनों विवाह कहे हैं, परंतु पार्वती-विवाह की दुरवस्था और जानकी-विवाह की उत्तमता तथा लोक-प्रियता दिखा कर अपने मुख्य उपास्य देव रामचंद्र की प्रच्छन्न रूप से महिमा तथा प्रभाव प्रदर्शित किया है। यदि गोस्वामी जी ने पार्वती-मंगल भी बनाया होता तो वही बात यहाँ भी होती।" इस कथन के विषय में, पहिले तो कदाचित् यही मानना सरल नहीं है कि 'मानस' में गोस्वामी जी ने शिव-विवाह की दुरवस्था दिखाई है, फिर इसे प्रमाण मान कर यह कथन कि इस प्रकार उन्हों ने प्रच्छन्न रूप से अपने मुख्य उपास्य देव रामचंद्र की महिमा तथा प्रभाव प्रदर्शित किया है, किस प्रकार माना जा सकता है? वस्तुस्थिति यह है कि शिव को गोस्वामी जी ने कहीं भी राम से नीचा दिखाने का प्रयास नहीं किया है—जिस

---

[1] 'हिंदी नवरत्न', पृ० ८८

है प्रमाणस्वरूप सेतुबंध रामेश्वर की 'मानस' में स्थापना तथा 'विनयपत्रिका' का हरिशंकरी छंद पर्याप्त हैं—यद्यपि प्रसंगवश अन्य प्रमाण भी आगे मिलेंगे। कहाँ तो गोस्वामी जी शैवों तथा वैष्णवों में सद्भाव तथा ऐक्य-साधन करने वाले प्रसिद्ध और कहाँ यह विचार कि उन्हों ने राम तथा शिव को प्रतिस्पर्द्धा की भावनाओं से चित्रित किया है! दूसरे, यह कथन कि 'यदि गोस्वामी जी ने 'पार्वतीमंगल' भी बनाया होता तो यही बात यहाँ भी होती। कहाँ तक उपयुक्त है यह 'मानस' तथा 'गीतावली' की तुलना से भली भाँति सिद्ध हो जाएगा[1]। वस्तुस्थिति तो यह है कि यदि वही बात उसे पुनः कहना हो तो महाकवि अपनी शक्ति तथा दूसरों का समय बार बार क्यों नष्ट करे—सदैव कुछ नवीनता ले कर महाकवि उपस्थित होता है क्योंकि उस में प्रतिभा होती है। कवि की गति स्वच्छंद होती है और उस की प्रतिभा का विकास भी स्वभावतः होता है फलतः उपर्युक्त कथन 'पार्वतीमंगल' को कल्पित सिद्ध करने के लिये यथेष्ट नहीं हो सकता।

गीतावली

'गीतावली' के विषय में वेणीमाधवदास लिखते हैं—

सोरह सै सोरह लगे कामद गिरि ढिग बास।
सुभ एकांत प्रदेस महँ, आए सूर सुदास॥ २९॥
....

कवि सूर दिखायउ सागर को। सुचि प्रेम कथा नटनागर को।
....

तड़के इक बालक आन लग्यो। सुठि सुंदर कंठ सों गान लग्यो।
....

तिसु ताहि बनावन गीत लगे। उर भीतर सुंदर भाव जगे।
जब सोरह सै बसु बीस चढ़यो। पद जोरि सबै सुचि ग्रंथ गढ़यो।
तिसु रामगीतावलि नाम धर्यो। अरु कृष्णगितावलि राँचि सर्यो॥ ३०॥

---

[1] देखिए इसी निबंध में 'गीतावली' विषयक वर्णन।

तात्पर्य यह कि 'गीतावली' के छंदों की रचना १६१६ से १६२८ तक के बीच हुई और उन पदों का संग्रह १६२८ में हुआ। इस प्रकार, 'मूल गोसाईं चरित' के अनुसार 'गीतावली' (और 'कृष्ण गीतावली') गोस्वामी जी की सर्व प्रथम रचना है। किंतु प्रत्येक विचार-शील पाठक को इस कथन को स्वीकार करने में संकोच होगा।

'मानस' तथा 'गीतावली' की कथाओं की तुलना करने पर कुछ स्थलों पर कथाभेद मिलते हैं। ऐसे कथाभेदों का समाधान मुख्यतया चार प्रकार से होता है—

(१) गीति-काव्य में वृहत्कथाओं की गुत्थियाँ नहीं रक्खी जा सकतीं। वस्तुस्थिति तो यह है कि गीति-काव्य कथा का उपयुक्त माध्यम हो नहीं सकता। हाँ, यदि कथा की एक सामान्य पृष्ठभूमि ले कर विशेष स्थलों पर तीव्र-भाव-व्यंजना की गीति-काव्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति का नियंत्रण ढीला कर दिया जाया करे तो गीति-काव्य का उद्देश्य किसी अंश में अवश्य पूरा हो सकता है।

(२) कथनोपकथन भी गीति-काव्य में नहीं बन सकता, वह गीति-काव्य की सभी विशेषताओं पर पानी फेर देगा।

(३) गीति-काव्य की रचना स्फुट-शैली पर होती है। किसी कथा की पृष्ठभूमि ले कर यह संभव है कि एक कथांश की पूर्ति के ४।६ या अधिक पद एक साथ निर्मित हों किन्तु वास्तविक गीति-काव्य में ऐसी चेष्टा उस का महत्त्व घटा देगी। फलतः अधिकतर विभिन्न पदों की रचना विभिन्न समयों पर होती है और वे पीछे एक सूत्र में यथासंभव संग्रहीत कर दिए जाते हैं। यदि कोई कथा उन की पृष्ठभूमि में होती है तो यह सूत्रीकरण सरल होता है। किंतु, इस प्रकार, स्फुट-रचना में यह अनिवार्य है कि कथा के कुछ अंश छूट जाया करें।

(४) उपर्युक्त समाधानों की अपेक्षा मुख्यतर कारण कवि की रुचि और उस के हृदय की भावनाओं में परिवर्तन है। यह परिवर्तन अधिकतर विकास की ओर होता है। यदि कवि की रुचि एक सी बनी रहे और उस की भावुकता का विकास न हो तो उस क्या है कि एक ही वस्तु वह

भिन्न भिन्न छंदों तथा शैलियों में रख कर अपनी आयु तथा समाज का समय नष्ट करे। साधारण कवि, कदाचित्, आर्थिक लोभ अथवा सुयशलाभ की आकांक्षा से संभव है ऐसा करे किंतु महाकवि इतने नीचे कदापि नहीं उतर सकता। नवीनता और मौलिकता उस के प्राण हैं। जिस समय वह देखेगा कि उस ने अपना पूरा संदेश दे डाला है वह मौन हो रहेगा।

यहाँ हम 'मानस' की तुलना से 'गीतावली' के मुख्य मुख्य कथा-भेदों पर विचार करेंगे और देखेंगे कि उन में से कौन उपर्युक्त समाधानों में से किस के आश्रित है—

'मानस' में, स्वयंबर के प्रसंग में जनक अपने निराश वचनों का लक्ष्मण द्वारा उत्तर पा कर सकुचित होते हैं। विश्वामित्र उसी समय राम को धनुर्भंग के लिये आज्ञा देते हैं, जिस के पालन के लिये राम हर्षविषादरहित उठ खड़े होते हैं और मंच पर बालसूर्य की सी शोभा पाते हैं। किन्तु, 'गीतावली' में विश्वामित्र की आज्ञा तथा राम के रंग-मंच पर खड़े होने के बीच तीन पद आते हैं। एक[1] में जनक कहते हैं, 'आप ने जो आज्ञा दी है उस से मेरे जी में दुविधा है। आप ही विचारिए कि रावण तथा बाणासुर जिस धनुष को देख कर चले गए उसे तोड़ने के लिये इन सुकुमार बालकों को कैसे कहा जाए। यह जो साहस ये कर रहे हैं इस में या तो इन्हें आप के भरोसे का बल, अथवा कोई रहस्य, या कुल का प्रभाव या केवल लड़कपन है। यह भी संभव है कि विधि ने कन्या, सत्कीर्ति तथा विश्वविजय कुल इन्हीं के लिये निर्मित की हो। अस्तु, जो भी हो, राम की बात ईश्वर करे बनी रहे—जिस की करतूतों के आप मूल कारण हैं।' ऐसा सुन कर विश्वामित्र ने जनक की भूरि भूरि प्रशंसा की यही दूसरे पद[2] का विषय है। विश्वामित्र के इन वचनों को सुन 'भगवान के हृदय में कृपा-कामधेनु हुलसी किंतु प्रण-शिशु को देख कर मर्यादा बंधन के भीतर ही रही।' फिर भी उन से जनक की सराहना किए बिना न रहा गया

---

[1] 'गीतावली,' बाल०, पद ८४।

[2] वही, ८५

यही तीसरे पद का विषय है।[१] यह सराहना बड़े महत्त्वपूर्ण शब्दों मे की गई है। 'मानस' मे यह कुल बीच का प्रसंग नही आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि गोस्वामी जी ने 'मानस' रचना के पश्चात् किसी समय यह अनुभव किया कि जनक ऐसे योगिराज की यथेष्ट सराहना 'मानस' मे भगवान ने श्रीमुख से नही की है—जो एक त्रुटि सी है—दूसरे लक्ष्मण के दर्पपूर्ण वचनों के बाद ही तुरंत विश्वामित्र के आदेश से रंगमंच पर जा कर धनुष को तोड़ डालना आवेश सा सिद्ध करता है—जिस मे जनक के हृदय के चूर चूर होने की कोई परवा नहीं की गई है। अतएव, 'गीतावली' का यह कथाभेद उपर्युक्त समाधानों में से चौथे के आश्रित है।

एक दूसरा और विवादग्रस्त कथा-भेद परशुराम-मिलन का है। 'मानस' मे धनुर्भंग के पीछे ही सभा मे परशुराम आते हैं और लक्ष्मण से उन का घोर वाद-विवाद होता है। किंतु 'गीतावली' में इस प्रसंग को महत्त्व नहीं दिया गया है और वह अनुपस्थित है। अन्य प्रसंगों मे परशुराम-मिलन का उल्लेख छः वार हुआ है—

(क) दुसह रोषमूरति भृगुपति अति नृपति निकर खयकारी।
क्यों सौंप्यो सारंग हारि हिय करी है बहुत मनुहारी॥ बाल० १०७

(ख) परसुराम से सूर सिरोमनि पल में भए खेत के धोखे॥ सुंदर० १२

(ग) सुभट सिरोमनि कुठारपानि सारिखेहू लखी औ लखाई
इहाँ किए सुभ सामैं। ॥ सुंदर० २५

(घ) ब्याही जेहि जानकी जीति जग हर्‌यो परसुधर दापु॥ लंका० १

(ङ) परसुराम जिन किए महामुनि जे चितए कबहूँ न कृपा हैं॥ उत्तर० १३

(च) जनक सुता समेत गृह आवत परसुराम अति मदहारी॥ उत्तर० ३८

ऊपर के प्रथम पाँच उल्लेख घटना पर कोई स्पष्ट प्रकाश नहीं डालते केवल छठा और अंतिम उद्धरण यह कहता है कि परशुराम से बारात के लौटते समय मार्ग में भेंट हुई। किंतु, यह अंश जिस पद का है वह सं० १६६६ की हस्त-

---

[१] 'गीतावली', बाल०, पद ८६

लिखित 'विनयावली' की एक प्रति का ८१वाँ पद है। यही 'विनयावली' पीछे 'विनयपत्रिका' हो गई—जो दूसरा संस्करण निश्चय ही १६६६ के पीछे हुआ होगा—और कई पद उस में से निकाल दिये गए। ऐसे छः पद अभी तक ज्ञात हैं और इन छः में से पाँच 'गीतावली' में इस समय मिलते हैं। इन पदों में विनय की भावना के स्थानपर वर्णन—कथावर्णन अथवा वस्तुवर्णन—प्रधान है, कदाचित् इसीलिये उन का निर्वासन 'विनयावली' से हुआ और वे 'गीतावली' में रखे गए किंतु 'गीतावली' में भी वे १६६६ के पीछे मिलाए गए यह स्पष्ट है। इन्हीं पाँच पदों मे से एक मे पूरा राम-चरित्र संक्षेप में वर्णित है और उसी पद से यह छठा उद्धरण लिया गया है। अतएव, 'गीतावली' के रचना-काल-निर्धारण में यह विशेष महत्त्व नहीं रखता। अथवा यदि यह थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाए कि यह पद 'गीतावली' में भी पहिले ही से था तो उस का समाधान यह है कि 'गीतावली' स्फुट रचना है और यह पद निस्संदेह 'मानस' से पूर्व रचा गया होगा और संग्रह के समय यह भी रख लिया गया।

किंतु परशुराम-प्रसंग के छोड़ देने के दो कारण संभव हैं। प्रथम तो यह कि 'गीतावली' के स्फुट रचना होने के कारण यह छूट गया हो—अर्थात् उपर्युक्त समाधानों मे से तीसरा—अथवा यह भी संभव है कि यह जान बूझ कर न रखा गया हो। इस पिछली अवस्था में दो बातें हो सकती है, प्रथम तो यह कि गीतिकाव्य, विशेषतः पदों में कथोपकथन जँचता नहीं; और दूसरे यह भी संभव है कि गोस्वामी जी ने कदाचित् यह अनुभव किया हो कि परशुराम ऐसे अवस्था तथा ख्याति में श्रेष्ठ व्यक्ति का भरी सभा में जैसा व्यंग और परिहास-पूर्ण उत्तर दे कर लक्ष्मण ने सत्कार 'मानस' में किया वह ऐसे श्रेष्ठ समाज को ध्यान में रखते हुए—जिस मे पृथ्वीमंडल के नरेश एकत्र थे—कुछ लड़कपन लगता है। परशुराम साधारण व्यक्ति न थे उन की गणना अवतारों में की जाती है, इस दशा मे क्या एक राजकुमार के मुँह से वह शब्दावली शोभा देती है जिस के द्वारा 'मानस' में लक्ष्मण ने उन का सत्कार किया है?

'गीतावली' में राम लक्ष्मण के अतिरिक्त अन्य दो भाइयों के विवाह का भी उल्लेख नहीं है—इस का कारण निश्चय ही उपर्युक्त समाधानों में से तीसरा है

'मानस' में जो सुंदर संवाद केवट तथा राम के बीच हुआ है और भरत की चित्रकूट-यात्रा में केवटों ने जो मार्गावरोध का प्रयत्न किया है 'गीतावली' में नहीं है इस का समाधान उपर्युक्त में से पहिले से होता है।

इसी प्रकार 'गीतावली' में राम तथा निषाद के मिलने का भी प्रसंग नहीं आया है। किंतु इस का कारण तीसरा समाधान ज्ञात होता है क्योंकि भरत का निषाद से मिलना वर्णन करते हुए निषाद को राम-सखा द्वारा अभिहित किया गया है और उस ने भरत को राम के कुशल का सब समाचार भी दिया है—

ता दिन शृंगबेर पुर आये।

रामसखा तें समाचार सुनि बारि बिलोचन छाये॥ अयोध्या०, ६८

चित्रकूट मे जनक जी नही जाते और न वशिष्ठजी के ही जाने का कोई उल्लेख है। चित्रकूट में राम-लक्ष्मण केवल दोनों भाइयों से मिलते हैं। माताओं से भी भेंट का कोई उल्लेख नहीं हुआ है किंतु माताएँ—कम से कम कौशिल्या—अवश्य चित्रकूट गई थीं, जैसा पुत्रवियोग से व्यथित होने पर वे कहती हैं—

हाथ मींजिबो हाथ रह्यो।

लगी न संग चित्रकूटहु ते ह्याँ कहा जात बह्यो॥ अयोध्या०, ८४

इस प्रकार के कथाभेदों का उत्तरदायित्व मुख्यतया प्रथम समाधान पर है यद्यपि तीसरा भी उस में कभी कभी भागी हो जाता है किंतु, ऐसा भी ज्ञात होता है कि चतुर्थ समाधान कभी कभी अधिक उत्तरदायी होता है—जनक तथा वशिष्ठ का चित्रकूट में उपस्थित रहना बहुत कुछ इसी कारण ज्ञात होता है। चित्रकूट में भरत ने जैसी अपनी आंतरिक व्यथा कही है और राम ने जिन शब्दों में अपनी परिस्थिति का परिचय दिया है—यथा

निज कर खाल खैंचि या तनु तें जो पितु पग पानही करावौं।

होउँ न उरिन पिता दसरथ तें, कैसे ताके बचन मेटि पति पावौं॥ अयोध्या०, ७२

—उन्हें पढ़ने के अनंतर 'मानस' की शिष्टाचार-प्रचुरता और धर्म-संकट की उलझनें फीकी लगती हैं; गीतिकाव्य की तीव्र-व्यंजना के सामने महाकाव्य के भावद्वंद्वों की आभा क्षीण हो जाती है। 'गीतावली' में चित्रकूट-सभा नहीं है, उस में दो हृदय निस्संकोच एक दूसरे से प्रतिबिंबित होते हैं और करुणा का एक

सागर लहराता हुआ हमारी दृष्टि में आता है। भरत को 'गीतावली' मे अपना कोई वकील न मिलने के कारण, जिन शब्दों मे अपनी दारुण दशा का चित्र खीचना पड़ा है उन से घोर आंतरिक वेदना, अपार नैराश्य, कठोर पश्चात्ताप तथा गहरी व्याकुलता स्वतः झलकती है। 'मानस' तथा 'गीतावली' के चित्रकूटों के वातारण कुछ भिन्न हैं—गीतावली के वन्य सारल्य के स्थान पर 'मानस' मे नागरिक शिष्टाचार है।

'गीतावली' में रामलक्ष्मण के चित्रकूट से पंचवटी प्रस्थान की सूचना निषादराज ने भरत को एक पत्रिका द्वारा दी है।[1] मानस मे यह नहीं है। यह पत्रिका उपयुक्त है और इस कथाभेद का समाधान उपर्युक्त चौथे कारण से होता है। 'गीतावली' में कौशिल्या पुत्र-वियोग से अत्यंत व्यथित चित्रित हुई है और वे इस विषय में विवेकमय कौशिल्या से—जैसी वे 'मानस' में चित्रित हैं—भिन्न है। वे बार बार पुत्र-वियोग से इतनी संज्ञा-रहित हो जाती हैं कि उन्हें किसी प्रकार की सांत्वना न मिले तो उन के जीवित रहने मे ही संदेह होने लगे। पहिली बार जब वे पुत्र-वियोग से व्यथित हुईं तो सतानंद द्वारा विवाह का समाचार पा पुलकित हुईं। दूसरी बार जब वे ऐसी ही व्यथित हुईं तो निषादराज की इस पत्रिका ने उन्हे सांत्वना दी; और तीसरी बार जब वे अवधि के अंत में व्याकुल हुईं तब हनुमान ने राम-लक्ष्मण के आगमन का समाचार दे कर उन्हें गद्गद किया है। इस प्रकार, गोस्वामी जी ने 'गीतावली' में विरह-व्यथा और सांत्वना इतनी सुंदरता से रक्खी है कि निस्संदेह इस से उन की सुरुचि और प्रतिभा का विकास झलकता है। अतएव, निषादराज की यह पत्री उपर्युक्त चौथे समाधान के कारण है।

'मानस' में सीताहरण के उपरांत जब राम ने लौट कर कुटी को जानकी-हीन देखा है तो वे अत्यंत व्याकुल हुए हैं और लक्ष्मण के बहुत समझाने पर भी चेतना ने उन का पूरा साथ नहीं दिया है और वे लता-पत्रों से पूछते हुए चले हैं। किंतु 'गीतावली' मे लक्ष्मण के समझाने तथा लता-पत्तियों से पूछने के

---

[1] , अयोध्या०, ८९

बीच देवताओं द्वारा सीता की सुधि मिलने का उल्लेख हुआ है—

> उठो न सलिल लिए प्रेम प्रमुदित हिये प्रिया न पुलकि प्रिय बचन कहे ।
> पल्लव सालन हेरी प्रान बल्लभा न टेरी बिरह बचन लखि लखन गहे ॥
> देखे रघुपति गति बिबुध बिकल अति तुलसी गहन बिनु दहन दहे ।
> अनुज दियो भरोसो, तौलौं है सोच खरोसो सिय समाचार प्रभु जौलौं न लहे ॥
>
> ॥ अरण्य०, १०

राम की शोचनीय गति देख कर देवताओं को बड़ा दुःख हुआ । इस पर लक्ष्मण जी ने उन्हें भरोसा दिया कि 'उन की यह अवस्था तभी तक रहेगी जब तक प्रभु को सीता का समाचार न मिलेगा ।' यह जान कर देवताओं ने सीता का समाचार दिया ।

> जब सिय सुधि सब सुरनि सुनाई ।
> भए सुनि सजग बिरह सरि पैरत थके थाह सी पाई ॥
> कसि तूनीर तीर धनु धर धुर धीर बीर दोउ भाई ।
> पंचबटी गोदहिं प्रनाम करि कुटी दाहिनी लाई ॥
> चले बूझत बन बेलि बिटप खगमृग अलि अवलि सुहाई ॥ अरण्य०, ११

इस भेद में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं । पहिले तो देवताओं का प्रभु की बिकलता से बिकल होना और उन का सीता की सुधि देना, और दूसरे पंचवटी की मातृवत् गोदी को प्रणाम कर पर्ण कुटी में आग लगा देना । दोनों कितने स्वाभाविक हैं, विशेष कर के दूसरा ! देवता—जिन के त्राण के लिये राम ने इतना कष्ट उठाया था—सामर्थ्य रखते हुए भी यदि सीता की सुधि न देते तो उन सा कृतघ्न दूसरा कौन होता ? इस के अतिरिक्त उन की अर्थसिद्धि भी तो यह सूचित करने में थी कि सीता का हरण करने वाला रावण ही है जिस ने सभी सदाशयों को सर्वदा कष्ट पहुँचाया है । किंतु, इस की अपेक्षा दूसरा कितना अधिक स्वाभाविक है ! क्या वही पर्णशाला जिस से निकल कर सीता पति के आने पर जल ले कर प्रस्तुत होती थी और मधुर वचनों से उन की क्लांति मिटाती थीं सीता-हरण के अनंतर तनिक भी सुखद हो सकती थी ? उन्हें स्मृति को जाग्रत कर विरहाग्नि की ज्वाला में वह आहुति

का कार्य करती, इसीलिये उसे भस्मीभूत कर दिया। वह स्थान अब भयंकर प्रतीत होने लगा था इसीलिये उन्हों ने पंचवटी की मातृवत् गोदी को प्रणाम कर स्थान-परिवर्तन कर दिया। अतएव, निश्चय ही इस भेद का कारण उपर्युक्त में से चौथा समाधान है।

बालि-वध तथा सुग्रीव-मैत्री का प्रसंग 'गीतावली' में नहीं है यद्यपि इन का उल्लेख अन्य प्रसंगों में कई स्थलों पर हुआ है अतएव इस त्रुटि का उत्तरदायी तीसरा समाधान है।

हनुमान जी से लंका में विभीषण की भेंट का भी प्रसंग 'गीतावली' में नहीं आया है किंतु, विभीषण की शरणागति के प्रकरण में हनुमान कहते हैं—

हिय बिहँसि कहत हनुमान सों।

सुमति साधु सुचि सुहृद विभीषन बूझि परत अनुमान सो।

हौं बलि जाउँ और को जानै कही कपि कृपानिधान सों॥ सुंदर०, ३२

हनुमान का राम से कहना कि "मेरे अतिरिक्त विभीषण को कौन जानता होगा ?" इस बात की ओर संकेत करता है कि हनुमान को विभीषण का परिचय इस कथन से पूर्व अवश्य हुआ था—यह परिचय सीता की खोज में लंका जाने पर ही हो सका होगा—अतएव, यह कथा-भेद उपर्युक्त समाधानों में से पहिले के कारण होगा।

लंका में, 'गीतावली' में, हनुमान के संमुख न त्रिजटा से सीता की अग्नि-याचना का प्रसंग आया है और न रावण से उन का संवाद ही किंतु, दूसरे का दो स्थलों पर इस प्रकार उल्लेख हुआ है—

(क) अंकनि कटु बानी कुटिल की क्रोध बिंध्य बढ़ोइ।

सकुचि सम भयो ईस आयसु कलसभव जिय जोइ॥ सुंदर०, ५

(ख) मैं सुनी बातें असैली जे कही निसिचर नीच।

क्यों न मारै गाल बैठो काल दाढ़न बीच॥ सुंदर०, ६

इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस कथाभेद का कारण उपर्युक्त समाधानों में से प्रथम अथवा चतुर्थ है।

सीता-मुद्रिका-संवाद 'मानस' में नहीं है और 'गीतावली' में है। यह

संवाद यद्यपि सरस है फिर भी कुछ अस्वाभाविक सा है। इस कथा-भेद के लिये कवि की रुचि ही उत्तरदायी है।

विभीषण राम की शरण मे जाने से पूर्व, 'गीतावली' में माता से मिल कर कुबेर के पास जाता है। कुबेर विभीषण का भाई लगता था और वह भगवद्भक्त था, उस के यहाँ शिव ऐसे परम भागवत आया करते थे। अतएव, विभीषण के लिये कुबेर की संमति लेना स्वाभाविक ही था—क्योंकि वह अपनी ही प्रकृति का था। विभीषण के लिये, रावण की लात खाने के अनंतर यह आवश्यक नहीं था कि वह अपने बड़े भाई के शत्रु की शरण मे जाता। विभीषण के चरित्र पर अधिकतर जो कलंक लगाया जाता है वह 'मानस' में सीधे विभीषण के राम की शरण मे जाने के कारण है किंतु 'गीतावली' में यह त्रुटि भली भाँति दूर कर दी गई है। विभीषण लात खा कर पहिले माता के पास जाता है। माता पहिले तो समाधान करती है और कहती है कि 'क्या हानि हुई यदि रावण ने लात मारी। वह तेरा बड़ा भाई है, पिता के समान है, यातुधान-कुल-तिलक है, उस के अपमान करने से भी तेरी बड़ी बड़ाई है। किंतु इस से विभीषण को सान्त्वना नहीं मिलती। माता ने उसे ग्लानि से उत्तम जान कर उस का सम्मान किया और शिक्षा दी कि रोष करने से दोष और सहन करने से भला होता है। फिर भी विभीषण को संतोष न हुआ तब माता ने कहा 'यहाँ से विमुख हो कर राम की शरण में जाने पर भलाई थोड़ी है किंतु लोक-मर्यादा की रक्षा करने से अत्यंत हित होगा।' विभीषण को इस थोड़ी सी भलाई में दूसरी की अपेक्षा अधिक सुख की आशा हुई उस ने यह देखा कि माता मुझे एकदम नहीं रोक रही है इसलिये वह माता के चरणों मे सिर झुका कर चल पड़ा। फिर उसे कुबेर का ध्यान आया इसलिये वह कहता है—

कृपानिधि को मिलौं पै मिलि कै कुबेरैं॥ सुंदर०, २७

कुबेर से तो मिला ही, संयोग से शंकर भगवान भी वहाँ उपस्थित हुए। भक्ति-भावना विभीषण के हृदय मे तरंगित हो रही थी फिर भी, उस के हृदय मे कुछ [illegible] था शंकर ने यह ताड़ लिया और कहा

'राम की शरण में शीघ्र जा उस के लिये शुभ अवसर की प्रतीक्षा अनावश्यक है।' इस प्रकार विभीषण माता की, भाई की, तथा शंकर की अनुमति ले कर 'गीतावली' में राम की शरण में जाता है, अतएव, वह स्वार्थांधता, ईर्षा आदि उन सभी आक्षेपों से बच जाता है जिन से वह अन्यथा दूषित होता। यह कथा-भेद उपर्युक्त समाधानों में से चौथे के आश्रित है।

लक्ष्मण-शक्ति के अनंतर हनुमान धवला-गिरि लाते समय भरत के बाण से पृथ्वी पर गिर पड़े हैं। 'मानस' में इस समय मातायें अनुपस्थित हैं किंतु 'गीतावली' में मातायें भी हैं। सुमित्रा ने लक्ष्मण-शक्ति का समाचार जब पाया उस पर जो उन्हों ने कहा है वह एक वीर-प्रसू माता का आदर्श उपस्थित करता है। 'मानस' में यह नहीं है। 'गीतावली' में एक ओर उस का एक लाल समर-क्षेत्र में धराशायी है—किंतु उसे संतोष है कि उस ने अपने स्वामी की सेवा में यह बलिदान किया है—और दूसरी ओर वह अपने दूसरे लाल को भी समर क्षेत्र के लिये आदेश करती है—

सुनि रन घायल लखन परे हैं।
स्वामिकाज संग्राम सुभट सों लोहे ललकारि लरे हैं।
सुवन-सोक संतोष सुमित्रहिं रघुपति भगति बरे हैं।
छिन छिन गात सुखात छिनहिं छिन हुलसत होत हरे हैं।
कपि सों कहति सुभाय अंब के अंबक अंबु भरे हैं।
रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर यद्यपि धनु दुसरे हैं।
तात जाहु कपि संग रिपुदमन उठि कर जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधिबस सुढर ढरे हैं।
अंब अनुज गति लखि पवनज भरतादि गलानि गरे हैं।
तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं॥ लंका०, १२

दो विरोधी भावों के अनुभाव कितनी सूक्ष्मता से मिश्रित किए गए हैं! कवि की प्रतिभा जितनी इस स्थान पर प्रस्फुटित हुई है उतनी उस की कुल कृतियों में भी दो चार स्थलों पर ही कदाचित् प्राप्त हो। अतएव, यह कथा-भेद कदाचित् चतुर्थ समाधान के कारण है।

'गीतावली' उत्तर कांड में राघव का हिंडोलना[१] तथा फाग[२] वर्णित है इस का कारण गोस्वामी जी का उस समय कृष्णचरित से प्रभावित होना है। अयोध्या कांड में चित्रकूट का वर्णन करते हुए चाँचरि की उत्प्रेक्षा का आश्रय लिया गया है[३] और हनुमान के लंका दहन के संबंध में भी फाग के रूप में सुंदर कांड में कल्पना की गई है[४]। इन सब पर कृष्ण-साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है। सूरदास के 'सूरसागर' की रचना 'गीतावली' के पूर्व हो चुकी थी और इस में संदेह नहीं कि इस ग्रंथ पर उस का स्पष्ट प्रभाव ज्ञात पड़ता है यहाँ तक कि 'गीतावली' में 'सूरसागर' के कई पद कुछ शब्दों के उलट-फेर के साथ उपस्थित हैं। वेणीमाधवदास ने तो लिखा है कि 'गीतावली' की रचना ही गोस्वामी जी ने 'सूरसागर' देख कर की।[५] वेणीमाधव दास के अनुसार 'गीतावली' उन की प्रथम रचना है अतएव परिणाम निकलता है कि कविता की स्फूर्ति ही गोस्वामी जी को 'सूरसागर' के पढ़ने पर हुई। यदि हम इसे न भी स्वीकार करें तो भी 'गीतावली' अवश्य 'सूरसागर' से प्रभावित है, इस में संदेह नहीं किया जा सकता। इसलिए उपर्युक्त भेद चौथे समाधान के कारण है।

'गीतावली' का अंतिम मुख्य कथा-भेद यह है कि उस में सीता का निर्वासन,[६] लवकुश-जन्म तथा उन की छठी, बरहीं और बाल-क्रीड़ा का भी वर्णन है, जो 'मानस' में नहीं है। ऐसा ज्ञात होता है कि कवि ने 'गीतावली' में राम-

[१] 'गीतावली', उत्तर कांड, १८ पद।

[२] वही, उत्तर कांड, २१ तथा २२।

[३] वही, अयोध्या कांड, ४७-४८ तथा ४९ पद।

[४] वही, सुंदर कांड, १६ पद।

[५] 'मूल गोसाईंचरित', दोहा ३०।

[६] 'गीतावली' में लक्ष्मण सीता को वाल्मीकि को सौंप आए हैं। जब कि वाल्मीकि रामायण तथा रघुवंश में वे सीता को गंगा पार उतार मुनि के आश्रम का मार्ग बता कर चले आए हैं। वाल्मीकि में सीता का समाचार मुनि शिष्यों से पा कर और रघुवंश में उन का रोना सुन कर उन्हें अपने आश्रम में ले गए हैं

सीता के जीवन का वह अंश भी चित्रित करना चाहा जिसे वह 'मानस' में न कर सका था—कुछ दूर गया भी—किंतु नायक और नायिका के अंतिम और क्रूर दृश्यों के चित्रण में उस ने अपनी तूलिका को जवाब देती सी पाया। उस की सुकुमार लेखनी सीता के पैरों तले रौंदे हुए जीवन तथा नायक और नायिका के नैराश्यपूर्ण आत्मघात का चित्रण न कर सकी और संत्रास्त हो रही है।

इस प्रकार कथा-भेदों और उन के समाधानों पर विचार करने से यह धारणा स्वतः हो जाती है कि 'गीतावली' 'मानस' के पीछे की रचना है। यदि हम 'गीतावली' की प्रमुख विशेषताओं पर ध्यान देते हैं तो यही धारणा इतनी अधिक दृढ़ हो जाती है कि उस में संदेह के लिये स्थान नहीं रहता।

'मानस' में न तो बाल्य-जीवन और न मातृ-पक्ष का यथेष्ट चित्रण हुआ है किंतु 'गीतावली' में ये दोनों ही पूर्ण हैं और सर्वप्रधान हैं—विशेषतः मातृ-पक्ष।

बाललीला का साधारण परिचय हमें इस प्रकार मिलता है—

आज सवेरे ही से राम अनमने हैं और भली भाँति दूध नहीं पीते हैं, ऐसा समझा जाता है कि किसी दुष्ट ने नजर लगा दी है। शीघ्र ही वशिष्ठ जी बुलाये जाते हैं और वे झाड़ फूक करते हैं। उन के, राम के मस्तक पर, हाथ रखते ही राम किलकने लगते हैं।[1]

वशिष्ठ जी बालकांड 'गीतावली' में अथर्वणी की भाँति चित्रित हैं—

आपु वशिष्ठ अथर्वणी महिमा जग जानी ॥ बाल०, ६

आगमियों का बड़ा मान है—यही सोच कर शंकर जी भी एक वृद्ध ब्राह्मण का वेश धारण कर राजकुमारों का हाथ देखने के बहाने राम के दर्शन को उपस्थित होते हैं।[2]

बालकों को सुलाने के लिये अच्छी अच्छी लोरियाँ सुनाई जाती हैं[3]

---

[1] 'गीतावली', बाल कांड, पद १२।

[2] वही; बालकांड पद १४।

[3] वही पद १६, १७, १८

और वे पालने पर झुलाये जाते हैं।[1] अब वे कुछ बड़े होते हैं और आँगन में खेलने लगते हैं, मातायें उन की क्रीड़ा में निरंतर आनंदित होती हैं[2] बालकों के आभूषणादि में कुमार आभूषित किये जाते हैं।[3] वे सवेरे सुमधुर प्रभातियों द्वारा जगाये जाते हैं।[4] अब वे और बड़े होते हैं और कभी अवध की गलियों में विहार करते हैं, कभी छोटी छोटी धनुहियाँ और तीर लिए हुए निकल पड़ते हैं, कभी चौगान खेलते हैं।[5]

इन बाल-क्रीड़ाओं में मातृपक्ष की झलक अवश्य मिल जाती है किंतु उस का पूर्ण परिचय नहीं मिलता। पूर्ण परिचय राम-लक्ष्मण से माताओं के वियुक्त होने पर मिलता है।

'मानस' में कौशिल्या एक विवेकमयी माता है। भगवान ने सतरूपा को वरदान देते हुए कहा था—

मातु विवेक अलौकिक तोरे। मिटिहि न कबहुँ अनुग्रह मोरे॥[6]

और 'मानस' में इस वचन की पूर्ण रक्षा की गई है। पूरे ग्रंथ भर में कौशिल्या जभी मोह के अभिभूत होने को होती हैं तुरंत विवेक उन्हें उस के बाहर कर देता है। इस प्रकार का निर्वाह गोस्वामी जी ने 'मानस' ऐसे कथा-काव्य में तो पूरा पूरा किया किंतु 'गीतावली' में यदि कहीं यह प्रयत्न किया गया होता निश्चय ही 'गीतावली' को गीतिकाव्य कहना ही कठिन होता, क्योंकि 'गीतावली' में वर्णन—कथा-वर्णन और वस्तु-वर्णन—ही विशेष है, रस का परिपाक तीव्र व्यंजना की भित्ति पर इने-गिने स्थलों पर ही हो सका है और इन इने-गिने स्थलों में कौशिल्या माता के पुत्र-विरह संबंधी उद्गारों

---

[1] 'गीतावली'; पद १५, १९, २०, २१।

[2] वही; पद २३, २७ २८।

[3] वही; पद २९, ३०, ३१।

[4] वही; पद ३३, ३४, ३५, ३६, ३७

[5] वही; पद ३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४।

[6] 'मानस' (रामदास गौड़); बालकांड; दोहा १५१।

का सर्वप्रमुख स्थान है।

कौशिल्या के ऐसे उद्गार तीन बार आए हैं—

(क) जब राम-लक्ष्मण विश्वामित्र के साथ चले गए थे।[१]

(ख) भरतादि के चित्रकूट से बिना राम के लौटे लौटने के उपरांत।[२]

तथा

(ग) बनवास की अवधि के अंत में।[३]

जैसी वेदना और जैसा मातृ-हृदय इन थोड़े से पदों में भरा है वह अपूर्व है। 'गीतावली' में जो सरसता है उस के अधिकांश का श्रेय इन्हीं को है। पहिली बार की विरह-व्यथा सतानंद के द्वारा सीता-राम-विवाह का संदेश पा कर शांत तो हुई किंतु राम-लक्ष्मण के जनकपुर से लौटने पर जननी-हृदय जैसा पुलकित हुआ है[४] वह पढ़ने ही योग्य है। दूसरी बार की व्यथा निषाद-राज के उस पत्र से शांत हुई जिसे उन्हों ने भरत के पास भेजा था और जिस का उल्लेख किया जा चुका है। तीसरी बार जब अवधि के अंत में वे व्यथित हुई हैं तब राम-लक्ष्मण के मिलन ने शांति प्रदान की है।[५] कहाँ 'मानस' का विवेकमय किंतु निस्संदेह कुछ अस्वाभाविक मातृ-पक्ष और कहाँ 'गीतावली' का वात्सल्य-प्रचुर और नितांत स्वाभाविक जननी-हृदय !

'गीतावली' में सुमित्रा का चरित्र आदर्श वीर-माता का है जैसा पीछे दिखाया जा चुका है। 'मानस' में यह कहाँ है ? कैकेयी का चरित्र जैसा 'मानस' में अंकित है उसे पढ़ने पर हमारे हृदय में उस के प्रति घृणा का संचार होता है और हम मुँह फेर लेते हैं, और बार बार सोचते हैं कि क्या एक सच्चरित्र का इतना भी पतन संभव है। और निश्चय ही संसार से दुराशा और नारी जाति

---

[१] 'गीतावली'; बालकांड पद ९७, ९८, ९९।

[२] वही; अयोध्याकांड पद ८३, ८४, ८५, ८६, ८७।

[३] वही; लंकाकांड पद १७, १८, १९, २०।

[४] वही; बालकांड पद १०७, १०८।

[५] वही; लंकाकांड पद १९, २०।

पर अविश्वास की भावनायें प्रबल होती है। किंतु 'गीतावली' की कैकेयी में उतनी भयंकरता नहीं है।

'मानस' में राम ब्रह्म हैं और मानव शरीर धारण कर लीला कर रहे हैं—यह स्थान स्थान पर कहा गया है, देवताओं ऋषियों तथा मुनियों द्वारा उन की स्तुति भी स्थान स्थान पर कराई गई है किंतु 'गीतावली' में यह नहीं के बराबर है।

लक्ष्मण का चरित्र 'मानस' में एक उद्धत राजकुमार सा है किंतु 'गीतावली' में ऐसा नहीं है। वास्तव में, 'मानस' में लक्ष्मण के चरित्र के साथ पूरा न्याय नहीं किया गया है, भरत को राम ने स्थान स्थान पर सब से अधिक प्रिय माना है। अयोध्याकांड में तो उत्तरार्द्ध के वे नायक हो गए हैं। किंतु 'गीतावली' में ये बातें नहीं हैं। 'गीतावली' में लक्ष्मण के चरित्र के साथ पूरा न्याय हुआ है। उन्हें शक्ति लगने पर राम कहते हैं—

सेवक सखा भगति भायप गुन चाहत अब अथये हैं।

लक्ष्मण का चरित्र वस्तुतः इतना त्याग और बलिदान तथा स्वामिभक्तिमय है जिस की तुलना कठिन है।

इस के अतिरिक्त, 'मानस' में, लक्ष्मण के चरित्र का एक दृश्य जिस की कोमलता के प्रतिस्पर्द्धी साहित्य में कम मिलेंगे 'मानस' में नहीं है और 'गीतावली' में वह निस्संदेह अनुपम ढंग से उपस्थित किया गया है। उस दृश्य से न केवल लक्ष्मण का वरन् सीता का भी चरित्र निखर गया है। कितना पिघला देने वाला है वह सीता—गर्भिणी सीता—के निर्वासन का दृश्य!

जब लक्ष्मण सीता को मुनि के आश्रम में छोड़ लौटने लगे हैं तब सीता कहती हैं—'हे कृपालु लक्ष्मण लाल, मुझे नितांत न भुला देना। राज धर्म ही समझ कर सभी तपस्विनी स्त्रियों की भाँति मेरा भी पालन करना।'[1] ऐसा कहने के उपरांत सीता के नेत्रों से आँसू गिरने लगे और लक्ष्मण व्याकुल हो उठे। कोई उत्तर नहीं निकलता था। उन्हों ने विधि को अपने प्रतिकूल माना कि ऐसे

---

[1] 'गीतावली', उत्तरकांड, पद २९

अवसर पर भी उन के प्राण न निकले। वे मौन ही सीता के चरणों को छू कर आशीश ले लौटे और उन्हों ने यह अनुभव किया कि एक बार उन्हों ने पिता को जो कठोर वचन कहे थे उस के पाप का परिताप इन्हें सहन करने से ही शीतल हो सकता था।[1] मौन ही बार बार वे सीता के चरणों में पड़ कर लौटे, मन पश्चात्ताप में निमग्न था और रथ मानों उन्हें चुराकर भगा लिए जा रहा था। वे अपने मन में कहने लगे, वन में बिना भोजन, रण में बिना वर्म के मैं बुरे आघातों से बचता रहा। हनुमान ने भी असह्य वेदना सहन करने के लिए मुझे जिलाया। मैं ही पिछली बार सीता-हरण का हेतु हुआ और इस बार भी निर्वासन में सहायक हुआ। ऐसी दारुण कृतियों के लिए दैव नित्य ही हमारे दाहिने होता है। जिस के लिये यशस्वी गृद्ध ने युद्ध कर के प्राणोत्सर्ग किया उस को मैं वन में पहुँचा कर अयोध्या स्वभावतः चला जा रहा हूँ। मुझे विधना ने ही पाषाण-हृदय और क्रूरकर्मा बनाया। कृपानिधान राम ने अपना दास जान शरण में रक्खा (अन्यथा मेरे से कुटिल को कौन स्थान देता!)।[2] लक्ष्मण का यह पश्चात्ताप-पूर्ण चित्र कितनी कोमल तथा सुकुमार लेखनी का परिचायक है! 'मानस' में यह सुकुमारता और कोमलता लक्ष्मण के चरित्र में कहाँ है? उस में लक्ष्मण एक उद्धत राजकुमार, साहसी सैनिक, दृढ़ युवक, स्वामिभक्ति-परायण सेवक तथा त्याग की मूर्ति अवश्य हैं किंतु 'गीतावली' के लक्ष्मण उन से उच्चतर कक्षा के नायक हैं क्योंकि उन में एक पश्चात्ताप-पूर्ण कोमल और सकुमार हृदय भी है, जो कठोर वक्षस्थल की ओट में एक कोने पड़ा हुआ पूरे जीवन को अनुप्राणित कर रहा है।

इस प्रकार, जब हम 'गीतावली' के चरित्रचित्रण की ओर देखते हैं तो उस में 'मानस' का आदर्श-वाद ढीला पड़ा हुआ ज्ञात होता है—चरित्रों की अलौकिकता दूर कर उन्हें वास्तविक मानव-रूप में चित्रित करने की ओर झुकाव 'गीतावली' में हम आदि से अंत तक पाते हैं। 'गीतावली' में चरित्र-

---

[1] 'गीतावली', उत्तर कांड; पद ३०।

[2] वही पद ३११

चित्रण 'मानस' की अपेक्षा एक सुकुमार लेखनी से किया गया है यह अत्यंत स्पष्ट है।

'गीतावली' में अनेक स्थलों पर 'मानस' की शब्दावली का प्रयोग हुआ है और कहीं कहीं तो वाक्यविन्यास भी वही है यथा—

गीतावली—कन्या कल कीरति विजय विश्व की बटोरि........ बाल०, ८४

मानस—कुँवरि मनोहरि विजय बड़ि कीरति अति कमनीय ॥ बाल०, २५१

गीतावली—जो सुत तात बचन पालन रत जननिहुँ तात मानिबे लायक ॥
अयोध्या०, ३

मानस—जौ केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ॥
अयोध्या०, ५६

गीतावली—हौं पुनि पितु आज्ञा प्रमान करि ऐहौं बेगि सुनहु दुति-दामिनि ॥
अयोध्या०, ५

मानस—मैं पुनि करि प्रमान पितु बानी। बेगि फिरब सुनु सुमुखि सयानी ॥
अयोध्या०, ६२

गीतावली—हौं रहौं भवन भोग लोलुप ह्वै पति कानन कियो बन को साजु।
तुलसिदास ऐसे बिरह-बचन सुनि कठिन हियो बिहरो न आजु ॥
अयोध्या०, ७

मानस—मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुमहिं उचित तप मोकहँ भोगू।
ऐसेहु बचन कठोर सुनि जौ न हृदय बिलगान ॥ अयोध्या०, ६७

गीतावली—दिनकर बंस पिता दसरथ से राम लखन से भाई।
जननी तू जननी तो कहा कहौं बिधि केहि खोरि न लाई ॥ अयोध्या०,६०

मानस—हंस बंस दसरथ जनक राम लखन से भाइ।
जननी तू जननी भई विधि सन कछु न बसाइ ॥ अयोध्या०, १६१

गीतावली—तातें हौं न देत दूषन तोहूँ।
राम बिरोधी उर कठोर तें प्रगट कियो बिधि मोहूँ ॥ अयोध्या०, ६१

मानस—राम बिरोधी हृदय तें प्रगट कीन बिधि मोहि
मों समान को पातकी बादि कहौं कछु तोहि ॥ अयोध्या०, १६२

गीतावली—जद्यपि मो तें कै कुमातु तें ह्वै आई अति पोची ।

सन्मुख गये सरन राखिहैं रघुपति परम संकोची ॥ अयोध्या०, ६५

मानस—जद्यपि मैं अनभल अपराधी । मोहिं कारन भइ सकल उपाधी ।

तदपि सरन सन्मुख मोहिं देखी । छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी ।

शील सकुच सुठि सरल सुभाऊ । कृपा सनेह सदन रघुराऊ ॥ अयोध्या०, १८३

गीतावली—मेरो सुनियो तात संदेसो ।

सीय हरन जनि कहेउ पिता सों ह्वै है अधिक अंदेसो ।

रावरे पुन्य प्रताप अनल महँ अलप दिननि रिपु दहिहैं ।

कुल समेत सुरसभा दसानन समाचार सब कहिहैं ॥ अरण्य०, ११

मानस—सीता हरन तात जनि कहेउ पिता सन जाइ ।

जो मैं राम तो कुलसहित कहिहि दसानन आइ ॥ अरण्य०, ३२

गीतावली—लोचन नीर कृपिन के धन ज्यों रहत निरंतर लोचन कोर ॥ सुंदर०, २०

मानस—लोचन जल रहु लोचन कोना । जैसे परम कृपिन कर सोना ॥

गीतावली—हौं ही दसन तोरिबे लायक कहा करौं जो न आयसु पायो ॥ लंका०, ४

मानस—मैं तव दसन तोरिबे लायक । आयसु पै न दीन रघुनायक ॥ लंका०, ३४

गीतावली—होतो जो नहिं जग जनम भरत को ।

तौ कपि कहत कृपान धार मग चलि आचरन करत को ।

धीरज-धरम-धरनि-धर धुरहु तें गुरु धुर धरनि धरत को ॥ लंका०, १२

मानस—जौं न होत जग जनम भरत को । सकल धरम धुर धरनि धरत को ॥

अयोध्या०, २३३

उपर्युक्त प्रकार का साम्य तीन दशाओं में संभव होता—

(क) यदि 'गीतावली' की रचना 'मानस' के साथ साथ हुई होती । किंतु 'गीतावली' तथा 'मानस' की कथाओं तथा चरित्र-चित्रण आदि में इतना अंतर होते हुए—जैसा हम अभी देख चुके हैं—यह कल्पना निराधार होगी ।

(ख) यदि 'गीतावली' की रचना 'मानस' से पूर्व हुई होती । किंतु, यह पहिली कल्पना से भी अधिक निराधार है क्योंकि एक तो जो कथा-भेद तथा चरित्र-चित्रण में हम ने ऊपर अंतर देखा है वे इसी ओर संकेत करते हैं 'गीता

वली' में 'मानस' की अपेक्षा इन विषयों में सुधार लक्षित होता है। दूसरे यह असंभव ज्ञात होता है कि 'गीतावली' में पहले पूरी कथा का प्रबंध बीसों बृहद् ग्रंथों के अध्ययन कर के बाँध कर तब 'मानस' में उसे पीछे रक्खा हो। यदि 'गीतावली' में प्रबंध-निर्माण का प्रयास होता तो उस में कई स्थानों पर जो कथा-सूत्र टूटा हुआ है वह न होता। उदाहरणार्थ, दशरथ द्वारा राम राज्याभिषेक के निर्णय तथा माता से राम की वन-यात्रा के लिये विदाई के बीच कैकेयी का वह सुंदर श्री मनोविज्ञानमय प्रसंग, तथा वालिवध तथा सुग्रीव मैत्री की कथा, 'गीतावली' में नहीं हैं। किष्किंधा कांड में केवल दो पद आते हैं एक में राम सीता के 'भूषण-बसन' आदि का अवलोकन करते हैं और दूसरे में वे कहते हैं कि वर्षा के व्यतीत होने पर शरद ऋतु भी उपस्थित हो गई किंतु सुग्रीव ने सीता का पता न लगाया। इसी प्रकार लक्ष्मण शक्ति के अनंतर ही राम शत्रु-विजयोल्लसित वर्णित हैं और तत्पश्चात् उन का अयोध्या को प्रस्थान वर्णित है—रावण-वध तथा सीता-मिलन आदि के प्रसंग ही छोड़ दिये गए हैं। इस के अतिरिक्त, यदि 'गीतावली' में कथा-निर्माण का प्रयास होता तो कई स्थलों पर एक ही बात जो कई बार दुहराई गई है ऐसी पुनरावृत्ति भी न होती। फिर, काव्य-शास्त्र का यह एक सिद्धांत सा है कि स्फुट-काव्य—और उस में भी गीतिकाव्य में—कथा अथवा किसी प्रकार का प्रबंध-निर्माण नहीं हो सकता और 'गीतावली' इस सिद्धांत का अपवाद नही है।

(ग) यदि 'गीतावली' की रचना न मानस के साथ की है और न उस के पूर्व की तो यह स्पष्ट ही उस के पीछे की ठहरती है और यही अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध हो चुका है। 'सूरसागर' अथवा 'गीतावली' ऐसे गीतिकाव्यों के लिये यह अनिवार्य था कि एक पूर्ण कथाप्रबंध उन की पृष्ठभूमि में होता। 'मानस' में जिस कथा का निर्माण गोस्वामी जी ने कम से कम बीस ग्रंथों के अध्ययन के पश्चात् किया वही 'गीतावली' में भी है यदि कही कहीं उस में थोड़ा बहुत भेद पड़ा है तो वह जैसा ऊपर हम देख चुके हैं कुछ गीतिकाव्य की अनिवार्य त्रुटियों, स्फुट के दोषों तथा कवि की प्रतिभा तथा रुचि में परि

तुलना जो मुख्य मुख्य कथा-भेद आदि हैं—जैसे फुलवारी लीला इत्यादि—लगभग कुल 'गीतावली' में भी 'मानस' की भाँति हैं।

इस प्रकार सभी दृष्टियों से विचार करने पर 'गीतावली' की रचना 'मानस' के पीछे की सिद्ध होती है। शब्द तथा वाक्य-विन्यास से 'गीतावली' जो 'मानस' से कितने ही स्थलों पर मिलती है उस का कारण 'मानस' का गोस्वामी जी द्वारा निरंतर पारायण है। अपनी ही रचना और फिर उस के परम प्रिय होने के कारण उस का निरंतर पाठ करते रहने से यदि वही शब्दावली और वाक्य-विन्यास एक पीछेवाली रचना में इतस्ततः मिलते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं—विशेषतया तब जब कि इस रचना का विषय भी वही हो जो पहिली का था।

प्रश्न अब यह है कि 'गीतावली' की रचना यदि 'मानस' के पीछे की है तो कितने पीछे की। उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर यह अनुमान होता है कि 'मानस' से 'गीतावली' की रचना १४-१५ वर्ष पीछे माननी पड़ेगी, इस से कम समय कदाचित् पर्याप्त न होगा—क्योंकि जैसा हम ने ऊपर देखा है सूक्ष्मतापूर्वक ध्यान देने पर दोनों की मूल प्रवृत्तियों में कुछ अंतर अवश्य है—जिस के लिये यह समय अधिक नहीं कहा जा सकता। फिर सात आठ वर्ष पीछे तक तो गोस्वामी जी ने 'मानस' को ही सवाँरा होगा—और निश्चय ही 'मानस' जिस रूप में हमें अब उपलब्ध है वह १६३१ का मूल रूप नहीं हो सकता। अतएव 'गीतावली' की रचना और पीछे स्वभावतः हुई होगी। इस के अतिरिक्त, महाकवि को जब तक कोई नवीन संदेश नहीं उपस्थित करना होता तब तक वह किसी बड़ी कृति से हाथ नही लगाता—और यदि इस दूसरी रचना का भी विषय पहिली ही रचना का होता है तब बीच का समय और भी लंबा होना चाहिए क्योंकि यदि विषय अथवा उस के प्रतिपादन मे कोई विशेष नवीनता न हुई तो कम से कम दृष्टि-कोण में अवश्य ही यह आपेक्षित होती है—और १५ वर्ष का भी समय इस के लिये अधिक नहीं है—अतएव, 'गीतावली' का रचना-काल १६४८ के लगभग माना जा सकता है। कालांतर से उत्पन्न हुए नवीन संदेश देने की उत्सुकता ने महाकवि को बाध्य किया कि वह रामकथा का पुनः कीर्तन कर अपनी वाणी अमर करे। इस बार उस का हृदय और भी विकसित था, लेखनी

अधिक सुकुमार थी—और उस ने महाकवि सूर से दीक्षा ग्रहण की थी—अतएव उस ने रामकथामृत को और परिष्कृत, मधुर, तथा गेय बना कर पुनः उपस्थित किया और निस्संदेह सफलता प्राप्त की।

कहाँ वेणीमाधवदास का 'गीतावली' को गोस्वामी जी की सर्वप्रथम रचना कहना और कहाँ ये कुल बातें! संभव है दो चार पद 'मानस' के पूर्व रचे गए रहे हों, कुछ पद 'मानस' के लगभग भी रचे गए हों, किंतु, अधिकांश 'गीतावली' १६४४ से १६४८ तक की रचना ज्ञात होती है। 'गीतावली' को सर्वप्रथम रचना कहना भी उतना ही अन्यायपूर्ण लगता है जितना 'रामललानहछू' को अंतिम रचनाओं में रखना। सर्वप्रथम की बात दूर, प्राथमिक रचनाओं में ही प्रयोगात्मकता होती है, उन की शैली मे शिथिलता होती है, शब्दाडंबर विशेष किंतु भावों का प्रकटोकरण यथेष्ट नही होता है और सब से अधिक कवि का अंधेरे मे टटोलने का प्रयास होता है ये सब त्रुटियाँ 'गीतावली' मे कहाँ हैं? किंतु 'गीतावली' गोस्वामी जी की अंतिम कृतियो में भी नही रक्खी जा सकती क्योंकि उन में भाव-भंडार के व्यक्तीकरण के लिये किसी एक ही भाषा के शब्दभंडार की अपर्याप्तता, कुछ दुरूहता, सरसता की न्यूनता तथा श्रुति मधुरता की कुछ अवहेलना आदि होती है वे भी 'गीतावली' मे नहीं हैं। 'गीतावली' वास्तव मे एक माध्यमिक रचना है जिस में भाव तथा भाषा का पूर्ण सामंजस्य है, शैली परिष्कृत है, भाषा शुद्ध ब्रज है और अकेले उसी का शब्द-भंडार पर्याप्त हुआ है अतएव इन साक्ष्यों से भी १६४८ की तिथि अनुपयुक्त नहीं ठहरती है। इस प्रकार, प्रत्येक दृष्टि से विचार करने पर 'गीतावली' की रचना सं० १६४८ के लगभग माननी उचित है। 'गीतावली' संबंधी उपर्युक्त वर्णन पढ़ने के अनंतर पाठकों को कदाचित् यह भली भाँति अब प्रतीत होने लगा होगा कि इस की तिथि का निर्धारण सरल नहीं था इसलिये यदि कहीं कहीं विस्तार बढ़ गया है तो वह आशा है क्षम्य होगा।

कृष्णगीतावली

'कृष्णगीतावली' की रचना 'गीतावली' के साथ की मानी जाती है। ने भी इस का संग्रह 'गीतावली' के साथ १६२८ में होना

माना है। 'गीतावली' की तिथि पर ऊपर विचार हो चुका है, यदि हम 'कृष्ण गीतावली' को भी साथ की रचना मानें तो इस का भी रचना-काल १६४८ के लगभग होना चाहिए।

शैली, विषय प्रतिपादन और सरसता पर यदि हम ध्यान देते हैं तो 'कृष्ण गीतावली' 'गीतावली' की अपेक्षा बीस ही ज्ञात होती है। इस की रचना दूसरी से कुछ अधिक परिमार्जित तथा प्रौढ़ है। संभव है विषय के उस समय तक मँज जाने के कारण उस के प्रतिपादन में, और शैली के भी कृष्ण-चरित्र मे भली भाँति रँग जाने के कारण, 'कृष्ण-गीतावली' में कुछ अधिक प्रौढ़ता दीख पड़ती हो किंतु जो एक बड़ी विशेषता इस ग्रंथ की है वह इस के 'गीतावली' की अपेक्षा अधिक सफल गीतिकाव्य होने की है। 'गीतावली' में लगभग ३।४ वर्णन— कथा-वर्णन और वस्तुवर्णन—हैं, इसलिये इतने बड़े ग्रंथ में अधिकतर स्थलों मे नीरसता पाई जाती है, किंतु 'कृष्णगीतावली' इस त्रुटि से मुक्त है। संभव है हिंदी के सरस कृष्ण-साहित्य का संकुचित क्षेत्र ही अधिकांश में इस विशेषता का उत्तरदायी हो फिर भी, तीनों उपर्युक्त विशेषताओं का एक साथ पूरा पूरा समाधान होना कठिन है। ऐसा ज्ञात होता है कि हमें 'गीतावली' की अपेक्षा कम से कम दो वर्ष पीछे अवश्य 'कृष्णगीतावली' की रचना माननी होगी। इस प्रकार यह तिथि १६५० के लगभग ठहरती है।

ग्रियर्सन साहब कहते हैं कि 'इस की भाषा के गोसाईं जी कृत अन्य पुस्तकों की भाषा से भिन्न होने के कारण बहुत से विद्वान् इस का गोसाईं जी कृत होना नहीं स्वीकार करते।'[१] और, 'मैं समझता हूँ कि यह पुस्तक ऊपर वर्णन किए गए तुलसीदास की बनाई गई न होगी।'[२] किंतु डाक्टर साहब के इस मत को मानने में अड़चनें हैं। पहिले तो यही मानना कठिन है कि इस की भाषा गोसाईं जी की अन्य पुस्तकों की भाषा से भिन्न है क्योंकि 'गीतावली' की भी भाषा इस की भाषा से भिन्न नहीं है और 'कवितावली' की भाषा से मिलती

---

[१] 'इंडियन ऐंटिक्वेरी', १८९३ ई०, पृ० ४५।

[२] 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर अव् हिंदुस्तान'

जुलती है। यदि यह न भी होता तब भी उस समय तक का लगभग कुल भाषा का कृष्ण-साहित्य ब्रज-भाषा में निर्मित होने के कारण—जिस का प्रयोग निस्संदेह ब्रज का वातावरण उपस्थित करने का सर्वश्रेष्ठ साधन है—और 'सूरसागर' ऐसी सफल रचना के होते हुए क्या गोस्वामी जी के लिये यह संभव न था कि वे 'कृष्ण-गीतावली' की रचना ब्रजभाषा में करते ? हाँ, 'सूरसागर' के कुछ पदों का 'कृष्णगीतावली' में मिलना अवश्य कुछ संदेह डाल सकता है किंतु उन के कारण संपूर्ण रचना को गोस्वामी जी कृत न मानना अन्याय होगा।

(अगले अंक में समाप्य)

ऋषिक अर्थात् युचि

[लेखक—श्रीयुत जयचन्द्र विद्यालंकार]

(क) आर्य युचि जाति

भारतवर्ष और मध्य एशिया के प्राचीन इतिहास की जिस प्रसिद्ध जाति की गोद में इतिहास-विश्रुत "राजाधिराज देवपुत्र कनिष्क" ने जन्म लिया था, उसे अभी तक हम उस के असली नाम के चीनी रूपांतर 'युचि' या 'युइची' से ही जानते थे। युचि के आरंभिक इतिहास का पता भी प्राचीन चीनी इतिहास-लेखकों के ग्रंथों से ही मिलता है। उस का सार यों है—प्राचीन काल मे युचि लोग फिरंदर दशा में चीन के सब से उत्तर-पच्छिमी प्रांत कानसू की पच्छिमी सीमा के निकट उस देश के पूरबी छोर मे रहते थे जिसे आजकल हम चीनी तुर्किस्तान कहते हैं। चीन के उत्तर जंगली 'हियंगनू' अर्थात् हूण लोग रहते थे। तीसरी शताब्दी ई० पू० मे चीन के पहले सम्राट् शी-हुआङ-ती ने उन से अपने देश को बचाने के लिये चीन की सुप्रसिद्ध दीवार बनवाना शुरू किया। हियंगनू लोगों का दक्खिनी रास्ता उस दीवार के कारण रुक जाने मे वे पच्छिम तरफ बढ़ने लगे। १७६ ई० पू० में हियंगनू राजा मोदुक ने चीन के सम्राट् के पास खबर भेजी कि उस ने कानसू-सीमांत का सब इलाक़ा दखल कर लिया, और युचि को अपना घर छोड़ पच्छिम भागना पड़ा। अपने उस लंबे प्रवास मे आगे बढ़ते हुए युचि ने सीर और आमू दरिया का काँठा दखल कर वहाँ के निवासी शकों को आगे भगा दिया। जातियों की उस उथलपुथल में बाख्त्री (बलख) का यूनानी राज्य समाप्त हो गया। शकों ने फ़ारिस और भारतवर्ष पर अनेक चढ़ाइयाँ कीं, और फिर उन के पीछे युचि लोग भी भारतवर्ष तक आ पहुँचे। पहली शताब्दी ईस्वी में भारतवर्ष में युचि-साम्राज्य स्थापित हो गया, जो तीसरी के आरंभ तक बना रहा। मध्य एशिया और काबुल में पाँचवीं-

छठी शताब्दी में हूणों-तुर्कों के आने तक युचि लोग राज्य करते रहे। यदि उन घटनाओं की परंपरा को भारतवर्ष और युरोप के इतिहास में आगे आगे टटोला जाय तो यह कहा जा सकता है, जैसा कि ऐतिहासिक लोग मजाक में कहते हैं, कि चीन की दीवार का प्रभाव संसार के इतिहास पर आज तक होता चला आ रहा है।

पिछली शताब्दी (ईस्वी) के प्राच्य पुरातत्त्ववेत्ता युचि और शकों को मंगोल परिवार की जातियाँ समझते थे। किन्तु इस शताब्दी के शुरू में मध्य एशिया (चीनी तुर्किस्तान) से भारतीय अक्षरों में लिखे हुए नई भाषाओं के लेख मिले, और वे भाषाएँ पढ़ी जाने पर आर्य निकली! पहले पहल प्रसिद्ध विद्वान् डा० हर्नली को काशगर के ब्रिटिश पोलिटिकल एजंट से ब्राह्मी लिपि के और मध्य एशिया की आर्य भाषा के वे लेख मिले, और सन् १९०२ में उन्हों ने उन्हें प्रकाशित किया;[1] नौ बरस बाद उन की पूरी वर्णमाला निश्चित कर के उन्हों ने आधुनिक जगत् के सामने रख दी[2]। पड़ताल से पता चला कि वे लेख दो भिन्न आर्य भाषाओं के हैं—एक उत्तरपूरबी भाषा के जो कि कूचा की प्राचीन बोली थी, तथा दूसरे दक्खिनी भाषा के जो कि खोतन और उस के चौगिर्द की बोली थी।

मध्य-एशिया-भाषाविज्ञान के भारी पंडित डाक्टर मुएलर ने पहले पहल उत्तर-पूरबी भाषा का नाम 'तुखारी' रक्खा। प्रोफ़ेसर स्टायल होल्स्टीन ने उस नाम का विरोध किया, तो भी वह नाम अब बहुत प्रचलित हो चुका है। हम देखेंगे कि उस भाषा के अपने लेखों में उस का क्या नाम होता है, और उसी से हम अपने इस लेख के मुख्य परिणाम पर पहुँचेंगे। वह भाषा भारतवर्ष और ईरान की पड़ोसी आर्य भाषाओं की अपेक्षा प्राचीन इटली की भाषा तथा केल्त भाषा से अधिक मिलती है। बर्लिन के प्रोफ़ेसर सीग और डाक्टर

---

[1] 'रिपोर्ट अव् दि ब्रिटिश कलेक्शन अव् ऐंटिक्विटीज़ फ्रौम सेंट्रल एशिया', भाग २, पृ० ३० आदि। कलकत्ता, १९०२।

[2] 'जर्नल अव् दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, १९११ पृ० ४४७ आदि

सीगलिंग ने यह घोषणा की कि तुखारी ही भारतीय शकों की अपनी बोली थी।

दक्खिनी भाषा का नाम ल्युमैन ने 'उत्तरी आर्य भाषा (Nord arische)' रक्खा; पेलियो ने उसे ही 'पूर्वी ईरानी' कहा। प्रोफेसर किस्टे ने उसे 'खोतनी' ही कहना अधिक उचित समझा। स्टेन कोनौ 'उत्तरी आर्यभाषा' और 'पूर्वी ईरानी' की अपेक्षा 'खोतनी' नाम को अधिक पसंद करते हैं, किंतु उन का कहना है कोई ऐसा शब्द होना चाहिए जिस से यह सूचित हो कि वह खाली खोतन की नहीं उस के पड़ोस के समूचे प्रदेश की बोली थी। यूरोपियन भाषाओं मे वैसा शब्द न पाने से वे बहुत परेशान रहे, पर हिंदी में हम उन के अभिप्राय को 'खोतनदेशी' नाम से ठीक ठीक प्रकट कर सकते हैं। वह भाषा ईरानी शाखा की एक आर्य भाषा थी। डाक्टर लुइडर्स ने यह घोषणा की कि भारतीय शकों की भाषा वही थी। शकों का इतिहास बहुत धुँधला है, पर इस बात पर शायद सब विद्वान सहमत हैं कि युचि लोग वही भाषा बोलते थे।

इस प्रकार तुखारी और खोतनदेशी भाषाओं के आविष्कार से यह बात प्रमाणित हो गई कि समूचा आधुनिक चीनी तुर्किस्तान किसी जमाने मे आर्य जातियों का घर था, और शक तुखार और युचि लोग जो कि वहाँ रहते थे, आर्य थे। युचि राजाओं के सिक्कों पर उन के चेहरों के रंग-रूप को देख कर उन्हें आर्य कहने का प्रलोभन पहले ही होता था।

किंतु 'युचि' स्पष्टतः उन के मूल नाम का चीनी रूपांतर है। वह आर्य जाति स्वयं अपने को क्या कहती थी? उस का अपना मूल नाम पिछले जाड़े मे महाभारत में अर्जुन के उत्तरदिग्विजय को पढ़ते हुए अचानक मेरे हाथ लग गया, और वह नाम है ऋषिक। मेरा कहना है कि 'युचि', 'युषि' या 'उषि' का मूल आर्य रूप 'ऋषि' ही है।

अर्जुन के उत्तर दिग्विजय की ओर पहले पहल मेरा ध्यान कंबोज देश की खातिर गया। मैं ने यह देखने के लिये ही उसे पढ़ा था कि उस में कंबोज का वही अर्थ है कि नहीं जो कि मै ने किया है। कंबोज का ठीक वही अर्थ महाभारत में निकल आने से मुझे तसल्ली हुई, किंतु उस प्रसंग के कई और नामों का छाप मेरे मन पर रह गई, और उन का क्या अर्थ हो सकता है सो मै

सोचता रहा। उन नामों में से एक ऋषिक भी था। दूसरी बार उस संदर्भ को पढ़ने पर मुझे उस नाम का ठीक अर्थ सूझ गया। इस सिलसिले में हमें अर्जुन के समूचे उत्तरदिग्विजय का मार्ग टटोलना होगा, और प्रसंगवश हम और कई स्थानों और जातियों की भी शिनाख्त करेंगे, तथा प्राचीन इतिहास के लिये महत्त्व की कई बातें हमारे हाथ लगेंगी।

(ख) अर्जुन का उत्तरदिग्विजय

(१) कुलिंग से प्राग्ज्योतिष

अर्जुन के उत्तरदिग्विजय का वृत्तांत महाभारत[1] सभापर्व के २७-२८-२९ वें अध्यायों में है। वही दिग्विजयपर्व के पहले तीन अध्याय हैं।

सब से पहले उस में 'कुलिंग' देश के विजय का ज़िक्र है। 'कुलिंग' स्पष्टतः 'कुलिंद' का अपपाठ है। इंद्रप्रस्थ या दिल्ली में पांडवों की राजधानी थी, और वहाँ से ठीक उत्तर के पहाड़ों में ईसवी सन् से पहले और पीछे की एक दो शताब्दियों के कुनिंद गण के सिक्के मिले हैं[2]। इस लेख के अंत में हम देखेंगे कि महाभारत का यह संदर्भ भी दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व के क़रीब आरंभ का है, जब कि दिल्ली के उत्तर कुनिंद गण का राज्य निश्चय से था। दूसरी शताब्दी ईसवी के रोमन भूगोल-लेखक टालमी ने भी व्यास से उत्तरी टोंस नदी तक के पहाड़ी प्रदेश का नाम 'कुलिंद्रीन' ही लिखा है। इसलिये 'कुलिंग' स्पष्टतः 'कुलिंद' का विकृत पाठ है।

पहले अध्याय में कुलिंद से प्राग्ज्योतिष तक की विजय-यात्रा का वर्णन है। स्पष्ट है कि वह आधुनिक क्युँठल (शिमला-प्रदेश) से भूटान तक की विजय-यात्रा है। किंतु उस यात्रा में अर्जुन हिमालय की उपत्यका में ही रहा, या मध्य शृंखला के भीतर तक भी गया, और गया तो कहाँ तक, सो कुछ हम

---

[1] कुंभकोणम्-संस्करण।

[2] कनिंघम, 'आर्कियोलोजिकल सर्वे अव् इंडिया रिपोर्ट्स', जि० १४ पृ० १३७।

नहीं कह सकते। कुलिंद और प्राग्ज्योतिष के बीच केवल तीन देश प्रतीत होते हैं—पहला साल्वपुर जिस का राजा साल्वराज द्युमत्सेन था, फिर कट देश जिस पर सुनाभ राज्य करता था, और तीसरे शाकलद्वीप जिस में सात द्वीप अर्थात् दोआब संमिलित थे, और अनेक राजा राज्य करते थे। शाकल-द्वीप इस प्रकार एक लंबा प्रदेश था। इस प्रसंग में नेपाल का नाम न होना और प्राग्ज्योतिष का होना, दोनों उल्लेखयोग्य बातें हैं। आसाम में आर्यावर्ती प्रभाव पहले पहल कब और कैसे पहुँचा यह एक समस्या है। गुप्त साम्राज्य के समय आसाम का प्राग्ज्योतिष या कामरूप राज्य स्थापित हो चुका था, किंतु मौर्य साम्राज्य का दखल आसाम में होने का कोई स्पष्ट[1] प्रमाण अभी तक नहीं मिला। अभी हम देखेंगे कि यह समूचा संदर्भ १७६ ईसवी पूर्व के बाद का नहीं हो सकता। इसलिये यदि मौर्य साम्राज्य के समय नहीं तो उस के शीघ्र बाद दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व के शुरू में प्राग्ज्योतिष-राज्य की स्थापना हो चुकी थी। उस दशा में उस राज्य का सब से पहला उल्लेख यही है जिस के विषय में कि हम विचार कर रहे हैं। और दूसरी शताब्दी ईस्वी पू० के शुरू तक 'नेपाल' नाम भी प्रचलित न हुआ था, सो बात भी साथ ही साथ निश्चित हो गई।

(२) अंतर्गिरि, बहिर्गिरि, उपगिरि

अर्जुन की दूसरी यात्रा जिस का कि दूसरे अध्याय में वर्णन है, कुलिंद से उत्तर-पच्छिम की है, क्योंकि उस में कश्मीर, कंबोज आदि देशों के नाम हैं। शुरू में ही कहा है कि उस ने अंतर्गिरि, बहिर्गिरि और उपगिरि को जीता (श्लोक ३)। मेरे विचार में ये जातिवाची शब्द हैं जो हमारी आधुनिक परिभाषाओं—हिमालय को गर्भ-शृंखला, मध्य शृंखला और बाह्य शृंखला के ठीक

---

[1]अशोक के तेरहवें प्रधान शिलाभिलेख की दो प्रतियों में 'विस' जाति या देश का नाम प्रतीत होता है, और कुछ विद्वानों की अटकल है कि शायद वह आसाम की कोई जाति या प्रदेश था; देखिए रायचौधरी की 'पोलिटिकल हिस्ट्री अव् एंश्यंट इंडिया', पृ० १९४

समानार्थक है। शुरू में इन का उल्लेख भूमिकारूप से है, आगे विवरण शुरू होता है।

(३) उलूक-देश से लोहितदेश तक

वह विवरण यों है कि पहले उस ने एक भारी युद्ध के बाद उलूक-वासी बृहंत को जीता (श्लोक ५-९)। फिर सेनाबिंदु के राज्य को आसानी से अधीन कर (श्लोक १०), तथा मोदापुर और 'सुदामा सुसंकुल' को ले कर वह उत्तर उलूक देश को पहुँचा (श्लोक ११), और वहाँ छावनी डाल कर अपने आदमियों को 'पञ्च गणों' को छीनने भेजा (श्लोक १२)। फिर सेनाबिंदु की राजधानी देवप्रस्थ को लौट कर वहाँ छावनी डाली (श्लोक १३),—स्पष्ट है कि देवप्रस्थ की नगरी उत्तर और दक्खिन उलूक के बीच कहीं थी। वहाँ से अर्जुन ने राजा पौरव के क़िले पर चढ़ाई की (श्लोक १४), और वीर पहाड़ियों को हरा कर उसे जीता (श्लोक १५)। तब सात 'दस्यु' उत्सव-संकेत गणों को क़ाबू किया (श्लोक १६), और कश्मीर तथा लोहित के दस मंडलों के विजय के लिये प्रस्थान किया (श्लोक १७)।

उक्त नामों में से उत्सव-संकेत हमारे पूर्व-परिचित हैं, वे लाहुल प्रदेश और उस के पड़ोस को सूचित करते हैं[1]। मेरे विचार में 'उलूक' 'कुलूत' (कुलू) का अपपाठ है। यदि ऐसा हो तो राजा पौरव का राज्य संभवतः चंबा में रहा होगा। सुदामापर्वत का नाम वाल्मीकिरामायण में भी, अयोध्या से केकय देश (उत्तर-पच्छिम पंजाब) जाने वाले संदेशहरों की यात्रा के प्रसंग में, आता है[2]।

---

[1] 'विशालभारत' के जून १९३१ के अंक में प्रकाशित 'कालिदास का राष्ट्रीय आदर्श' शीर्षक लेख में यह सिद्ध किया जा चुका है।

[2] ययुर्मध्येन वाल्हीकान् (वाहीकान् ?) सुदामानं च पर्वतम्।
विष्णोः पदं प्रेक्षमाणा विपाशां चापि शाल्मलीम्॥
—रामायण २, ६८, १८।

विष्णुपद वह पहाड़ था जिस पर महरौली वाली राजा चंद्र की लोहे की लाट पहले गाड़ी गई थी

उस् से प्रतीत होता है कि वह व्यास नदी के नजदीक कहीं था। हमारे हिसाब से भी उसे वहीं होना चाहिए। 'सुसंकुलम्' का असल रूप कहीं 'सुसंकटम्' तो नहीं है? संकट शब्द राजतरंगिणी में पहाड़ की जोत[1] या घाटे के अर्थ में आता है[2]।

कश्मीर और लोहित के रास्ते में त्रिगर्त्त, दार्व और कोकनद ने स्वयं अर्जुन की अधीनता मान ली (श्लोक १८), किंतु अभिसारी और 'उरगा' मुकाबले के बिना अधीन न हुए (श्लोक १९), और सिंहपुर तो भारी युद्ध के बाद हाथ आया (श्लोक २०)। त्रिगर्त्त कांगड़ा का सुपरिचित पुराना नाम है, दार्व आधुनिक डुगर प्रदेश का अर्थात् रावी और चिनाब के बीच की उपत्यका का जिस में जम्मू, वल्लावर आदि बस्तियाँ है और जहाँ के निवासी डोगरे राजपूत भारतवर्ष की सैनिक जातियों में प्रसिद्ध हैं। अभिसारी या अभिसार का नाम संस्कृत वाङ्मय मे प्रायः सदा ही दार्व के साथ साथ आता है; चिनाब और जेहलम के बीच की उपत्यका जिस मे अब भिम्भर, राजौरी, पुंच आदि रियासतें हैं प्राचीन काल का प्रसिद्ध अभिसार देश था। 'उरगा' स्पष्टतः 'उरशा' का अपपाठ है; अभिसार के ठीक पच्छिम लगा हुआ जेहलम और सिंध के बीच का पहाड़ी इलाक़ा जो आज कल हजारा जिले में संमिलित है, प्राचीन उरशा था। नमक-पहाड़ियों के प्रदेश की राजधानी चीनी यात्री ह्वान्च्वाङ् के समय भी सिंहपुर कहलाती थी। इस प्रकार इन नामों मे से केवल कोकनद बाकी बचा जिस की पहचान हम अभी नहीं कर पाए।

लोहित मेरे विचार मे रोह अर्थात् अफ़गानिस्तान है, क्योंकि आगे

---

[1] अंग्रेज़ी के 'Pass' के अर्थ में हमारे यहाँ दो शब्द हैं एक दर्रा, दूसरा जोत; दर्रे का रास्ता पहाड़ के आर पार होता है, जोत का ऊपर से। अफ़ग़ानिस्तान का 'कोतल', कुमाऊँ-गढ़वाल का 'घाटा', राजस्थानी की 'घाटी' और महाराष्ट्र का 'घाट' शब्द सब 'जोत' के समानार्थक हैं। इन बातों की अधिक छान बीन मेरे ग्रंथ "भारत-भूमि और उस के निवासी" में मिलेगी।

[2] नमूने के लिये ७, ९१६ में

वाह्लीक या बलख़ का उल्लेख है (श्लोक २२) और बलख़ का रास्ता रोह् में से ही हो सकता था।

(४) उत्तरी सुम्ह और चोलदेश

आगे सुम्हों और चोलों के विजय का ज़िक्र है (श्लोक २१), और फिर वाह्लीक या बलख़ के। पटना ओरियंटल कांफ़रेंस में मैं ने इस विषय पर जो लेख भेजा था उस में भी पहले मैं ने लिखा था कि सुम्ह और चोल का इस प्रसंग में उल्लेख एक स्पष्ट ग़लती है। क्योंकि सुम्हदेश बंगाल के मेदिनीपुर और उस के पड़ोसी ज़िलों का प्रसिद्ध प्राचीन नाम है, और चोल सुदूर दक्खिन के द्रविडदेश के पूर्वी भाग का। किंतु बाद में मुझे यह बात सूझी कि ग़लती महाभारत में न थी, मेरे अपने अल्प ज्ञान में थी, और मैं ने पटना कांफ़रेंस वाले लेख का एक परिशिष्ट भेज कर उस ग़लती को ठीक किया। बलख़ के पच्छिम-दक्खिन रेतीली पहाड़ियों का प्रदेश अब भी चोल कहलाता है। वाह्लीक के बाद तो अर्जुन का रास्ता निश्चय से उत्तरपूरब था ही, वाह्लीक से पहले ही उस का उत्तर-पूरब रुख़ कर लेना सर्वथा संगत है। इस प्रकार चोल आधुनिक चोल है। बाक़ी रहा सुम्ह सो ठेठ अफ़ग़ानिस्तान से चोल के रास्ते पर होना चाहिए। मेरे विचार में वह या तो बामियाँ वादी है, और या चरीकर-काओशां के बीच का परवाँ-प्रदेश। हम अभी देखेंगे कि महाभारत का यह संदर्भ दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व का है। पहली शताब्दी ईसवी पूर्व में युचि जाति के पाँच सरदारों के राज्य इन्हीं प्रदेशों में थे, और उन के जो नाम चीनी ऐतिहासिकों ने लिखे हैं, उन में से कोई एक 'सुम्ह' का चीनी रूप हो सो बहुत संभव है। संस्कृत और चीनी तुलनात्मक भाषाविज्ञान के कोई पंडित इस विषय पर प्रकाश डाल सकेंगे।

(५) परम कांबोज और ऋषिक

बलख़ से पूरब फिर कर अर्जुन के दरदों और कांबोजों को अधीन करने का उल्लेख है (श्लोक २३)। आगे स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि उस ने उत्तर-पूरब के जंगलों में रहने वाले दस्युओं को जीता (श्लोक २५), जिन में

लोह, परम कांभोज और ऋषिक के नाम दिए हैं। ऋषिकों के देश में बहुत ही भयानक लड़ाई हुई।

लोह कौन थे मैं नहीं कह सकता, पर कंबोजदेश—आजकल की ग़ल्चा बोलियों का क्षेत्र—पामीर और बदख़्शां था, जैसा कि मैं पहले सिद्ध कर चुका हूँ, इसलिये परम कांभोज बहुत संभवतः ज़रफ़्शां नदी के स्रोत पर रहने वाले यग्नोबी[1] नाम की ग़ल्चा बोली बोलने वाले ताजिकों के पूर्वज थे। पामीरों में जो ग़ल्चा बोली का मुख्य क्षेत्र है उस के उत्तर-पच्छिमी, तथा बदख़्शां के उत्तर-पूर्वी, छोर से आमू नदी के उत्तरी मोड़ के उत्तरी किनारे से ग़ल्चा-भाषी ताजिकों की यह बस्ती ज़रफ़शां नदी की पहाड़ी घाटी के साथ साथ अकेली उत्तर-पच्छिम बढ़ी हुई है;[2] उस के तथा बदख़्शां प्रदेश के बीच आमू नदी के मैदान में उज़बकों की बस्ती एक फाने की तरह घुसी हुई है। सब से दूर उत्तर का ग़ल्चा-क्षेत्र वही है, और मेरी संमति में वह महाभारत के 'परम कांबोज' को सूचित करता है।

ऋषिकों की स्थिति ठीक चीनी तुर्किस्तान में प्राचीन युचि देश में जा पड़ती है, और मेरा कहना है कि 'युचि', 'युषि' या 'ज़षि' संस्कृत 'ऋषि' का ही चीनी रूपांतर है। इस प्रश्न पर हमें कुछ और विस्तार से विचार करना होगा।

(ग) ऋषिक अर्थात् युचि

चीनी ऐतिहासिकों के अनुसार युचि लोग दूसरी शताब्दी ई० पू० में अपने मूल घर—कानसू के सीमांत—से उठ कर थियानशान पर्वत के ढाल के साथ होते हुए सीर दरिया पर जा पहुँचे जहाँ से उन्हों ने शकों को खदेड़ दिया। वहाँ से आगे आमू दरिया के काँठे में बलख पहुँच कर उन्हों ने ताहिया

---

[1] देखिए 'लिंग्विस्टिक् सर्वे अव् इंडिया', जि० १०, पृष्ठ ४५५।

[2] देखिए बोमैन की 'दि न्यू वर्ल्ड—प्रौब्लेम्स् इन पोलिटिकल जिऔग्रफ़ी' नामक पुस्तक (प्रकाशक—जार्ज हैरप, लंदन, १९२२) के पृष्ठ ४७६ पर रूसी भाषा की पुस्तिका रूस की ऐटलस से उद्धृत रूसी तुर्किस्तान की जातियों का नक्शा

को जो कि शांति-पसंद आरामतलब व्यापारी थे अपने अधीन कर लिया। प्राचीनतम चीनी इतिहासों के अनुसार ताहिया जाति चीन के कानसू प्रांत की ठीक पच्छिमी सीमा पर रहती थी। डॉ० मार्कार्ट और फ्रांके ने सिद्ध किया है कि कानसू-सीमांत के पुराने ताहिया तथा आमू-काँठे के दूसरी शताब्दी ई० पू० के ताहिया असल में एक ही थे—कानसू से ही वे लोग आमू के काँठे तक फैल गए थे।

ताहिया कौन थे, सो एक और पहेली है। किसी किसी ने उस नाम को ईरानी 'दाह' (संस्कृत 'दास') का चीनी रूपांतर माना है। मार्कार्ट का कहना है कि ताहिया वही लोग थे जिन्हें आठवीं शताब्दी के अरब लेखक तुखार कहते हैं। क्योंकि एक तो आमू-काँठे के ताहिया के विषय में चीनियों ने जो लिखा है, तथा वहीं के तुखारों के विषय में अरबों ने जो लिखा है, उस के मिलान से यह बात सूचित होती है। दूसरे, कानसू-सीमांत के देश का नाम ह्वानच्वाङ् ने 'तुहुलो' लिखा है, जो स्पष्ट 'तुखार' का रूपांतर है। ह्वानच्वाङ् के समय विदेशी नामों के चीनी रूपांतर करने की जो शैली थी, प्राचीन शैली उस से भिन्न थी—प्राचीन काल का 'ताहिया' और ह्वानच्वाङ् का 'तुहुलो' एक ही शब्द के रूपांतर हैं, और वह शब्द है—तुखार। फ्रांके ने मार्कार्ट की इस स्थापना को नहीं माना, पर स्टेन कोनौ तथा अन्य अनेक विद्वान् इसे मानते हैं, और इस लेख में अभी आगे जो बातें आयँगी उन से इसे और भी पुष्टि मिलेगी।

अरब लेखकों के तुखार तथा यूनानी-रोमन लेखकों के तोखार (Tochari) एक ही जाति हैं। पोंपिअस त्रौगस नामक लेखक ने उन के विषय में लिखा है कि 'असियान' लोग (Asiani) तोखारों के शासक बन गए थे। स्त्राबो ने 'असियान' के बजाय 'असि' (Asioi) लिखा है। मार्कार्ट का मत था कि 'असि' और 'असियान' 'युचि' के मूल नाम के ही रूपांतर हैं, और त्रौगस का यह कथन कि असियान तोखारों के शासक बन गए, चीनी लेखकों के इस कथन का रूपांतर है कि युचि ताहिया के शासक बन गए।

युचि और तुखारों का ठीक संबंध क्या था, इस विषय में आधुनिक

विद्वान लैस्सन के समय से अनेक कल्पनाएँ और खोज करते आ रहे हैं। डाक्टर कोनौ ने इस संबंध में मार्कार्ट का अनुसरण करते हुए बड़े पते की बात सुझाई है।[1] मध्य एशिया की जिस आर्य भाषा को तुर्कजातीय उइगूर लोग तुखारी कहते थे, और आधुनिक विद्वान भी तुखारी कहते हैं, उस के अपने लेखों में उसे 'आर्षी' कहा है; आर्षी शब्द का असि और युचि से संबंध है। किंतु तुखार और युचि दो विभिन्न जातियाँ थीं, और युचि की अपनी भाषा तुखारी नहीं प्रत्युत उस की पड़ोसन खोतनदेशी थी। इस समस्या की व्याख्या डाक्टर कोनौ ने यों की है कि असि तुखारों के शासक थे, और उन अल्पसंख्यक शासकों का नाम उस बहुसंख्यक विजित जाति के नाम पर चपक गया था। इतिहास मे इस प्रकार के अनेक उदाहरण पाए जाते हैं। फ्रांक लोग जिन के नाम से कि फ्रांस देश और फ्रेंच जाति तथा भाषा का नाम पड़ा है, अल्पसंख्यक विजेता थे; फ्रेंच जाति और भाषा लातीनीकेल्त शाखा की है; पर जिन फ्रांक लोगों के नाम से उस का नाम पड़ा है वे स्वयं जर्मन या त्यूतनी थे। इसी प्रकार रौस क़बीला जिस के नाम से कि रूसी जाति और भाषा का नाम पड़ा है त्यूतनी था, किंतु रूसी जाति स्लाव शाखा की है। ठीक इसी तरह तुखारों की भाषा आर्षी क्यों कहलाने लगी, इस की व्याख्या उस ऐतिहासिक घटना से हो सकती है कि असि तुखारों के शासक बन गए थे।

मार्कार्ट और कोनौ की स्थापनाएँ अब युचि के मूल अभिजन में ऋषिक जाति के पाये जाने से निश्चित सिद्धांत मानी जानी चाहिएँ। क्योंकि अब तद्धित आर्षी शब्द की मूल प्रकृति ऋषिक भी मिल गई, और वह मिली भी ठीक उस जगह जहाँ युचि लोग हियंगनू या हूणों द्वारा भगाए जाने से पहले रहते थे।

और इसी बात से हम महाभारत के उक्त संदर्भ की तिथि भी निश्चित कर सकते हैं। क्योंकि हूण राजा मोदुक ने १७६ ईसवी पू० में चीन-सम्राट्

---

[1] 'ऑन् दि इंडोसिथियन डिनैस्टीज़ एंड देयर प्लेस इन दि हिस्टरी अव् ', मॉडर्न रिव्यू, अप्रैल १९२१

के पास खबर भेजी थी कि उस ने शुचि का देश छीन कर उन्हें पच्छिम खदेड़ दिया है। इसलिये महाभारत का उक्त संदर्भ १७६ ईसवी पूर्व से पहले का होना चाहिए।

(घ) अर्जुन की तीसरी उत्तर-विजय-यात्रा

किंपुरुष देश से उत्तर कुरु

इस प्रसंग को समाप्त करने से पहले अर्जुन की तीसरी विजय-यात्रा का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है। मैं ने उस की विवेचना अभी तक नहीं की, किंतु साधारण रूप से दृष्टि डालने से मुझे यह प्रतीत होता है कि वह पहली दो यात्राओं के रास्तों के मध्य उत्तर के एक चक्करदार रास्ते से किंपुरुष अर्थात् किन्नर-देश या कनौर[1] से शुरू हो कर थियानशान पर समाप्त होती है, और वह प्रायः तिब्बत के बीचोंबीच है। हाटक देश, मानस सरोवर, हेमकूट, हरिवर्ष, इलावृत, मेरु, गंधमादन आदि नाम उस में सुनाई देते हैं। तंकण या तंगणों का भी नाम है जिन का देश बदरिकाश्रम वाली घाटी में था, सो मध्यकालीन अभिलेखों से जाना जा चुका है।

उस रास्ते की पूरी टटोल का यत्न मैं ने अभी तक नहीं किया।

---

[1] यह बात 'विशाल भारत' के जून १९३१ के अंक में सिद्ध की जा चुकी है।

राजा गजसिंह जी

[लेखक—श्रीयुत विश्वेश्वर नाथ रेउ]

यह सवाई राजा शूरसिंह जी के ज्येष्ठ पुत्र थे। इन का जन्म वि० सं० १६५२ की कार्तिकसुदि ८ (३० अक्तूबर १५९५ ई०) को हुआ था। यह भी अपने पिता के समान ही वीर और बुद्धिमान थे। इन्हों ने सवाई राजा शूरसिंह जी के जीवन-काल मे ही अनेक युद्धों में सफलता पूर्वक भाग लिया था।[1] इन की इस योग्यता से प्रसन्न हो कर उन्हों ने भी इन्हें अपना युवराज नियत कर दिया। इसलिये उन की अनुपस्थिति में मारवाड़ का सारा प्रबंध इन्हीं की देख भाल में होता था।[2]

वि० सं० १६७६ (ई० स० १६१९) मे जैसे ही इन्हें सवाई राजा शूरसिंह जी के मेहकर में बीमार होने की सूचना मिली, वैसे ही यह जोधपुर का प्रबंध अपने विश्वासपात्र सरदारों को सौंप कर तत्काल मेहकर की तरफ रवाना हो गए। पिता की मृत्यु के बाद इसी वर्ष की आसोज (क्वाँर) सुदि १० (८ अक्तूबर १६१९ ई०) को बुरहानपुर में इन का राज्याभिषेक[3] हुआ। उस समय खाँ खानाँ के पुत्र दौराबख़्ाँ ने बादशाह की तरफ से इन की कमर मे तलवार बाँधी। बादशाह ने भी इन की योग्यता देख कर इन्हें तीन हज़ारी

---

[1]'मआसिरुल उमरा' के लेखानुसार जहाँगीर के राज्य के दसवें वर्ष (वि० सं० १६७२; ई० स० १६१५) से ही यह बादशाही कार्यों में भाग लेने लगे थे।

[2]'गुणभाषाचित्र', पृ० ९, दोहा ४।

[3]ख्यातों में लिखा है कि राजा शूरसिंह जी के मरने पर जहाँगीर ने गजसिंह जी को बुरहानपुर जाने के लिये लिखा था। उसी के अनुसार ये वहाँ पहुँच कर गद्दी पर बैठे। ख्यातों में इन का क्वाँर सुदि ८ को गद्दी पर बैठना लिखा है।

जात और दो हज़ार सवारों का मनसब, झंडा और राजा का ख़िताब दिया[1]।

कर्नल टाड ने अपने राजस्थान[2] के इतिहास में लिखा है कि इस अवसर पर इन को मारवाड़ के अधिकार के साथ ही गुजरात के सात परगने, झिलाय (ढूँढाड़ का) और मसूदा (अजमेर का), की जागीर और दक्षिण की सूबेदारी[3] दी गई थी। इन के अलावा इन के घोड़े भी शाही दाग़ से बरी कर दिए गए थे। इस के बाद यह महकर के[4] थाने पर पहुँच दक्षिणवालों के उपद्रवों को शांत करने में लग गए। अहमद नगर के बादशाह का मंत्री अंबर चंपू हबशी जाति का वीर योद्धा था। ख्यातों से ज्ञात होता है कि एक बार उस ने अचानक आ कर शाही सेना को घेर लिया। तीन महीने तक दोनों तरफ़ से छोटी बड़ी अनेक लड़ाइयाँ होती रहीं। अंत में गजसिंह जी की वीरता से शत्रु को घिराव उठा कर भागना पड़ा।

वि० सं० १६७८ में भी दक्षिणियों के साथ के युद्ध में महाराज की वीरता से ही शाही सेना को विजय प्राप्त हुई, और मलिक अंबर ने आक्रमण करने के बदले आक्रांत हो कर बादशाह की अधीनता स्वीकार कर ली। इस से प्रसन्न हो कर बादशाह जहाँगीर ने महाराज का मनसब बढ़ा कर चार हज़ारी

---

[1] 'तुज़ुक जहाँगीरी', पृ० २८०। वहीं पर यह भी लिखा है कि इसी समय इन के छोटे भाई सबलसिंह जी को ५०० ज़ात और २५० सवारों का मनसब (और फलोधी का प्रांत जागीर में) दिया गया था।

[2] 'ऐनल्स एंड एंटिक्विटीज़ अव् राजस्थान', (क्रूक-संपादित) भा० २, पृ० ९७२।

[3] उस समय दक्षिण का सूबेदार ख़ाँ खानाँ था। इसलिये कर्नल टाड के लेखानुसार महाराज को दक्षिण की सूबेदारी का दिया जाना ठीक प्रतीत नहीं होता।

[4] महकर में मुग़ल राज्य की सरहदी चौकी थी। और वहाँ से आगे अहमद नगर वालों का राज्य प्रारंभ होता था। उन दिनों उन्हीं अहमद नगर वालों से युद्ध होते रहते थे

ज़ात और तीन हज़ार सवारों का कर दिया[1]। साथ ही इन्हें 'दलथंभन' (फ़ौज का रोकने वाला) का खिताब दे कर जालोर का परगना मनसब की जागीर में दिया[2]।

इस युद्ध में इन्हों ने मलिक अंबर (चंपू) का लाल झंडा छीन लिया था। उस घटना की यादगार के उपलक्ष में उसी दिन से जोधपुर के राजकीय झंडे में लाल रंग की पट्टी लगाई जाने लगी।

बादशाह ने महाराज की दक्षिण की इन वीरताओं से प्रसन्न हो कर वि० सं० १६७९ की चैत्र सुदि ९ (११ मार्च १६२२) को इन्हें एक नक्कारा उपहार में दिया[3]।

वि० सं० १६८० (ई० स० १६२३) में महाराज दक्षिण से लौट कर जोधपुर आए और कुछ दिन यहाँ रह कर देश के प्रबंध की देख भाल करते रहे। इस के बाद इसी वर्ष के वैशाख में यह लौट कर बादशाह के पास चले गए[4]। इन दिनों शाहज़ादा खुर्रम नूरजहाँ बेगम के प्रपंच से नाराज़ हो कर बागी हो रहा था। मौका पा कर उस ने देहली पर अधिकार करने की तैयारी की। जैसे ही इस की सूचना बादशाह जहाँगीर को मिली, वैसे ही उस ने शाहज़ादे परवेज़

---

[1]'तुज़ुक जहाँगीरी', पृ० ३४१।

[2]ख्यातों में लिखा है कि इस समय वहाँ पर शाहज़ादे खुर्रम का अधिकार था। उस के सैनिकों ने महाराज के आदमियों को क़िला सौंपने से इनकार कर दिया। इस के बाद जिस समय बादशाह ने शाहज़ादे खुर्रम को दक्षिण से माँडू की तरफ जा कर वहाँ के उपद्रव को शांत करने की आज्ञा दी, उसी समय राजा गजसिंह जी को भी उस की सहायता के लिये वहाँ जाने को लिखा। इस के अनुसार जब महाराज शाहज़ादे के पास बुरहानपुर पहुँचे, तब उस ने इन को प्रसन्न करने के लिये जालोर के साथ ही साँचोर का परगना भी इन्हें दे दिया। परंतु फारसी इतिहासों से इस की पुष्टि नहीं होती।

[3]'तुज़ुक जहाँगीरी', पृ० ३५१।

[4]वही पृ० ३६८

को उसे दंड देने के लिये रवाना किया। उस के साथ महाबत ख़ाँ और राजा[1] गजसिंह जी को भी उधर जाने की आज्ञा दी गई। उस समय जहाँगीर ने महाराज का मनसब बढ़ा कर पाँच हज़ारी ज़ात और चार हज़ार सवारों का कर[2] दिया, और इस के साथ फलोधी का प्रांत जागीर में दिया। मालवे[3] में पहुँचने पर ख़ुर्रम का और शाही सेना का सामना हुआ। परंतु इस में परास्त हो कर ख़ुर्रम को दक्षिण की तरफ़ भागना पड़ा। इस के बाद शाहज़ादा परवेज़ अपने सहायकों को साथ ले कर बुरहानपुर चला गया। इस युद्ध के समय की महाराज की वीरता से शाहज़ादा परवेज़ इतना प्रसन्न हुआ कि उस ने इन को मेड़ते का[4] परगना उपहार में दे दिया।

---

[1] नवलकिशोर प्रेस की छपी 'तुज़ुक जहाँगीरी' के पृष्ठ ३६९ पर गजसिंह जी के नाम के आगे महाराज की उपाधि लगी होने से अनुमान होता है कि शायद इस अवसर पर इन को यह पदवी दी गई हो।

[2] 'तुज़ुक जहाँगीरी', पृ० ३६९।

[3] अंग्रेज़ी इतिहासों में इस युद्ध का बल्लोचपुर में होना लिखा है। विंसेंट स्मिथ के लेखानुसार यह देहली के दक्षिण में था। ('ऑक्स फ़ोर्ड हिस्ट्री अव् इंडिया', पृ० ३८६)

[4] ख्यातों में लिखा है कि बादशाह ने इस अवसर पर अजमेर का सूबा शाहज़ादे परवेज़ को जागीर में दे दिया। इस पर उस ने मेड़ता सैयदों को सौंप देने का विचार किया। परंतु राजा गजसिंह जी ने कूँपावत राजसिंह को भेज कर महाबत ख़ाँ से इस की शिकायत की। उस ने भी उस समय महाराज को अप्रसन्न करना उचित न जान शाहज़ादे को ऐसा करने से रोक दिया। परंतु उन्हीं ख्यातों में लिखा है कि वि० सं० १६७९ (ई० स० १६२२) में मेर जाति के जंगली लोगों ने मेड़ता प्रांत के पशुओं को पकड़ने का उद्योग किया। यह देख वहाँ के शाही शासक ने उन पर चढ़ाई की। मार्ग में जिस समय वह नंदवाड़ा नामक गाँव में पहुँचा, उस समय वहाँ के ब्राह्मणों (नंदवाड़े बोहरों) की संपत्ति को देख उस ने उन के बहुत से मुखियों को पकड़ लिया इस की सूचना पाते ही बलूंदे के ठाकुर मेड़तिया श्यामसिंह और

अगले वर्ष शाहज़ादे खुर्रम ने उड़ीसा और बिहार फ़तह कर फिर से देहली के तख़्त पर अधिकार करने के लिये चढ़ाई की। परंतु बनारस के पास टोंस नदी के किनारे उसे शाहज़ादे-परवेज़ की सेना से परास्त हो कर भागना पड़ा। इस युद्ध का श्रेय भी राजा गजसिंह जी की अद्भुत वीरता को ही दिया जाता है। इस का वर्णन इस प्रकार लिखा मिलता है।

वि० सं० १६८१ (ई० स० १६२४) में जिस समय शाहज़ादा खुर्रम फिर से बादशाहत पर अधिकार करने की नीयत से सेना सज कर रवाना हुआ उस समय उस की सेना के अग्र भाग का संचालक महाराना अमरसिंह का पुत्र भीम था।[1] इस की सूचना पाते ही शाहज़ादा परवेज़ भी उस के मुक़ाबले को चला। जब दोनो सेनाओं का सामना[2] हुआ, तब परवेज़ ने जयपुर महा-

---

जैतारन के हाकिम पंचोली रायोदास आदि ने उस का पीछा किया। मुँगदड़ा गाँव के पास पहुँचते पहुँचते दोनों का सामना हो गया। इस से थोड़ी ही देर के युद्ध में उक्त शाही शासक ब्राह्मणों को छोड़ कर भाग गया।

इस से प्रगट होता है कि पहले मेड़ते पर बादशाह का ही अधिकार था परंतु इस अवसर पर महाराज की वीरताओं के उपलक्ष में वह नगर इन के शासन में दे दिया गया होगा।

[1] भीम मेवाड की उस सेना का सेनापति था, जो उस समय महाराणा कर्णसिंह जी की तरफ़ से बादशाही सेवा में रहा करती थी। जहाँगीर ने भीम को राजा की पदवी, और टोडे की जागीर दी थी। कुछ समय बाद ही बादशाह की कृपा से वह पाँच हज़ारी मनसब तक पहुँच गया था।

इस के बाद वह शाहज़ादे खुर्रम से मिल गया, और उस ने खुर्रम की आज्ञा से पटना विजय कर लिया।

[2] मारवाड़ की ख्यातों में इस युद्ध का पटने के पास 'मुंतख़िबुल्लुबाब' में बंगाल की सरहद में, और 'तुज़ुक जहाँगीरी' में बनारस के पास होना लिखा है। **कहीं कहीं इस युद्ध का झूसी के पास होना भी लिखा मिलता है**

राज जयसिंह जी[1] के पास अधिक सेना देख कर उन्हें अपनी सेना के अग्र भाग का मुखिया बना दिया। हमेशा से राठौड़ नरेशों के ही शाही सेना के अग्र भाग में रहने का रिवाज होने से यह बात राजा गजसिंह जी को अच्छी न लगी इस से यह अपनी सेना के साथ नदी की बाईं तरफ परवेज़ को सेना से कुछ हट कर खड़े हो गए। युद्ध होने पर कुछ ही देर मे जिस समय परवेज की सेना के पैर उखड़ गए, उस समय शाहज़ादे खुर्रम ने भीम को एक तर्फ़ खड़ी हुई राजा गजसिंह जी की सेना पर आक्रमण कर उसे भगा देने का इशारा किया। इस पर तत्काल भीम और गजसिंह जी की सेनाओं के बीच युद्ध छिड़ गया। यद्यपि विजय से उन्मत्त सीसोदियों और खुर्रम के अन्य सैनिकों ने राठोड़ों को मार भगाने का बड़ा प्रयत्न किया, तथापि वीर राठौड़ अपने स्थान से जरा भी न हटे। उलटा कुछ देर के युद्ध के बाद ही सेनापति भीम के मारे जाने से सीसोदियों का उत्साह शिथिल पड़ गया, और खुर्रम की विजय पराजय मे बदल गई। इन की इस वीरता से प्रसन्न हो कर जहाँगीर ने इन के सवारों में १,००० की वृद्धि कर[2], इन का मनसब पाँच हज़ारी ज़ात और पाँच हजार सवारों का कर दिया।[3] इस के बाद महाराज ने प्रयाग पहुँचे चाँदी का तुलादान किया और वहाँ से यह दक्षिण की तरफ चले गए।

जिस समय महाराज दक्षिण मे थे, उस समय एक बार शाहज़ादे खुर्रम ने अचानक आ कर बुरहानपुर को घेर लिया।[4] इस अवसर पर भी राजा गजसिंह जी ने भाद्राजन के ठाकुर मुकुंददास आदि को साथ ले कर शाहज़ादे की सेना को भगाने मे बड़ी वीरता दिखलाई।

---

[1] फ़ारसी तवारीखों से इस युद्ध में जयसिंहजी के सम्मिलित होने का पता नहीं चलता। परंतु साथ ही उन में कई अन्य नरेशों के नाम भी नहीं दिए हैं।

[2] ख्यातों में लिखा है कि इस के साथ बराड़ प्रांत का जलगाँव इन्हें जागीर मे दिया गया था।

[3] इस का उल्लेख मारवाड़ की ख्यातों में है, और इस की पुष्टि 'बादशाह नामे' के लेख से भी होती है। (देखो पृष्ठ १५८)

[4] इस समय मलिक अंबर भी खुर्रम के साथ था।

वि० सं० १६८२ (ई० स० १६२५) में नूरजहाँ बेगम महाबत खाँ से नाराज़ हो गई। इसी से उस ने बादशाह से कह कर उसे दक्षिण से बंगाल की तरफ़ चले जाने या दरबार में हाज़िर होने की आज्ञा भिजवा दी। इस पर वह दक्षिण में उपस्थित अधिकांश सरदारों को साथ ले कर बंगाल की तरफ़ जाने का प्रयत्न करने लगा। परंतु महाराज ने उन में से बहुतों को बादशाह की आज्ञा का मर्म समझा कर वहीं रोक लिया[1]। इस से दक्षिण का जीता हुआ प्रदेश शत्रुओं के हाथों में जाने से बच गया।

वि० सं० १६८४ की कार्तिक बदि ३० (२९ अक्तूबर, १६२७ ई०) को बादशाह जहाँगीर का स्वर्गवास हो गया, और आपस की फूट के कारण बादशाहत का प्रबंध शिथिल पड़ गया। यह देख दक्षिण का सूबेदार खाँ जहाँलोदी बालाघाट का प्रांत निज़ामुलमुल्क को सौंप कर माँडू पर अधिकार करने के लिए रवाना हुआ। राजा गजसिंह जी और जयपुर के मिरज़ा राजा जयसिंह जी भी (दक्षिण से) उस के साथ हो लिए। परंतु फिर मार्ग से ही ये दोनों उस का साथ छोड़ अपनी अपनी राजधानियों की तरफ़ चले आए[2]।

वि० सं० १६८४ की माघ सुदि १० (४ फ़रवरी १६२८ ई०[3]) को शाहजहाँ आगरे पहुँच कर तख़्त पर बैठा[4]। इस पर फागुन वदि ४ (१३ फ़रवरी)

---

[1] बादशाह उस को शाहज़ादे परवेज़ से दूर करना चाहता था। इसी से उस को वहाँ से हटाना आवश्यक था। महाराज के समझाने पर भी करीब ५,००० राजपूत सैनिक उस के साथ हो लिए। इन्हीं की सहायता से उस ने कुछ दिन बाद बंगाल से लौटने पर बादशाह जहाँगीर को, जो उस समय झेलम पार कर काबुल जाने के लिये उद्यत था, पकड़ कर कुछ दिन के लिये अपनी क़ैद में ले लिया। यह घटना वि० सं० १६८३ (ई० स० १६२६) की है।

[2] 'बादशाहनामा', भा० १, पृ० ७६।

[3] 'क्रॉनॉलॅजी अव् माडर्न इंडिया' में उस दिन फ़रवरी की १४ तारीख़ का होना लिखा है। यह चिंत्य है (देखो पृ० ८२)।

[4] — ', जिल्द १, पृ० ८७

को राजा गजसिंह जी भी जोधपुर से आगरे जा पहुँचे। यद्यपि इन्हों ने बादशाह जहाँगीर के कहने से परवेज़ के साथ जा कर दो बार खुर्रम (शाहजहाँ) को सम्मुख रण से भागने पर बाध्य किया था, तथापि इन की वीरता और साहस का विचार कर उस ने इस अवसर पर इन का बड़ा आदर सत्कार किया, और खासा खिलअत, जड़ाऊ खंजर, फूलकटार, जड़ाऊ तलवार, खासे अस्तबल का सुनहरी ज़ीन वाला घोड़ा, खासा हाथी, नक्कारा और निशान दे कर बादशाह जहाँगीर के समय का इन का पाँच हज़ारी ज़ात और पाँच हज़ार सवारों का मनसब यथानियम स्वीकार कर लिया[1]।

इस के बाद राजा गजसिंह जी ने शाहजहाँ की इच्छानुसार सीसोदरी (फतहपुर सीकरी के निकट) के क़िले पर चढ़ाई कर वहाँ के बागियों को सर किया[2]।

वि० सं० १६८६ की चैत बदि ७ (२३ फ़रवरी १६३० ई०) को शाहजहाँ ने निज़ामुलमुल्क और ख़ाँजहाँ लोदी को दंड देने के लिये तीन सेनाएं बालाघाट की तरफ रवाना कीं। इन में से एक सेना के सेनापति राजा गजसिंह जी बनाए गए[3]। इन्हों ने इस बार भी शत्रुओं का दमन करने में अच्छी वीरता दिखाई। इस के बाद वि० सं० १६८७ के सावन (जुलाई १६३० ई०) में बादशाह ने इन्हें अपने पास बुला लिया[4]। इस के बाद इसी वर्ष की

---

[1] 'बादशाहनामा' भा० १, पृ० १५८—१५९।

[2] 'गुणभाषाचित्र' में लिखा है कि बुंदेला वरसिंह का पुत्र जोगराज बागी हो गया था। उसे दंड देने के लिये जब बादशाह ने चढ़ाई की तब उस के साथ महाराज गजसिंहजी भी थे। वहाँ पर के युद्ध में इन्हों ने अच्छी वीरता दिखाई। इस से जोगराज को परास्त होना पड़ा (देखो पृ० ७७)।

[3] 'बादशाहनामा', भा० १, पृ० २९४।

[4] वही, भा० १, पृ० ३०८। 'बादशाहनामे' में लिखा है कि इसी वर्ष नसीर ख़ाँ ने, जो गजसिंह जी की सेना में नियत था, तिलंगाना और कंधार की विजय का कार्य अपने ज़िम्मे किए जाने की बादशाह से प्रार्थना की थी। इस से वह कार्य उसको सौंपा गया और को वापिस बुला लिया गया

आश्विन सुदि (अक्तूबर) में बादशाह ने इन को जड़ाऊ पट्टेवाली एक खासी तलवार दे कर[1] दक्षिण की तरफ़ भेजा। वहाँ पर भी महाराज की राठौड़ सेना ने बड़ी वीरता दिखलाई। वि० सं० १६८८ के पौष (दिसंबर १६३१ ई०) मे महाराज यमीनुद्दौला (आसफ़खाँ) के साथ मोहम्मद आदिलखाँ को दंड देने के लिये फिर बालाघाट की तरफ़ भेजे गए। हमेशा की तरह इस बार भी यह शाही सेना के अग्र भाग के सेनापति बनाए गए[2]। इस के कुछ दिन बाद महाराज जोधपुर चले आए और यहाँ पर राज्यकार्य की देख-भाल करने लगे। वि० सं० १६९० के वैशाख (मार्च १६३३ ई०) मे यह फिर जोधपुर से लौट कर आगरे पहुँचे[3]। इस पर बादशाह ने एक खिलअत और एक सुनहरी जीन वाला घोड़ा दे कर इन का सत्कार किया। इस के बाद यह फिर दक्षिणियों के उपद्रव को दबाने के लिये उधर चले गए[4]। वि० सं० १६९२ की फागुन सुदि १४ (१० मार्च १६३६ ई०) को दौलताबाद के मुक़ाम पर बादशाह शाहजहाँ ने इन की वीरता से प्रसन्न हो कर इन्हे सुनहरी जीन सहित एक खासा घोड़ा दिया[5]। इस के बाद वि० सं० १६९३ के पौष (दिसंबर १६३६ ई०) में यह बादशाह के साथ दक्षिण से लौटे। मार्ग मे जब बादशाह अजमेर से आगरे को चला तब जोगी तालाब के पास उस ने महाराज को, एक खासा खिलअत, एक हाथी और एक सुनहरी जीन वाला खासा घोड़ा उपहार में दे कर,[6] जोधपुर को बिदा किया। यहाँ पर यह करीब डेढ़ वर्ष तक अपने राज काज की जाँच में लगे रहे। इस

---

[1] 'बादशाहनामा', भा० १, पृ० ३१५।

[2] वही, भा० १, हिस्सा १, पृ० ४०४-४०५।

[3] इस अवसर पर इन्हों ने १ हाथी कुछ जवाहिरात, और हथियार बादशाह की भेंट किए थे। ('बादशाहनामा', भा० १, पृ० ४७४)

[4] इस सत्कार और यात्रा का उल्लेख फ़ारसी तवारीख़ों में नहीं है। यह ख्यातों से लिया गया है।

[5] 'बादशाहनामा', भा० १, हिस्सा २, पृ० १४१-१४२।

[6] वही, भा० १, हिस्सा २, पृ० २३३।

के बाद वि० सं० १६९४ की पौष बदि ४ (ई० स० १६३७ की २५ नवंबर) को यह अपने द्वितीय महाराज-कुमार जसवंतसिंह जी को साथ ले कर बादशाह के पास आगरे पहुँचे[1]। वहाँ पर माघ के महीने (जनवरी १६३८ ई०) में बादशाह ने इन्हें फिर एक खिलअत दे कर इन का सत्कार किया[2]।

वि० सं० १६९५ को जेठ सुदि ३ (६ मई १६३८ ई०) को आगरे में ही राजा गजसिंह जी का देहांत हो गया[3]। इस से वहीं पर यमुना के किनारे इन का अंत्येष्टि संस्कार कर उक्त स्थान पर एक छतरी बनाई गई।

राजा गजसिंह जी बड़े वीर और दानी थे। ख्यातों के अनुसार इन्हों ने छोटे बड़े ५२ युद्धों में भाग लिया था, और इन में के प्रत्येक युद्ध में यह सेना के अग्र भाग के सेनापति रहे थे। इन की वीरता के कार्यों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। बादशाही दरबार में इन का बड़ा मान था और स्वयं बादशाह ने इन्हें 'दलथंभन' की उपाधि से भूषित कर इन के घोड़ों को शाही दाग से मुक्त कर दिया था। महाराज के साथ हर समय सजे सजाए पाँच हज़ार सवार

---

[1] 'बादशाहनामा', भा० २, पृ० ८।

[2] वही, भा० २, पृ० ११।

[3] वही, भा० २, पृ० ९७। मारवाड़ की ख्यातों में लिखा है कि जिस समय महाराज आगरे में बीमार हुए, उस समय स्वयं बादशाह शाहजहाँ इन से मिलने के लिये आया। इसी अवसर पर बातचीत के सिलसिले में महाराज ने उस से अपने द्वितीय पुत्र जसवंतसिंह जी को जोधपुर का राज्य और बड़े पुत्र अमरसिंह जी को अलग मनसब देने की प्रतिज्ञा करवा ली। इसी प्रकार इन्हों ने अपने सामंतों से भी अपने पीछे जसवंतसिंह जी को गद्दी पर बिठाने का वचन ले लिया था।

वि० सं० १६८९ के दो लेख फलोधी से मिले हैं। इन में महाराज गजसिंह जी का और उन के बड़े पुत्र महाराज कुमार अमरसिंह जी का उल्लेख है। ('जर्नल बंगाल एशियाटिक सोसाइटी' (१९१६; पृ० ९७-९८)। डाक्टर जेंस बर्जेस ने अपनी बनाई 'क्रॉनोलॉजी अव् मॉडर्न इंडिया' पृ० ९१) में राजा गजसिंह जी का वि० स०

रहा करते थे। यह अपनी इस सेना की देख भाल भी स्वयं ही किया करते थे। इन के दान के विषय मे ख्यातों से ज्ञान होता है कि इन्हों ने १४ कवियों को जुदा जुदा 'लाख पसाव'[1] दिए थे। वास्तव मे देखा जाय तो इन का ख़ज़ाना वीरों और कवियों को पुरस्कार देने में ही ख़र्च होता था। महाराज को हाथियों और घोड़ों का भी बड़ा शौक़ था। साथ ही यह समय समय पर अपने मित्रों और अनुयायियों को भी इन में से अच्छे अच्छे हाथी और घोड़े भेट या पुरस्कार रूप में देते रहते थे।

राजा गजसिंह जी के बनवाए हुए स्थान जोधपुर के क़िले मे तोरनपौल, उस के आगे का सभामंडप, दीवानख़ाना, बीच की पौल, कोठार, रसोईघर, और आनंदघन जी का मंदिर[2], तलहटी के महलों में के अनेक नए महल, सूरसागर में का कूँआ और बगीचा हैं।

राजा गजसिंह जी के दो पुत्र थे। अमरसिंह जी और जसवंतसिंह जी।

---

[1] राजपूताने मे चारणों, आदि को 'लाख पसाव' देने का यह नियम था कि जिस को यह पुरस्कार देना होता उस को कुछ वस्त्र, आभूषण, हाथी अथवा घोड़ा और कम से कम एक हज़ार रुपये सालाना की जागीर दी जाती थी।

[2] आज कल इन स्थानों का पूरी तौर से पता लगना कठिन है, क्योंकि इन मे के कुछ तो गिरा दिए गए हैं और कुछ के रूप बदल गए हैं।

संपादकीय

इस अंक के साथ 'हिंदुस्तानी' का दूसरा वर्ष आरंभ होता है। पत्रिका के विषय में जो सम्मतियाँ हमारे देखने में आई हैं उन से हम यह कह सकते हैं कि इस ने हिंदी-जगत में अपने लिये एक आदरणीय स्थान प्राप्त कर लिया है। प्रचार की दृष्टि से, इस वर्ष से पत्रिका का मूल्य भी घटा कर पाँच रुपए वार्षिक कर दिया गया है। परंतु हमारा यही प्रयत्न रहेगा कि इस की उपयोगिता में कोई कमी न आने पावे, वरन् इस की वृद्धि ही होती रहे।

* * *

हिंदुस्तानी एकेडेमी के साहित्य-सम्मेलन का तीसरा वार्षिक अधिवेशन आगामी ५, ६ और ७ मार्च को होना निश्चित हुआ है। पिछले वर्ष इस सम्मेलन को जो सफलता प्राप्त हुई उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि सम्मेलन ने अपनी उपयोगिता सिद्ध कर दी है।

इस सम्मेलन का उद्देश यह है कि हिंदी उर्दू के विद्वान् एकत्र हो कर अपने विचारों का विनिमय तथा इन भाषाओं के आधुनिक साहित्य एवं भाषा-संबंधी प्रश्नों पर परामर्श करें। साथ ही इस प्रश्न पर भी विचार करें कि हिंदुस्तानी एकेडेमी किस प्रकार से दोनों भाषाओं की उन्नति और वृद्धि में अधिकाधिक सहायक हो सकती है।

जिन विषयों पर विवेचना की जायगी या जिन पर निबंध पढ़े जायँगे नीचे दिए हैं।

१—समालोचना। २—साहित्य का इतिहास। ३—कला। ४—भाषा-विज्ञान। ५—इतिहास और पुरातत्व। ६—दर्शन। ७—एकेडेमी के उद्देश।

हिंदी और उर्दू के प्रमुख विद्वानों को इस में भाग लेने के लिये साग्रह निमंत्रण दिया गया है और इस बात की आशा की जाती है कि वे पधार कर सम्मेलन को सफल बनाएंगे।

भारतीय विश्वविद्यालयों के तथा साहित्यिक संस्थाओं और विद्वत्परिषदों के प्रतिनिधि भी उपस्थित हो कर सम्मेलन की शोभा बढ़ावेंगे।

एकेडेमी को ओर से प्रति वर्ष होने वाले व्याख्यान भी इसी अवसर पर दिए जाएंगे। इस वर्ष के व्याख्याता हैं (१) डाक्टर जाकिर हुसैन, एम० ए०, पी० एच्० डी०, दिल्ली। इन का व्याख्यान उर्दू में अर्थशास्त्र के किसी अंग पर होगा। (२) श्रीयुत एम्० सी० मेहता। आप भारतीय चित्रकला पर हिंदी में व्याख्यान देंगे। इन के अतिरिक्त पंडित पद्मसिंह शर्मा का व्याख्यान, जो पिछले वर्ष होने से रह गया था, होगा।

इस बात का ध्यान रखते हुए कि इस सम्मेलन में उन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार होगा जिन पर हमारी प्रांतीय भाषाओं की उन्नति बहुत कुछ निर्भर है यह आशा की जाती है कि हिंदी-उर्दू-प्रेमी विद्वान् और जनता अधिक संख्या मे सम्मेलन में उपस्थित होंगे।

सभी भाषा-प्रेमियों और विद्वानों से अनुरोध है कि सम्मेलन के अवसर पर उपस्थित हो कर और अपनी रचना पढ़ कर हमें अनुगृहीत करें। जो सज्जन निबंध पढ़ना चाहे, अपने निबंध का संक्षेप कृपा कर फरवरी के अंत तक मंत्री हिंदुस्तानी एकेडेमी के पास अवश्य भेज दें।

अधिवेशन के कार्य-क्रम के विषय मे सूचना एकेडेमी के दफ्तर से प्राप्त हो सकती है।

❦ ❦ ❦

पिछले वर्षों की भाँति इस वर्ष भी एकेडेमी की ओर से पाँच पाँच सौ रुपये के दो पुरस्कार, हिंदी और उर्दू दोनों ही भाषाओं में (१) मनोविज्ञान, और (२) कविता विषयक सर्वोत्तम ग्रंथ पर, दिए जायँगे। रचना मौलिक होनी चाहिए और पुस्तक की सात प्रतियाँ एकेडेमी के दफ़्तर में ३१ अगस्त १९३२ तक पहुँच जानी चाहिए।
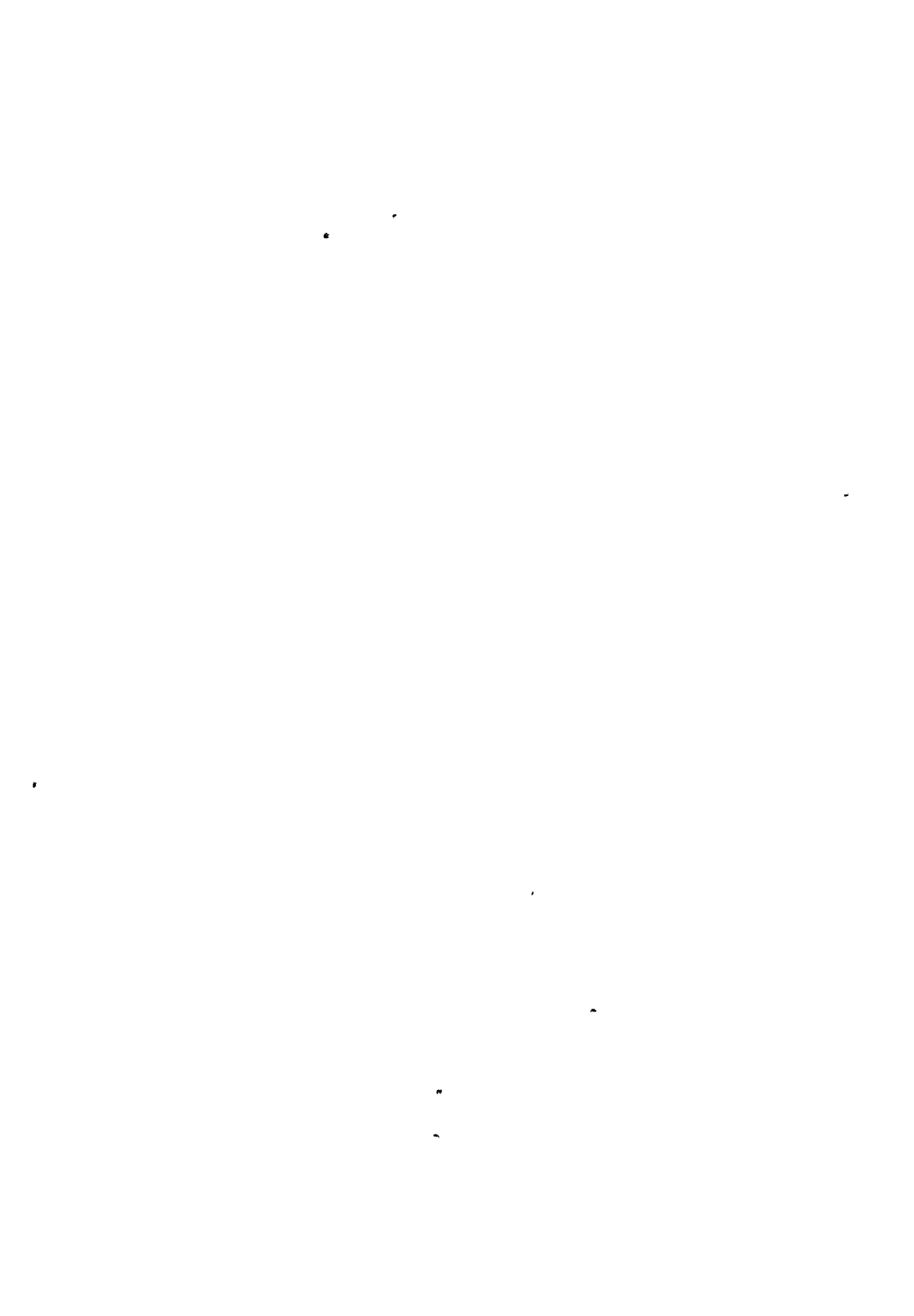
हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग २ | अप्रैल १९३२ | अंक २

हिंदी या हिंदुस्तानी ?

[लेखक—श्रीयुत रामनरेश त्रिपाठी]

वह भाषा जो आजकल युक्तप्रांत, बिहार, मध्यप्रदेश और देहली और उस के आसपास के दूसरे प्रांतों के वर्नाकुलर स्कूलों में आमतौर से पढ़ाई जाती है, और जिस में कितने ही मासिक, साप्ताहिक और दैनिक अख़बार निकल रहे हैं, कोई एक ख़ास सूरत नहीं रखती। कम से कम वह तीन सूरतों में आसानी से तक़सीम की जा सकती है। एक वह जिस का नाम हिंदी है, और जिस में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द ही ज्यादा हैं; दूसरी वह जो उर्दू कहलाती है, और जिस में अरबी, फ़ारसी और तुर्की के अल्फ़ाज भरे हुए हैं; तीसरी वह जो इन दोनों के बीच की भाषा है, और जिस में सिर्फ़ बोलचाल के वे ही अल्फ़ाज आने पाते हैं जो आम लोगों की ज़बान पर हैं, चाहे वे संस्कृत से आए हों, चाहे अरबी, फ़ारसी, या तुर्की से। यह हिंदी और उर्दू की खिचड़ी है। इसे हिंदुस्तानी कहते हैं। एडविन ग्रीव्ज़ ने अपने 'हिंदी ग्रामर' की भूमिका में हिंदुस्तानी की यह की थी

"हिंदुस्तानी नाम कुछ यथार्थता के साथ उस प्रकार के साहित्य का दिया जा सकता है जिसे कुछ ऐसे लेखक अपना रहे हैं जिन का शब्द-कोष अधिकांश उर्दू है परंतु जो अपनी रचनाएं नागरी लिपि में छपाते हैं।"[१]

आजकल इस की व्याख्या में थोड़ा अंतर पड़ रहा है। अब केवल देव-नागरी लिपि में लिखी जानेवाली उर्दू जबान को हिंदुस्तानी नहीं कहते; बल्कि अब तो उस में अंग्रेजी के भी लफ़्ज़ घुल-मिल गए हैं। जैसे—

"मैं ने कई दफ़े यह आवश्यकता महसूस की कि मेंबर लोग विवाद-ग्रस्त मामलों में अच्छी तरह विचार कर के तब वोट दिया करें।"

इस में 'दफ़े', 'महसूस', 'मामलों' और 'तरह' शब्द फ़ारसी या उर्दू के; 'मेंबर' और 'वोट' अंग्रेज़ी के, और बाक़ी सब हिंदी के हैं।

हमें अपनी जबान के तीनों रूपों पर अलग-अलग विचार करना है। पहले हिंदी को लीजिए।

हिंदी

हिंदी के सब से पुराने कवि जिन की कविता अब तक सब से पुरानी मानी जाती है अमीर खुसरो हैं। अमीर ख़ुसरो का समय संवत् १३१२ से १३८० तक है। यह वह समय है जब हिंदुस्तान में मुसलमानी हुकूमत का प्रारंभ हो रहा था। उस वक़्त उर्दू का कहीं नामो-निशान भी नहीं था। ख़ुसरो ने अपने समय की आमफ़हम जबान में बहुत से दोहे, ठुमरियाँ, पहेलियाँ, दो सखुने और ढकोसले कहे हैं। उन्हें देखने से यह साफ़ मालूम होता है कि खुसरो की जबान ही हमारी आजकल की हिंदी है। ख़ुसरो की एक पहेली है—

बीसों का सिर काट लिया।
ना मारा ना ख़ून किया॥

इस में और आजकल की हिंदी में क्या अंतर है?

खुसरो ने अरबी, फारसी, और तुर्की शब्दों को हिंदी में भरने का सब से पहला उद्योग किया था। उस के नाम से 'ख़ालिक़-बारी' नाम का एक पद्य-कोष भी मिलता है, जिस में हिंदी और फारसी के पर्यायवाची शब्द जमा किये गए हैं। वह पुराने ढर्रे के मकतबों में बहुत दिनों तक पढ़ाई जाती रही है। 'ख़ालिक-बारी' की बदौलत समझिए या जीवन-संघर्ष के कारण, अब तो हिंदी में मुसलमानी शब्द इतने अधिक भर गए हैं जितने 'ख़ालिक-बारी' में भी नहीं हैं।

खुसरो की भाषा पर विचार करने से हिंदी का आदि-काल विक्रम की छठी-सातवीं शताब्दी से इधर का नहीं पड़ता। ख़ुसरो ने उस समय की हिंदुओं की भाषा का नाम हिंदवी लिखा है; जैसे—

अरबी बोले आईना, फ़ारसी बोले पाईना।
हिंदवी बोले आरसी आये, मुँह देखे जो इसे बताये॥

इस के बाद जायसी ने अपने समय की भाषा का नाम हिंदवी लिखा है; जैसे—

अरबी तुर्की हिंदवी, भाषा जेती आहि।
जामे मारग प्रेम का, सबै सराहैं ताहि॥

इस से हिंदी का पुराना नाम हिंदवी जान पड़ता है, जिस का अर्थ है हिंदुओं की भाषा। ख़ुसरो और जायसी दोनों मुसलमान थे, इस से उन्हों ने हिंदुओं की भाषा का एक अलग नाम दिया है, जो उचित ही था। पर आजकल हिंदी इस अर्थ में नहीं ली जाती है। आजकल वह एक स्वतंत्र भाषा है जिसे हिंदू, मुसलमान, और अँग्रेज़ तीनों सीखते और काम में लाते हैं। पहले उस का अर्थ चाहे जो कुछ रहा हो, पर आजकल उस का मतलब सिर्फ़ हिंदुओं की भाषा से नहीं, पर तमाम हिंद की ज़बान से है।

हम में से कुछ लोग हिंदी के कट्टर हिमायती हैं, जो अपनी भाषा में विदेशी शब्दों के आने देने के सख्त विरोधी हैं। मैं समझता हूँ वे अपनी भाषासंबंधी मौजूदा हालत से वाक़िफ़ कम हैं। हिंदुओं के रहन-सहन पर मुसलमानी की गहरी छाप पड़ चुकी है, इसे वे नहीं देखते विदेश स

आए हुए कितने ही शब्द हमारे घरों में नौकर की तरह हमारी ख़िदमत बजा रहे हैं। उन्हें हम अलग नहीं कर सकते। पता नहीं, वे कब आए और किन के साथ आए। नमूने के लिये 'रोटी' शब्द को लीजिए। यह न मुसलमानों का शब्द है, न हिंदुओं का। फिर भी हिंदू, मुसलमान किसी को भी हिम्मत नहीं कि इस अहिंदू गुलाम को घर से बाहर निकाल दे। यह हमारे घरों में बच्चे से लेकर बुड्ढे तक की ज़बान पर है और इस ने जिस की जगह ली, उसे ऐसा नेस्तनाबूद किया कि हमें शक होने लगा है कि हमारे पुरखे रोटी खाते थे या केवल दाल, भात, और माँड़ पर गुज़र करते थे। छप्पन प्रकार के व्यंजनों में 'रोटी' भी था या नहीं, यह कौन कह सकता है ? हमारे राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, विक्रमादित्य, चंद्रगुप्त, अशोक, भीम, और हनुमान आदि वीरों ने क्या भात खा-खाकर बल के इतने करिश्मे दिखलाए थे ? यदि वे भी रोटियाँ खाते थे, तो उस का पुराना नाम क्या था ?

'रोटी' ही नहीं, 'तवा' भी विदेशी शब्द है। यह फ़ारसी का 'तावा' है, जो घिस-घिसाकर 'तवा' हो गया है। जब रोटियाँ रही होंगी, तब तवा भी रहा होगा; पर 'तवे' ने जिस हिंदू बरतन को निकाल कर चूल्हे पर क़ब्ज़ा किया, उस का नाम क्या था ? यह अब शायद कोई हिंदी-दाँ नहीं जानता। क्या हिंदुई या हिंदवी के कट्टर हिमायती रोटी और तवे को छोड़ने को तैयार हैं ?

'पगड़ी' और 'पेट' भी अनार्य शब्द हैं। पेट तो आजकल दिमाग़ पर चढ़ा हुआ है, और उस ने पगड़ी को पैरों पर डाल रक्खा है। 'पेट' का स्थान यदि हम 'उदर' को दे दें, तो क्या 'पेट' चल सकता है ?

हमारे घरों में कितने ही ऐसे शब्द हैं जो अपने मुल्क का नाम अभी तक अपने साथ रक्खे हुए हैं। जैसे—

'चीनी'—चीन देश की शक्कर को कहते हैं। पहले लोग बाज़ार में जब इसे ख़रीदने जाते रहे होंगे, तब कहते रहे होंगे—चीनी शक्कर दो। अब शक्कर उड़ गया, चीनी रह गया।

'मिश्री'—मिश्रदेश का निवासी है। मिश्री शक्कर का 'शक्कर' निकल गया, मिश्री बाक़ी रह गया

'सुरती'—यह पहले सूरती तम्बाकू था। जिस का अर्थ था सूरत शहर (बंबईप्रांत) से आया हुआ तंबाकू। तंबाकू निकल गया। सूरती का 'सुरती' हो गया। अब जो तंबाकू पिया नहीं जाता, बल्कि खाया जाता है, उसे सुरती कहते हैं।

ऊपर मैं कह आया हूँ कि मुसलमानी सभ्यता ने हिंदू-समाज पर अपनी गहरी छाप लगा दी है। ऐसे बहुत से शब्द दिए जा सकते हैं जिन से इस बात का सबूत मिलेगा। नमूने के लिये कुछ शब्द आगे दिए जाते हैं—

अम्मा	(तुर्की) माँ।
बाबा	(फ़ारसी) पिता। हिंदुओं में पितामह को भी बाबा कहते हैं। पर ग्रामगीतों में बाबा पिता के अर्थ में आया है।
बालिग़	(अरबी) वयस्क
दामाद	(फ़ारसी) जामाता
हलवाई	(अरबी) पता नहीं, मुसलमानों से पहले इस मुल्क में हलवाई थे या नहीं, और उन का क्या नाम था ? हलवा बनाने से हलवाई नाम पड़ा है। क्या यहाँ के लोग पहले हलवा बनाना नहीं जानते थे ?
ख़रबूज़ा	(फ़ारसी)
चोग़ा	(फ़ारसी)
चिकन	(फ़ारसी)
चश्मा	(फ़ारसी)
पुर्ज़ा	(फ़ारसी)
हुक़्क़ा	(अरबी)
बुक़चा	(अरबी) बकुचा
असबाब	(अरबी)
जहेज़	(अरबी)
बुख़ार	(अरबी)
नौकर	फ़ारसी

दवात (फ़ारसी)
जलेबी (फ़ारसी)
जीरा (फ़ारसी)
रंदा (फ़ारसी)

बहुत-सी चीज़ें इस मुल्क में मुसलमानों के साथ आईं. उन के नाम भी ज्यों के त्यों रह गए और शहरों से लेकर गाँवों तक फैल गए। वे हमारी रोज़ाना ज़रूरियात में ऐसे शामिल हो गए हैं कि हम उन्हें अलग ही नहीं कर सकते। जैसे—

पायजामा, इज़ारबंद, रूमाल, शाल, दुशाला, चोग़ा, कुर्ता, पुलाव, ज़र्दा, कुर्मा, अचार, रकाबी, तश्तरी, चमचा, साबुन, शीशा, शीशी, फ़ानूस, हुक़्क़ा, नैचा, चिलम, बंदूक़, इत्यादि।

मुसलमानों ने यहाँ की बहुत-सी चीज़ों के नाम अपने रख दिए; वे ऐसे प्रचलित हुए कि अब उन के हिंदू नाम का पता सिर्फ़ कोष ही में मिल सकता है; जैसे—

पिस्ता, बादाम, मुनक़्क़ा, शहतूत, बेदाना, खूबानी, अंजीर, सेब, बिही, नाशपाती, अनार, मज़दूर, वकील, जल्लाद, सर्राफ़, मसख़रा, लिहाफ़, चादर, तकिया, तबोअन, बरफ़, बुलबुल, दवात, क़लम, स्याही, गुलाब, ऐनक, संदूक़, कुर्सी, तख़्त, लगाम, ज़ीन, तंग, कोतल, जहाज़, मस्तूल, बादबान, पर्दा, दालना, तनख्वाह, मल्लाह, रसीद, रसद, कारीगर, तराज़ू, दस्तावेज़, प्याला, चाक़ू, बाग़, तारीख़, अदालत, तोप, लाश, कोतल, इत्यादि।

मुसलमानों के बाद पार्चुगीज़ आए। उन के भी कुछ शब्द यहाँ छूटे हुए हैं; जैसे—

अँगरेज़, पिस्तोल, पलटन, कप्तान, कमरा, नीलाम, इंजिनियर, चा, काफ़ी, गोदाम, चाबी, इत्यादि।

अँग्रेज़ों के आने पर बहुत से अँग्रेज़ी शब्द शामिल हो गए; जैसे—

कोर्ट, अपील, टिकट, कलक्टर, डाक्टर, टेबिल, पेंसिल, पेंशन, बूट, फ़ार्म, बार्डिंग, डिग्री, ग्लास, फंड, रूल, ट्रेन, वारंट रबर पतलून,

मील, इंच, फुट, वास्कट, कोट, म्युनिसिपैलिटी, सेविंग्सबैंक, होटल, सोडावाटर, हास्पिटल, बोतल, पास, रजिस्ट्री, नोटिस, समन, स्कूल, कमेटी, फीस, स्लेट, टिन, प्रेस, इन्स्पेक्टर, बैरिस्टर, मास्टर, कांस्टेबल, वोटर, मोटर, कौन्सिल, एसेंबली, मीटिंग, मेंबर, फैमिली, सिगरेट, बाइसिकल, लाइन, बटन, हैट, निब, पालिश, इत्यादि !

ऊपर जितने शब्द दिये गए हैं, वे प्रायः सब विदेशी हैं और कट्टर से कट्टर हिंदू के घर में भी रसोई-घर से लेकर बैठक तक खुले-आम काम दे रहे हैं। ये हमारे जीवन के ऐसे साथी हो गए हैं कि इन को निकाल कर इन के स्थान पर अगर हम संस्कृत के नौकर रक्खें, तो एक दिन भी काम चलना मुश्किल हो जायगा। हिंदू लोग 'काका' को घर से निकाल नहीं सकते, न 'बाबा' को छोड़ सकते हैं; और लाला और चाचा भी निकाले नहीं जा सकते।

जितने सिले हुए कपड़े हिंदुओं के घरों में हैं, उन सब के नाम विदेशी है। इस से मालूम होता है कि हमारे यहाँ सिले हुए कपड़े विदेश से आए। यहाँ सिर्फ ओढ़ने का रिवाज रहा होगा। इन कपड़ों के संस्कृत नाम कहाँ से मिलेंगे ?

गहने प्रायः सब विदेशी है। 'बाजूबंद' की जगह अब 'अंगद' कहिए तो शायद ही कोई समझे। 'नूपुर' की जगह 'पाजेब' ने ले ली। जितने गहने आज-कल हिंदू स्त्रियाँ पहनती है, उन में से अधिकांश मुसलमानी हैं। हिंदुओं में अधिक गहने पहनने का शायद रिवाज ही नहीं था।

मेवों के नाम बिल्कुल ही विदेशी हैं। उन के संस्कृत नाम चाहे जो हों, अब उन का प्रचार नहीं। कोषों की सहायता से उन के पुराने नाम रखे तो बाजार में वे चल नहीं सकेंगे।

मिठाइयों के नाम भी विदेशी है। हलवा, जलेबी, बरफ़ी, समोसा, खुरमा, खाजा, कलाकंद, ख़स्ता, सभी तो विदेशी हैं।

काम-काज और लेन-देन के बहुत से शब्द विदेशी हैं, जो ऐसे स्वतंत्र हो गए हैं कि वे हटाए नहीं जा सकते ; जैसे, पुर्ज़ा, पोत, आदि।

बाजे बिल्कुल ही विदेशी हैं ढोल अरब से आया है अब वह मंदिरों

तक में पहुँच चुका है। बहुत से मंदिरों में ढोल बजाकर ही ठाकुर जी जगाए जाते हैं।

सब से अधिक आश्चर्य तो अबीर और गुलाल के लिये है। 'अबीर' अरब का है, और 'गुलाल' फारस का। पर वह हिंदुस्तान में इतना रायज हुआ कि हिंदुओं के एक मुख्य त्योहार होली का वह एक खास अंग हो गया और उसे ब्रजभाषा के कवियों ने ऐसा महत्त्व दिया कि अगर उसे उन की कविता में से निकाल दिया जाय तो ब्रजभाषा की लालिमा ही कम हो जाय। पता नहीं, अबीर-गुलाल के पहले हिंदुओं में होली का कौन-सा रंग चलता था।

इतने अधिक विदेशी शब्द हिंदुओं के घरों में घुसे हुए हैं और वे ऐसे कुटुंबी की तरह रहने लगे हैं कि पराये नहीं जान पड़ते। वे निकाले नहीं जा सकते। और जब तक वे निकाले नहीं जाते तब तक हिंदी के कट्टर हिमायतियों का यह दावा कि हिंदी में संस्कृत ही के शब्द रहने पाये, पूरा नहीं होता है।

मुसलमानों के आने से हज़ारों वर्ष पहले शक, हूण और युनानी आदि जातियाँ इस देश में आ चुकी हैं। यद्यपि अब उन का अस्तित्व यहाँ नहीं है, पर उन के शब्द किसी न किसी पोशाक में उन की यादगार की तरह बने ही हुए हैं। मेहरा, शाकद्वीपी, मिश्र (मिश्रदेशी ब्राह्मण), जाट आदि ऐसे ही शब्द तो हैं। अतएव कोई सबब नहीं कि हम कुछ और शब्दों को भी, चाहे वे किसी देश के क्यों न हों, और हमारी ख़िदमत के लिये तैयार है, अपने घर में जगह न दें। अगर हम ऐसी उदारता दिखाएँ, तो हिंदी-उर्दू का झगड़ा बड़ी आसानी से खतम हो जा सकता है। कुछ मुसलमानी शब्दों के आ जाने से हिंदी ही को उर्दू क़रार दे कर उसे हिंदू-मुसलमानों के बीच वैमनस्य का एक कारण बना रखने में हमें तो कोई बुद्धिमानी नहीं दिखाई पड़ती। उर्दू के साथ प्रतिस्पर्द्धा करने के बजाय उर्दू को हजम कर लेना ज्यादा लाभदायक है अगर हम ब्रजभाषा, अवधी और छत्तीसगढ़ी को हिंदी मानते हैं तो भाषा की दृष्टि से तो इन की अपेक्षा उर्दू कहीं अधिक हमारे निकट है ब्रज

की भाषा है, और अवधी अवध में बोली जाती है। इन भाषाओं या बोलियों में पद्य-साहित्य उच्च कोटि का है, इसी लोभ से हिंदीवाले इन्हें अपनाये हुए हैं। भिन्न प्रांतवालों को जब हिंदी सीखनी पड़ती है, तब प्रचलित हिंदी के साथ उन्हें ब्रजभाषा और अवधी के शब्द भी रटने पड़ते हैं; क्योंकि ब्रजभाषा और अवधी ये दोनों बोलियाँ हिंदी से उतने ही अंतर पर है जितने अंतर पर गुजराती, मराठी, मारवाड़ी, और बँगला है। इन सब की अपेक्षा उर्दू कहीं अधिक हिंदी के निकट है। हिंदी वाले अभी साहित्य में ग़रीब हैं, इस से वे ब्रज और अवध से लाया हुआ धन दिखला कर किसी तरह अपने मान की रक्षा करते हैं। उर्दू को भी हम इसी तरह अपना लें तो हमारे मान-सम्मान की वृद्धि ही होगी। उस में कोई कमी नहीं आएगी।

गुजराती के भी दो रूप हैं—एक पारसियों की गुजराती, जिस में मुसलमानी अल्फ़ाज़ ज्यादा रहते हैं; दूसरे हिंदुओं की गुजराती, जिस में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द अधिक रहते हैं। पर पारसी या हिंदू किसी के लिये कोई रुकावट नहीं कि वह कौन-सा शब्द इस्तेमाल करे, कौन-सा न करे। बँगला में भी ऐसा ही हाल है। बंगाली मुसलमान जो बंगला बोलते या लिखते हैं, उस में मुसलमानी शब्द ज्यादा होते हैं, और हिंदू बंगाली जो भाषा बोलते हैं, उस में फ़ी सदी ७५ शब्द संस्कृत के होते हैं। फिर हिंदी ही में एक झगड़े की जड़ क्यों क़ायम है, समझ में नहीं आता। उर्दू में इस्तेमाल होने वाले कुछ ऐसे शब्द हैं जिन्हें हिंदी में स्वतंत्रता से ले लेना चाहिए। मैं ने ऐसे शब्दों की एक सूची तैयार की है; पर स्थानाभाव से वह यहाँ नहीं दी जा रही है। केवल नमूने के लिये थोड़े से शब्द दिए जा रहे हैं।

शब्द		पर्यायवाची हिंदी
आब	(फ़ा०) =	पानी
उजरत	(अ०) =	मज़दूरी
इख्तियार	(अ०) =	अधिकार
इरशाद	(अ०) =	अनुमति देना
	(फ़ा०)	प्रारंभ

शब्द		पर्यायवाची हिंदी
उल्फ़त	(अ०) =	प्रेम
इनाम	(अ०) =	पुरस्कार
बाबन	(अ०) =	तई
बरामद	(फ़ा०) =	निकालना
बरदाश्त	(फ़ा०) =	सहना
बेहतर	(फ़ा०) =	अत्युत्तम
बेवा	(फ़ा०) =	विधवा
पनाह	(फ़ा०) =	शरण
तार	(फ़ा०) =	डोरा, सूत
तदबीर	(अ०) =	उपाय
तरकीब	(अ०) =	क्रिया
तअस्सुब	(अ०) =	पक्षपात
तवज्जुह	(अ०) =	ध्यान
साबित	(अ०) =	प्रमाणित
जिन्स	(अ०) =	प्रकार
चेचक	(तु०) =	शीतला का रोग
हलका	(अ०) =	घेरा
ख़िताब	(अ०) =	उपाधि
दादनी	(फ़ा०) =	ऋण
दहशत	(फ़ा०) =	डर
रुख़सत	(अ०) =	छुट्टी
रूदाद	(फ़ा०) =	हाल
साहिल	(अ०) =	किनारा
शान	(अ०) =	वैभव
शिकार	(अ०)	आखेट
ज़ामिन	(अ०	ज़ामिन

शब्द		पर्यायवाची हिंदी
फ़ाख्ता	(अ०) =	पिडकी
फ़ज़ीहत	(अ०) =	अनादर
क़ुबूल	(अ०) =	स्वीकार
लाश	(तु०) =	शव
लज़्ज़त	(अ०) =	स्वाद
महसूस	(अ०) =	अनुभव
मरम्मत	(अ०) =	सुधारना
मोतबर	(अ०) =	विश्वस्त
नापाक	(फ़ा०) =	अशुद्ध
निस्फ़	(अ०) =	आधा
नुमायश	(फ़ा०) =	प्रदर्शनी
वारदात	(अ०) =	घटना
वज़ीफ़ा	(अ०) =	वृत्ति

मेरी सूची में कुल १२०० शब्द हैं। इन में से तीन-चौथाई से अधिक शब्द आमतौर से शहरों और गाँवों में, कहीं-कहीं असली सूरत में और कहीं-कहीं देहाती बन कर, रहते हैं। एक चौथाई से भी कम शब्द ऐसे हैं जिन्हें हिंदी वालों को ले लेना, उर्दू को हज़म कर लेना और झगड़े को ख़तम कर देना है। इन शब्दों को बिना जाने कोई व्यक्ति हिंदी का जानकार माना ही नहीं जाना चाहिए।

हिंदी वालों से मेरा नम्र निवेदन है कि वे अपनी संकीर्णता तर्क कर दें और ब्रज और अवध के दायरे से बाहर निकल कर अपनी ज़बान को भारतवर्ष भर में व्यापक बनाने का उद्योग करें, गद्य और पद्य दोनों में ऊँचे दरजे का साहित्य पैदा करें, और रोज़मर्रा की आम बोलचाल में अपने विचार ज़ाहिर करें जिस से उन के देशवासी उन के विचारों का पूरा लाभ उठा सकें, जैसा कबीर और तुलसीदास ने अपने समय के समाज के लिये किया था

उर्दू

उर्दू कोई स्वतंत्र भाषा नहीं, वह हिंदी ही का एक रूप है। मुसलमान बादशाहों के लश्करी बाजार में जहाँ जुदा-जुदा मुल्कों और कौमों के सिपाही सौदा लेने के लिये जमा होते और हिंदू बनियों की समझ में आने लायक हिंदी में अपनी-अपनी मातृभाषा के कुछ शब्दों को मिला कर बोलते थे, उस की उत्पत्ति हुई थी जरूर, पर उस के तमाम अंग-प्रत्यंग हिंदी है। उर्दू कहने के बदले उसे 'मुसलमानी हिंदी' कहा जाता तो अधिक सार्थक होता। ऊपर मैं कह आया हूँ कि गुजराती जबान की भीतर ही भीतर दो सूरतें हैं, पर बाहर वह एक है। ठीक यही हाल हिंदी का है। फर्क सिर्फ इतना है कि यहाँ हिंदू-मुसलमानों को लड़ने के लिये या लड़ाने के लिये एक झूठा वहम फैला रक्खा गया है कि हिंदी और उर्दू दो जबानें है।

कहा जाता है कि शाहजहाँ बादशाह के जमाने मे उर्दू की उत्पत्ति हुई। यह बात गलत है। उर्दू बाजार तो मुहम्मद गोरी के गुलाम कुतुबुद्दीन के लश्कर मे भी रहा होगा और उस से सौदा बेचने और खरीदने वालों के बीच की कोई बोली भी रही होगी और वह हिंदी के सिवा दूसरी हो नहीं सकती। क्योंकि इस मुल्क के हिंदू बनिये लश्कर मे साथ रक्खे जाते थे। सिपाहियों को मजबूर हो कर बनियों की बोली में सौदा माँगना पड़ता था। उसी में वे कुछ अपनी जबान के शब्द भी मिला देते थे। उस खिचड़ी हिंदी का एक नया नाम देने की जरूरत यदि पड़ी भी हो तो वह 'लश्करी हिंदी' कहला सकती है। आज-कल सौ डेढ़-सौ वर्षों से इस मुल्क में अंग्रेजी राज है। हाई स्कूलों और कालेजों में जाइये तो वहाँ की हिंदी में आप को सैकड़ों अंग्रेजी वर्ड काम करते हुए सुनाई पड़ेंगे; मगर उस हिंदी का कोई अलग नाम नहीं। इसी तरह अरबी, फारसी, या तुर्की के कुछ लफ्जों के आ जाने से हिंदी का दूसरा नाम क्यों होना चाहिए?

आर्यावर्त और ईरान का बहुत पुराना संबंध है, दोनों देशों में शादी

तक ज्यों के त्यों मिलते हैं। पर आजकल की फारसी में भी सैकड़ों संस्कृत के शब्द ईरानी पोशाक पहने हुए मौजूद हैं, जो इस बात के सबूत हैं कि फारसी और संस्कृत के बोलने वाले किसी वक्त एक ही घर मे भाई-भाई की तरह रह चुके हैं। पेट ने उन्हें जुदा किया और उन की जबानों को जमाने ने अलग-अलग पोशाकें पहना दीं। यहाँ फारसी में आमतौर से प्रचलित संस्कृत के कुछ शब्द दिए जाते हैं, जिन के अंदर किसी जमाने में ईरान और आर्यावर्त के एकजाई होने का सुंदर दृश्य अभी तक मौजूद है—

फ़ारसी	संस्कृत
हूर	सूर, सूर्य
माह	मास
तारा	तारा
गंदुम	गोधूम (गेहूँ)
शाली	शाली (धान)
चरम	चर्म (चमड़ा)
दार	दारु (लकड़ी)
अस्प	अश्व
उश्त्र	उष्ट्र
हफ्त	सप्त
सद, सत	शत (सौ)
मिहर	मिहिर (सूर्य)
काम	कर्म
नीलोफ़र	नीलोत्पल
कुंज	कुंज
शगून	शकुन
कार	कार्य
शकर	शर्करा
ज़ीरा	जीरक

फ़ारसी	संस्कृत
अंकुज़	अंकुश
किश्त	क्षेत्र, खेत
काफ़ूर	कर्पूर
बंद	बंध
पिदर, बाब	पितृ, (हिंदी 'बाप')
दस्त	हस्त
दोल	डोल (हिंदी)

ये शब्द क्या इस बात के सबूत नहीं हैं कि संस्कृत और फ़ारसी बोलने वाले एक ही माँ-बाप की संतान हैं ?

इन शब्दों की बदौलत मुसलमान लोग जब हिंदुस्तान में आए, तब वे हिंदुओं के लिये नये नहीं थे। हमारे भेदिये—ये शब्द—तो उन के साथ थे ही। उन के दिलों में यहाँ की जबान सीखने की चाह थी, जबान की लड़ाई लड़ने की उन की क़तई इच्छा न थी। इस से उन्हों ने अपने लफ़्ज़ों को हिंदी व्याकरण के साँचे में ढल जाने दिया; जैसे—

वकील का	बहुवचन	हिंदी का	वकीलों	हुआ न कि	वकला
निशान	"	"	निशानों	"	निशानात
मेवा	"	"	मेवों	"	मेवजात

इत्यादि।

फ़ारसी शब्दों से बहुत सी क्रियायें हिंदी के ढंग पर बन गई हैं; जैसे—

क़बूल से क़बूलना

गुज़र से गुज़रना

बदल से बदलना; इत्यादि।

बहुत से फ़ारसी शब्दों के साथ होना, करना, लगाना आदि हिंदी शब्द जोड़ कर क्रियायें बना ली गई हैं जैसे

बहुत से ऐसे नये शब्द बन गए, जिन का धड़ हिंदी है और सिर फ़ारसी। जैसे—

चिट्ठी-रसाँ, समझ-दार, पान-दान, गाड़ी-खाना, इत्यादि।

दोनों भाषाओं के बहुत से पर्यायवाची शब्द एक साथ हो गए; जैसे—

कागज-पत्र, धन-दौलत, शादी-ब्याह, इत्यादि।

जिस भाषा का लिंग, वचन, क्रिया, कारक, सर्वनाम, और अव्यय हिंदी का है उसे थोड़े से विदेशी शब्दों के मिश्रण से एक अलग नाम क्यों देना चाहिए ? यदि—

'यह आंदोलन देश के लिये बहुत ही लाभदायक है,' यह वाक्य हिंदी का है; और

'यह तहरीक मुल्क के लिये निहायत मुफ़ीद है,' यह जुमला उर्दू का हुआ; तो—

'यह एजिटेशन कंट्री के लिये मोस्ट बेनीफ़िशल है।'

यह सेंटेंस किस भाषा का कहा जायगा ? मैं तो पहले को हिंदुओं की हिंदी, दूसरे को मुसलमानी हिंदी, और तीसरे को अँग्रेज़ी हिंदी कहूँगा। बंगाल, पंजाब, मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, और मद्रास में जो हिंदी बोली जाती है उस में बहुत से स्थानीय शब्द मिल जाते हैं। केवल उन के कारण से नई-नई भाषायें नहीं ईजाद की जा सकती।

देश के लिये बड़े ही दुर्भाग्य की बात है कि कुछ दिनों से हिंदू-मुसलमानों की मज़हबी लड़ाई के साथ ज़बान की लड़ाई भी छिड़ रही है और यू० पी० की आमफ़हम ज़बान में अरबी-फ़ारसी के लुग़ात ठूँसे जाने लगे हैं। जो इस तहरीक के हामी हैं, उन से मेरा नम्र निवेदन है कि वे अपने नेक पूर्वजों की तरफ़ देखें जिन्हों ने अपने शब्दों को हिंदुस्तानी पोशाक पहनाने में ख़ुशी हासिल की थी। उर्दू के पुराने शायर अपनी ग़ज़लों में माशूक़ के लिये 'मोहन', 'सजन' और 'पीतम', आँखों के लिये 'नैन' और 'अँखड़ियाँ', और 'नाम' के लिये ठेठ हिंदी 'नाँव' का इस्तेमाल किया करते थे। वे जिस भाषा में अपने क़लम चलाते थे उस का नाम भी उर्दू नहीं, बल्कि रेख़्ता था 'मीर' कहते हैं

ख़्वार नहीं हम यों ही कुछ रेख़्ता-गोई के,
माशूक़ था जो अपना बाशिन्दः दकन का था।

'सौदा' ने कहा है—

शेर बे-मानी से तो बेहतर है कहना रेख़्ता।

'ग़ालिब' का एक शेर है—

रेख़्ते के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो 'ग़ालिब',
कहते हैं अगले ज़माने में कोइ 'मीर' भी था।

'कबीर' ने रखता नाम का एक छंद ही लिखा है, जो उन के ज़माने की हिंदी में है और जो उर्दू के पुराने शायरों की ज़बान से बिल्कुल मिलती-जुलती है। कबीर का भरण-पोषण मुसलमान-घर मे हुआ था, इस से वे मुसलमानी भाषा से परिचित थे।

अभी थोड़े ही दिन की बात है, इलाहाबाद के गौरव-स्वरूप, सम-कालीन शायरों में सर्वश्रेष्ठ शायर स्व० अकबर ने जिस भाषा में अपने मनो-भाव प्रकट किए हैं उसे हम आदर्शभाषा कह सकते हैं। उन्हों ने पचासों हिंदी शब्दों को अपनी शायरी में स्थान दिया है। उर्दू वाले स्व० अकबर का अनुकरण क्यों न करें?

हिंदुस्तानी

पुरानी हिंदी, उर्दू, और अँग्रेज़ी के मिश्रण से जो एक नई ज़बान आप से आप बन गई है वह हिंदुस्तानी के नाम से मशहूर है। बहुत से ऐसे विदेशी शब्द हैं जिन के पर्यायवाची शब्द हिंदी वालों के पास नहीं हैं। जैसे, 'हसरत' शब्द को लीजिए—

दरो दीवार प हसरत से नज़र करते हैं,
खुश रहो अहले-वतन हम तो सफ़र करते हैं॥

'हसरत' के लिये 'लालसा' शब्द का प्रयोग लोग करते है, पर 'हसरत' में प्रेम, करुणा, और [illegible] का जो भाव है वह 'लालसा' में नहीं है लालसा [illegible]

हिंदी में इस के लिये ठीक-ठीक अर्थ देने वाला कोई पर्यायवाची शब्द नहीं है। इसी तरह अँग्रेजी का 'फ़ीलिंग' (Feeling) शब्द है। कुछ लोग 'अनुभव' को इस का पर्यायवाची बताएँगे, पर 'अनुभव' 'फ़ीलिंग' की गहराई तक नहीं पहुँचता। 'फ़ीलिंग' में जो तड़प छिपी है, वह 'अनुभव' में नाम-मात्र को भी नहीं। हाँ, 'महसूस' में है। अतएव नये भावों को व्यक्त करने वाले शब्दों को हमें अपने घरों में जगह देनी ही पड़ेगी। आजकल का समाज अपनी बोल-चाल की ज़बान की एक ऐसी सूरत की ज़रूरत महसूस कर रहा था जिस में अँग्रेजी ख़यालात भी फ़िट हो सकें, वह उसे 'हिंदुस्तानी' के नाम से हासिल हुई। मगर फिर भी अभी बहुत से लफ़्ज़ों के लिये गुंजाइश निकालनी है। जैसे, पेशावरों के शब्द। किसानों के घरों में, खेतों मे और खलियानों में जो शब्द काम देते हैं, हिंदुस्तानी मे वे नहीं आने पाते। कुम्हार, लुहार, सुनार, बढ़ई, धोबी, रँगरेज, तेली, तमोली, जुलाहा, धुनिया, नाई, राज, मोची, चमार, ठठेरा, भड़भूँजा, आतशबाज़, दफ़्तरी, नालबंद और जर्राह जो शब्द काम में लाते हैं, हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी, तीनों भाषाओं के लोग उन्हें नहीं जानते और न उन शब्दों को अपनी भाषा में आने देते हैं। नतीजा यह हुआ है कि अपने मुल्क के पेशावरों की तरफ़ कभी हमारा ध्यान भी नहीं जाता। हम जानते ही नहीं कि किसान और कुम्हार को उन के पेशे में कामयाबी हासिल करने के रास्ते में क्या-क्या कठिनाइयाँ मौजूद हैं, और वे कैसे हटाई जा सकती हैं। शब्द ही नहीं है, तो विचार-धारा कहाँ से पैदा हो ? अतएव जहाँ हम अपनी ज़बान में विदेशी शब्दों को जगह देते जा रहे हैं वहाँ अपने देहात के ग्रामीण दोस्तों के लिये भी काफ़ी जगह ख़ाली रखनी चाहिए। हमें पेशावरों के सभी शब्दों की एक सूची बना लेनी चाहिए और स्कूली रीडरों में और क़िस्से-कहानियों या लेखों में उन का उपयोग करना चाहिए। इस से हम अपने ग्रामीण भाइयों के बहुत नज़दीक पहुँच जायँगे। साथ ही हम पेशावरों को दुनिया की नई रोशनी से भी परिचित करते रहेंगे।

मैं ने ग्राम-गीतों के दौरे में पेशावरों के हज़ारों शब्द जमा किए हैं। उन के इस्तेमाल में सब से बड़ी दिक्कत जो है वह यह है कि एक ही काम या चीज़

के नाम भिन्न-भिन्न जिलों मे जुदा-जुदा हैं। इस से किसी एक जिले के शब्द को दूर के दूसरे जिले वाले प्रायः न समझ सकेंगे। इस के लिये यह बहुत जरूरी है कि युक्त-प्रांत की युनिवर्सिटियाँ या हिंदुस्तानी एकेडेमी कुछ विद्वानों की एक ऐसी सभा बना दे, जो सब शब्दों को जमा कर के यह विचार करे कि कौन-सा शब्द अधिक सरल, अधिक सार्थक और अधिक व्यापक है। जिसे वे शिक्षित-समाज में आने देने के क़ाबिल समझें उसी की घोषणा कर दें। इस से हिंदी भाषा को बहुत लाभ पहुँचेगा और उस की एक बहुत बड़ी कमी पूरी हो जायगी।

गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं का काल-क्रम

[लेखक—श्रीयुत माताप्रसाद गुप्त, बी० ए०]

(क्रमागत)

विनयपत्रिका

सं० १६६६ वि० की लिखी हुई 'विनयावली' की एक हस्तलिखित प्रति बाबू श्यामसुंदरदास को कई वर्ष हुए प्राप्त हुई थी—उस समय पं० सुधाकर द्विवेदी जीवित थे। उस प्रति के परिचय में एक लेख बाबू साहब ने 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' (भाग १, अंक १) में प्रकाशित किया था। इस में उन्हों ने प्राप्त पदों की एक सारिणी देते हुए भागवतदास तथा शिवलाल की प्रतियों से उन की समानांतर क्रम संख्यायें भी दी हैं। उक्त प्रति में ग्रंथ की समाप्ति १७६ पदों पर होती है और इस समय जो 'विनयपत्रिका' हमारे सामने है उस की अंतिम पद-संख्या २७९ है। सं० १६६६ की प्रति कहीं कहीं खंडित है जिस के कारण १७६ में से केवल १५८ पदों का ही पता चलता है—इन १५८ में से भी कुछ के अंश मात्र प्रति में शेष हैं। इन १५८ पदों में से केवल ६ ऐसे हैं जो अब 'विनयपत्रिका' में नहीं हैं और इन ६ में से भी ५ 'गीतावली' में हैं केवल एक का पता नहीं है। ये पाँच पद प्रस्तुत 'गीतावली' में जिस रूप में हैं उसी रूप में एक 'गीतावली' की प्राचीन हस्तलिखित प्रति में भी मैं ने उन्हें पाया है, अतएव वे निश्चय ही बहुत पहिले से 'गीतावली' में होंगे। इस बात की पर्याप्त संभावना है कि 'विनयपत्रिका' को उस के प्रस्तुत रूप में रखने के लिये वे उस से से निकाल कर 'गीतावली' में मिला दिए गए हों किंतु इतना तो निर्विवाद है कि पहिले वे 'विनयावली' में थे। इन्हीं पाँच में से एक जो 'विनयावली' का ८१ वाँ पद था अब 'गीतावली' का अंतिम पद है। इस में आया है—

जनक सुता समेत आवत गृह परसुराम अतिमद हारी।

जिस से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त पद 'मानस' से पूर्व की रचना है—संभवतः 'रामाज्ञा' के लगभग की। यह भी संभावना की जा सकती है कि इस के साथ के रचे हुए दो चार पद अब भी 'विनयपत्रिका' में होंगे, किंतु, अन्य कोई पद ऐसा नहीं मिलता जिस के विषय में दृढ़तापूर्वक कहा जा सके कि वह 'मानस' से पूर्व की रचना होगी। फिर भी, 'विनयावली' की रचना की एक सीमा सं० १६२४ के लगभग ('रामाज्ञा' का रचना-काल)[1] और दूसरी सं० १६६६ माननी होगी। किंतु इतना अंतर बहुत बड़ा है।

इस में संदेह नहीं कि १६२४ के पीछे भी गोस्वामी जी ने पद-रचना की होगी, और 'गीतावली' के रचना-काल तक कदाचित करते रहे होंगे, किंतु रचना-प्रगति अवश्य धीमी रही होगी—अथवा यह भी संभव है कि इस काल में जो पद बने हों उन में विनयभावना की पूर्ण स्फूर्ति न होने के कारण 'विनयावली' में उन्हे स्थान न दिया गया हो और वे 'गीतावली में रख दिये गए हो। जो कुछ हो, इस बात के लिये यथेष्ट प्रमाण नहीं हैं कि 'विनयावली' में ऐसे पदों की एक ध्यान देने योग्य संख्या है जिन की रचना सं० १६२४ से १६४४ तक हुई।

सं० १६४४ से १६४८ तक 'गीतावली' के पदो की रचना हुई।[2] इस काल के भीतर संभव है ऐसे कुछ पदों की रचना हुई हो जो 'विनयावली' में संगृहीत हों किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तविक और तीव्र विनय-भावना का उदय सं० १६४८ के लगभग हुआ और उस के अनंतर ऐसे विनय के पदों की एक पर्याप्त संख्या की रचना हुई जो 'विनयावली' में संगृहीत हुए।

सं० १६४८ के पूर्व विनय-भावना का स्फुरण सम्यक् रूप में हुआ नहीं ज्ञात होता। 'मानस' में, जिस की रचना सं० १६३१ की है, भक्ति ज्ञानाश्रित है और विनय को कोई विशेष स्थान उस में न मिल सका है। 'सतसई'

---

[1] देखिए इसी निबंध में 'रामाज्ञा' विषयक विवेचन।

[2] देखिए इसी निबंध में 'गीतावली' विषयक विवेचन

में तो ज्ञान ही प्रधान है और उस में भी शांकर अद्वैतवाद। भक्ति उस में दब गई है। 'गीतावली' (तथा 'कृष्णगीतावली') में भी अनंत की माधुर्य नामक विभूति ने अन्य भावनाओं और विभूतियों को आच्छादित कर लिया है, किंतु 'गीतावली' की समाप्ति होते होते उस विनय-भावना का उदय होता है जिस का विकसित रूप 'विनयावली' है। 'गीतावली' सुंदरकांड में विभीषण की शरणागति-संबंधी पद-माला[1] पढ़ने पर यह तथ्य बड़ी सुंदरता के साथ स्पष्ट हो जाता है। यहाँ जिस शैली का प्रयोग हुआ है मूलतः 'विनयपत्रिका' के पदों की भी वही शैली है। इस में संदेह नहीं कि 'विनयपत्रिका' के कुछ चुने हुए पदों की मात्रा का आदर्श दैन्य इन पदों में नहीं है फिर भी, 'विनयावली' (सं० १६६६) के अधिकतर पदों में वह जिस मात्रा में है इन में से भी कुछ में वह लगभग उतनी ही मात्रा में है।

दूसरी ओर, 'विनयावली' सं० १६६६ की भी रचना नहीं कही जा सकती। बाबू श्यामसुंदरदास ने उस की हस्तलिखित प्रति का जो विवरण 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में दिया है उस से यह पता चलता है कि उस का लिपिकार गोस्वामी जी के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति है। फलतः प्रथम मूल प्रति से इस प्रतिलिपि की तिथि में ६-७ वर्षों का अंतर निश्चय ही होगा क्योंकि इतना समय उस युग में जब मुद्रण यंत्रों का अभाव था 'विनयावली' को भावुक-समाज में प्रियता और प्रसिद्धि प्राप्त करने में अवश्य लगा होगा। और उस समय प्रथम प्रतिलिपि-प्रतियों का मूल्य भी बहुत अधिक होता रहा होगा इस में कोई संदेह नहीं।[2] अतः संभवतः प्रस्तुत प्रति उन प्रतिलिपि-

---

[1] 'गीतावली', सुंदर० २८वें पद से ४६वें तक।

[2] 'गीतावली' की एक हस्तलिखित प्रति का मूल्य ७५ वर्ष पूर्व ५०) था और उसी के साथ की 'मानस' की एक प्रति का मूल्य १००) था। ७५ वर्ष पूर्व मुद्रण यंत्रों द्वारा मुद्रित ग्रंथों का प्रकाशन आरंभ हो गया था जिस से निश्चय ही पहिले की अपेक्षा पुस्तकों का मूल्य घट गया रहा होगा। यदि २००, २२५ वर्षों पीछे इतना अधिक मूल्य था तब इन ग्रंथों का उन की रचना के कुछ ही समय पीछे कितना अधिक मूल्य रहा होगा इस का अनुमान सहज में ही किया जा सकता है

प्रतियों में से किसी एक की प्रतिलिपि होगी जो पहिले-पहिल की गई थीं। इस प्रकार, 'विनयावली' की सं० १६६६ वाली उपर्युक्त प्रति को मूल प्रति से ६-७ वर्ष पीछे की वस्तु मानना अनुचित न होगा। अतएव, 'विनयावली' की रचना सं० १६५९-६० के लगभग हुई होगी।

ऊपर हम ने वास्तविक विनय-भावना का उदय सं० १६४८ में माना है। उस का विकास क्रमशः हुआ होगा, और कवि-हृदय में प्रचुरता पूर्वक उस का उद्रेक होने में ६-७ वर्ष अवश्य लग गए होंगे—क्योंकि जैसा ऊपर कहा जा चुका है जितनी तीव्र और जिस मात्रा में विनय 'विनयावली' में है उस की तुलना में 'गीतावली' की विभीषण-शरणागति संबंधी पदावली निश्चय ही नीचा स्थान रखती है। इस के अतिरिक्त, माधुर्य-भावना से शील तथा दैन्य-प्रचुर भावना में पूर्ण स्फूर्ति होने के लिये ६-७ वर्षों का समय अधिक नहीं है, क्योंकि इस में एक प्रकार से प्रवृत्ति का परिवर्तन है। माधुर्य-सौंदर्य तथा शील और आत्म-निवेदन की प्रवृत्तियों में स्वभावतः कितना अंतर है इस का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि ऊपर जिन पाँच पदों के विषय में उन के 'विनयपत्रिका' में न मिल कर 'गीतावली' में मिलने का उल्लेख किया गया है, उन में से चार में माधुर्य-सौंदर्य-भावना प्रधान है। दूसरी ओर प्रस्तुत 'विनयपत्रिका, में एक भी पद ऐसा नहीं है जिस में माधुर्य-सौंदर्य-भावना प्रधान हो, कुल 'विनयपत्रिका' में अनंत की शक्ति, सौंदर्य, तथा शील नामक तीन प्रमुख विभूतियों में से केवल अंतिम का ही आश्रय लिया गया है। इस प्रकार 'विनयावली' के अधिकतर ही नहीं लगभग तीन-चौथाई पदों का रचना काल सं० १६५६ और १६५९ के बीच समझना चाहिए और इन का संग्रह १६५९-६० में।

शैली का साक्ष्य भी ऊपर के परिणाम की पुष्टि करता है। 'गीतावली' तथा 'विनयावली' की शैलियाँ मूल में एक ही हैं किंतु जैसी प्रौढ़ शैली, और वह जिस में भाषा भावों को पूरा प्रकट करने में असमर्थ सी हो, जिस में एक ही भाषा का शब्द-भंडार विचारों के सम्यक् प्रकटीकरण के लिये असमर्थ सा सिद्ध हो, 'विनयावली' के अधिकांश की है, 'गीतावली' की नहीं है। 'गीतावली' की शैली स्पष्ट ही माध्यमिक है—जिस में भाषा तथा भावों का मधुर

सामंजस्य है, केवल ब्रजभाषा का शब्द-भंडार पर्याप्त हुआ है, और दुरूहता कहीं भी नहीं प्रतीत होती। इस विकास के लिये ८ से १० वर्षों का समय अधिक न होगा अतएव, १६५९-६० को 'विनयावली' की संग्रह-तिथि मानना शैली के भी साक्ष्य से उचित ठहरता है।

'विनयावली' पर विचार करते हुए उस के द्वितीय संस्करण का विचार भी एक आवश्यक प्रश्न है क्योंकि सं० १६६६ की प्रति में १७६ पदों पर ग्रंथ की समाप्ति है और इन १७६ में से, उक्त प्रति के खंडित होने के कारण १५८ पदों का पता है जिन में से ६ पद प्रस्तुत 'विनयपत्रिका' मे नहीं हैं, यदि पूर्ण प्रति प्राप्त होती तो उसी अनुपात से यह संख्या ७ होती और अब भी 'विनयावली' के लगभग १६९ पद प्रस्तुत 'विनयपत्रिका' में मिलते, किंतु इस में २७९ पदों पर ग्रंथ की समाप्ति है, फलतः शेष लगभग ११० पद निश्चय ही सं० १६६६ के पीछे कभी मिलाये गए होंगे। अब प्रश्न यह है कि वह कौन सी तिथि होगी।

इस संबंध में, क्या वेणीमाधवदास के आधार पर 'विनयावली' का अन्य ग्रंथों के साथ दुहराया जाना सं० १६६९-७० में बाहुपीड़ा के उपरांत[1] माना जा सकता है? मेरा विचार है, नहीं। कदाचित् सं० १६६९ की तिथि किसी प्रकार मान्य हो भी सके, बाहुपीड़ा के पीछे उसे मानना अन्य साक्ष्यों से प्रमाणित नहीं होता। रुद्रबीसी का समय सं० १६६५ से १६८५ तक माना जाता है।[2] मीन की सनीचरी का समय सं० १६६९-१६७१ गणना से सिद्ध है, ऐतिहासिक आधारों पर काशी मे महामारी का समय १६७७-७९ ज्ञात होता है, और बाहुपीड़ा कदाचित् १६८० मे गोस्वामी जी को हुई, अंतर्साक्ष्यों के आधार पर यह अनुमान होता है।[3] किंतु इन में से किसी का भी उल्लेख 'विनयपत्रिका' में नहीं हुआ है। रुद्रबीसी के समय काशी में बड़ा उत्पात

---

[1] 'मूल गोसाईंचरित', दो० ९६ (न० कि० प्रे०)।

[2] 'हिंदी-नवरत्न', पृ० ८४ तथा 'तुलसीग्रंथावली', ३रा खंड, पृ० ५५-५६।

[3] देखिए इसी निबंध में   संबंधी विवेचन।

मचा हुआ था। यह संभव है कि सं० १६६५ से १६६७ तक अर्थात् लगभग २ वर्ष प्रारंभ में यह अधिक न रहा हो—उतना तीव्र जितना वह १६६९-७१ तक मीन की सनीचरी के योग में हुआ—किंतु सं० १६६९-७० में निश्चय ही बड़ा उत्पात था और इस की वृद्धि का प्रारंभ सं० १६६८ से होने लगा होगा फिर भी, यह संभव है कि रुद्रबीसी की ओर गोस्वामी जी का ध्यान इन उत्पातों की वृद्धि और मीन की सनीचरी के पूर्व न गया हो—क्योंकि प्रारंभ में ही यह कारण कि रुद्रबीसी के कारण वह उत्पात था कदाचित् इतना स्पष्ट न सूझ पड़ा होगा। 'विनयपत्रिका' के किसी भी पद में न रुद्रबीसी का उल्लेख है और न मीन की सनीचरी का, इसलिये यह सिद्ध है कि इस का प्रस्तुत संस्करण अधिक से अधिक १६६८ के पूर्वार्द्ध तक की कृति है। किंतु इस के अधिक पहिले भी यह तिथि नहीं हटाई जा सकती, क्योंकि इस द्वितीय संस्करण तक काशी के उत्पातों से गोस्वामी जी स्वयं भी पीड़ित थे इस की ओर स्पष्ट रूप से उन्हों ने एक पद में संकेत किया है जो 'विनयावली' (१६६६) में अनुपस्थित और प्रस्तुत 'विनयपत्रिका' में उपस्थित है। शिव जी से इसी क्लेश के शमन के लिये वे कहते हैं—

> गाँव बसत बामदेव कबहूँ न निहोरे।
> अधिभौतिक बाधा भई ते किंकर तोरे॥
> बेगि बोलि बलि बरजिए करतूति कठोरे।
> तुलसीदलि रूंध्यो चहै सठ साखि सिंहोरे॥ ८॥

जिस से यह आशय नितांत स्पष्ट है कि उन्हें भी कुछ दुष्टों ने पीड़ित किया था और यह कदाचित् १६६७-६८ की घटना हो अतएव, यह मानना अनुचित न होगा 'विनयावली' का दूसरा संस्करण—और उस का 'विनय-पत्रिका' नाम भी कदाचित्—उस को १६६८ में मिला। किंतु इस के पीछे उस की तिथि मानना तो कदापि उचित नहीं हो सकता क्योंकि उस दशा में, रुद्र-बीसी, मीन की सनीचरी, महामारी, बाहुपीड़ा और अंतिम प्रयाण में से किसी न किसी का उल्लेख तो निस्संदेह होता—जैसा बाहुक, दोहावली तथा कविता

इस के अतिरिक्त, हम देखते है कि 'विनयपत्रिका' के उस अंश में जो 'विनयावली' (सं० १६६६) का ही है ऐसे पदों की संख्या जिन में विनय चरम सीमा तक पहुँच गया हो, जिन में उद्गार अधिक से अधिक बलवान हो और वह बाहर निकल पड़ने के लिये विकल हो, 'विनयपत्रिका' के शेष अंश की अपेक्षा कहीं कम है। नीचे उपर्युक्त विशेषता के पदों की एक तालिका हम देते हैं।[1] इस में जो संख्यायें कोष्ठकों के भीतर हैं वे उन पदों की सूचक है जो पहिले 'विनयावली' में थे, शेष संख्याओं के पद केवल 'विनयपत्रिका' मे प्राप्य हैं। उन के देखने से यह ज्ञात होता है कि 'विनयावली' (सं० १६६६) के १५८ प्राप्त पदों में से यह संख्या केवल १२ है—अर्थात् यदि पूरे १७६ पद प्राप्त होते तो उसी अनुपात से वह १४ होती। किंतु दूसरी ओर शेष लगभग ११० पदों[2] में से उसी कोटि के ४० हैं। इस प्रकार, यदि 'विनयावली' में ऐसे पदों की संख्या लगभग ८ फी सदी है तो 'विनयपत्रिका' के शेष अंश में लगभग ३९ फी सदी—अर्थात् दोनों में विनय के वेग का अनुपात लगभग १ : ४½ है। नीचे दी हुई तालिका में मैं ने ५० पद चुने हैं, संभव है कुछ विद्वान् उस से कम या अधिक पद पूरी 'विनयपत्रिका' में चुनें किंतु जो परिणाम हमे ऊपर प्राप्त हुआ है कदाचित् कोई विशेष अंतर उस में न पड़ेगा। अस्तु, विनय के वेग मे इतना बड़ा अंतर दो एक या चार वर्षों की भी बात नहीं हो सकती, इस के लिये कम से कम ८-१० वर्षों की आवश्यकता होगी। अतः इस प्रकार भी सं० १६६८ की तिथि ग्राह्य है।

अतएव संक्षेप में हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि 'विनयावली'

---

[1] पद संख्यायें ८, २२, ३३, ३४, ३५, (७५, ७६, ७७,) ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, १०१, १०२, (१२५,) १४६, १४७, १४८, १४९, १५०; १५८, १६१, (१७१,) (२१९,) (२२१,) (२४५;) २५०, २५२, २५३, २५८, २५९, २६०, २६७, (२७१, २७२, २७३, २७४, २७५,) २७६।

[2] इसी निबंध में ऊपर।

की रचना सं० १६५९-६० की है तथा उस का प्रस्तुत 'विनयपत्रिका' संस्करण सं० १६६८ के लगभग की कृतियाँ हैं। रचना के लिये 'मूल गोसाईंचरित' में वेणीमाधवदास ने सं० १६३९ का समय दिया है[1] जो अनुचित ज्ञात होता है। यह संभव है कि कुछ पदों की रचना उस के लगभग हुई हो—जैसा कुछ दार्शनिक पदों से अनुमान होता है क्योंकि उस समय गोस्वामीजी की प्रवृत्ति ज्ञान-मार्ग की ओर विशेष थी जो 'सतसई' १६४२ की रचना से स्पष्ट है; किंतु 'विनयावली' की रचना उस तिथि (१६३९) में हुई हो यह ठीक नहीं हो सकता कारण यह कि हम वास्तविक विनय-भावना का उदय हो, ऊपर सं० १६४८ के लगभग मान आए हैं। दुहराने की तिथि के विषय में भी ऊपर भलीभाँति विचार हम कर चुके हैं; अतः वेणीमाधवदास का मत हमें ग्राह्य नहीं हो सकता।

बरवै

बरवै छंद के पिता रहीम (सुप्रसिद्ध नवाब अब्दुर्रहीम खानखाना) माने जाते हैं। इन्हों ने बरवै में नायिका-भेद तथा स्फुट रचना की। किंतु इन रचनाओं का समय अभी तक की खोज से निर्धारित नहीं हो सका है। केशवदास रहीम के समकालीन थे—केशवदास का जन्म सं० १६१२ में हुआ था और रहीम का सं० १६१३ में। केशव के पूर्व कृपाराम ने 'हिततरंगिणी' नामक ग्रंथ में रीति-शास्त्र का एक साधारण विवेचन दोहों में प्रस्तुत किया था किंतु उन्हे उल्लेख योग्य सफलता न मिली। बलभद्र मिश्र केशवदास के बड़े भाई थे। उन्हों ने 'नखशिख' नामक ग्रंथ की रचना १६४५ के लगभग की किंतु उस का भी विशेष सम्मान न हुआ। दूसरी ओर, १६४८ में केशवदास ने 'रसिकप्रिया' की रचना की जिस की इतनी ख्याति हुई कि उस के पीछे नायिका-भेद लिखने की साहित्य में एक परिपाटी सी चल पड़ी और इसीलिये आधुनिक विद्वान् रीति-काल का प्रारम ही 'रसिकप्रिया' से मानते हैं केशवदास महाकवि थे

जिन की प्रशंसा 'जहाँगीरजसचंद्रिका' मे की गई है जो रहीम के पुत्र एलिच बहादुर के लिये १६६९ मे लिखी गई थी (यह कम संभव है कि केवल एलिच बहादुर के पिता होने के नाते ही रहीम की उस में प्रशंसा की गई हो) रहीम के 'बरवै नायिका-भेद' में लक्षण न दे कर केवल उदाहरण दिये गए हैं, जिस से यह लक्षित होता है कि रहीम के सम्मुख कोई नायिका-भेद का प्रसिद्ध ग्रंथ था—जिस का इतना प्रचार दरबारों मे अवश्य था कि बिना लक्षण बताए ही रसिक-वर्ग उदाहरणों से पूरा आनंद प्राप्त कर लेता था। संस्कृत के रीतिशास्त्रो के अध्ययन के लिये दरबार के सभ्यों को अवकाश कहाँ होता—संस्कृत का आदर उस समय यों भी बहुत कम था—जब कि हिंदी साहित्य के ही रीति-कवियों में से इनी-गिनी संख्या ऐसों की है जिन के विषय मे यह संदेह किया जा सकता है कि उन्हो ने संस्कृत के रीति-ग्रंथों का अध्ययन करके लेखनी उठाई थी। अतएव, निश्चय ही यह कोई सर्वप्रिय तथा भाषा मे नायिका-भेद का ग्रंथ था जो रहीम के बरवै नायिका-भेद की कुंजी था। इस ग्रंथ के लिये केशव की 'रसिकप्रिया' की ही सब से अधिक संभावना है कारण यह कि एक तो उस समय मुग़ल दर्बार मे केशव का बड़ा सम्मान था जो अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध है, दूसरे, 'रसिकप्रिया' ने ही रसिकों में सर्वप्रियता प्राप्त सी की थी, और तीसरे, रहीम केशव का आदर करते थे। किंतु, इस प्रकार की ख्याति तथा सर्वप्रियता प्राप्त करने में, कि रहीम को लक्षण न बताना पड़ता रहा हो और तब भी रसिक वर्ग 'बरवै नायिका-भेद' से पूरा आनंद प्राप्त कर लेता रहा हो, निश्चय ही कम से कम ६-७ वर्ष लगे होंगे अतएव, 'बरवै नायिका-भेद' की रचना १६५४-५५ के लगभग माननी चाहिए।

रहीम के जीवन का सब से महत्त्वपूर्ण संवत् १६५७ है। सं० १६५७ के प्रसिद्ध अहमदनगर के पतन के साथ रहीम के भाग्य ने भी पलटा खाया। रहीम के प्रयत्नों से विजय तो हुई—और कहा जाता है कि उन्हों ने इस के उपलक्ष में ७५ लाख रुपए भी लुटा डाले—किंतु यश उन्हें न मिल कर राजकुमार मुराद को मिला इन्हीं दिनों इन की स्त्री भी देहांत हो गया जहाँगीर के

राजत्वकाल में तो इन्हें और भी दुःख रहा। इन के दो जवान बेटों का देहांत हो गया। इन की पुत्री से शाहजहाँ का विवाह होने के कारण उत्तराधिकार के झगड़ों में इन्हें भाग लेना और नूरजहाँ की क्रूर-नीति का लक्ष्य बनना पड़ा। जहाँगीर ने भी इतने योग्य व्यक्ति का यथेष्ट सम्मान न किया। इसलिये रहीम के जीवन के अंतिम ३० वर्ष दुर्गति के थे और सं० १६८६ में इन की मृत्यु हो गई। इस प्रकार, हम देखते हैं कि 'बरवै नायिका-भेद' की रचना सं० १६५७ के पूर्व की ही हो सकती है।

सं० १६६९ के कार्यों का विवरण देते हुए वेणीमाधवदास ने लिखा है कि रहीम कवि ने 'बरवै' की रचना कर के उसे गोस्वामी जी के पास भेजा जिसे देख कर गोस्वामी जी ने भी बरवै छंद में रचना प्रकाशित की।[1] किंतु ऊपर के वर्णन को पढ़ कर यह असंभव जान पड़ता है कि सं० १६६९ में रहीम ने 'बरवै' की रचना की हो और उसे गोस्वामी जी के पास भेजा हो, यद्यपि गोस्वामी जी ने रहीम की रचनाओं से प्रेरित हो कर 'बरवै' ग्रंथ की रचना की होगी इस विषय में संदेह का स्थान बहुत कम रह जाता है। रहीम ने जो स्फुट बरवै लिखे हैं उन में से लगभग आधे दर्जन के ऐसे हैं जो स्पष्टतः 'मानस' के कुछ दोहों तथा सोरठों की प्रतिच्छाया हैं; उन का शब्द-विन्यास ही नहीं वाक्य-विन्यास भी तुलसी का है। रहीम के 'फुटकर बरवै' का प्रारंभ गणेश की वंदना से होता है और इस वंदना में जो बरवै आए हैं वे 'मानस' के प्रारंभ की 'जेहि सुमिरत सिधि होइ.....' आदि की प्रतिच्छाया हैं। बहुत संभव है कि रहीम ने इस प्रकार 'मानस' के कुछ सोरठों और दोहों के भाव ही नहीं शब्द भी इन बरवै छंदों में ला कर उन्हें गोस्वामी जी के पास—कदाचित् स्वरचित 'बरवै नायिका-भेद' के साथ—भेज कर यह सूचित करना चाहा हो कि 'बरवै छंद केवल शृंगारपूर्ण रचना का ही नहीं वरन् शांतिरसपूर्ण रचना का भी उपयुक्त माध्यम हो सकता है, जैसा 'मानस' के कुछ सोरठों और दोहों का रूपांतर कर के आप के सामने उपस्थित किया जा रहा है। आप अवधी भाषा के आचार्यमात्र ही

---

[1] मूल गोसाईं चरित, दो० ९३

नहीं उसे साहित्यिक गौरव प्रदान करने वालों में अग्रगण्य हैं, और बरवै अवधी में ही सफल होता है, अतः निस्संदेह बरवै आप का समाश्रय पा कृतार्थ होगा।' किंतु यह कार्य १६५६ के पीछे का बताया जाना ठीक नहीं ज्ञात होता अतः गोस्वामी जी के 'बरवै' के रचनाकाल की एक सीमा कदाचित् १६५६ की तिथि मानी जा सकती है।

दूसरी ओर, गोस्वामी जी के 'बरवै' में न तो 'अधिभौतिक बाधाओं' का उल्लेख है न रुद्रबीसी का, न मीन की सनीचरी का, न महामारी का, न बाहु-पीड़ा का तथा न अंतिम प्रयाण का। अतः निश्चय ही इस की रचना सं० १६६५ के पूर्व माननी पड़ेगी। अब प्रश्न यह है कि १६५६ और १६६५ के बीच वास्तविक रचनाकाल कहाँ होगा?

'बरवै' स्फुट काव्य ग्रंथ है—विभिन्न छंदों की रचना विभिन्न समयों में की गई होगी यह उस के पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होता है। 'बरवै' में लगभग आधे दर्जन[1] ऐसे छंद हैं जो शृंगार-पूर्ण हैं। बहुत संभव है कि 'बरवै नायिका भेद' के तात्कालिक प्रभाव से प्रभावित हो कर गोस्वामी जी द्वारा उन की रचना हुई हो और सँभल जाने पर उन्हों ने फिर बरवै छंद का प्रयोग रामकथा के लिये ही किया हो—अधिकतर बरवै इसी विषय के हैं यहाँ तक कि 'बरवै' उत्तर कांड में पर्याप्त संख्या ऐसे छंदों की है जो शांतिरसपूर्ण हैं। इन में से कुछ में तो आगे आने वाली मृत्यु की धुंधली प्रतिच्छाया इतनी स्पष्ट झलकती है कि 'विनयावली' तक किसी ग्रंथ में वह अप्राप्य है—

काल कराल बिलोकहु होइ सचेत।
राम नाम जपु तुलसी प्रेम समेत॥ ४६॥
मरत कहत सब सब कहँ सुमिरहु राम।
तुलसी अब नहिं जपत समुझि परिनाम॥ ६५॥
तुलसी राम नाम सम मित्र न आन।
जो पहुँचाव रामपुर तनु अवसानु॥ ६७॥

---

[1] उदाहरणार्थ बरवै ४, १२, १६, २६

नाम अतोल नाम बल नाम सनेहु ।
जनम जनम रघुनंदन तुलसिहिं देहु ॥ ६८ ॥

जनम जनम जहँ जहँ तनु तुलसिहिं देहु ।
तहँ तहँ राम निवाहिब नाम सनेहु ॥ ६९ ॥

'विनयावली' का रचनाकाल १६५९-६० ऊपर माना जा चुका है; अतः इन छंदों की रचना निश्चय ही उस से पीछे हुई होगी। दूसरी सीमा हम ने ऊपर सं० १६६५ मानी है अतएव, यही उपयुक्त जँचता है कि 'बरवै' के छंदों का रचनाकाल हम सं० १६६१ से १६६३ तक मानें और इन का संग्रह सं० १६६३-६४ के लगभग। इस प्रकार कुल बातों पर ध्यान देने से १६६३-६४ की तिथि ठीक ज्ञात होती है।

मिश्रबंधु महोदयों ने[1] 'बरवै' मे सीता के शृंगार-रस-मय वर्णन की विशेषता से तथा पीछे से जगत-जननी आदि विशेषणों से उस को दोष-शांति न होने से और अयोध्याकांड मे भरत और उत्तरकांड मे भक्ति का वर्णन न रहने के कारण बरवै को कल्पित माना है। किंतु इन शंकाओं के समाधान के पर्व पहले हमें यह मानना होगा कि बरवै एक स्फुट-रचना है, दूसरे, शृंगार-पूर्ण वर्णन 'बरवै नायिका-भेद' तथा उस समय प्रारंभ हुए रीतिकाल के वाता-वरण और उस के प्रभाव के कारण है। और, 'बरवै' के कुछ शृंगारपूर्ण छंदों को तो सीता की ओर संकेत करते हुए मानना ही न चाहिए क्योंकि उन मे सीता का नाम भी नहीं आया है, और वे स्पष्टतः लौकिक नायिकाओं के वर्णन से संबंध रखते हैं उदाहरणार्थ—

बड़े नयन, कटि, भृकुटी, भाल बिसाल ।
तुलसी, मोहत मनहिं मनोहर बाल ॥ ४ ॥
का घूँघट पट मूँदहु नवला नारि ।
चाँद सरग पर सोहत यहि अनुहारि ॥ १६ ॥

और इसी कक्षा के बरवै १, १२ तथा २६ भी ज्ञात होते हैं। फिर भी सीता

---

[1] 'नवरत्न' पृ० ७९

का कुछ शृंगारमय वर्णन अवश्य है जिस का उत्तरदायित्व तत्कालीन वातावरण और 'बरवै नायिका-भेद' पर होगा। और कुल शृंगारपूर्ण छंदों की संख्या भी आधे दर्जन से अधिक नहीं है। यदि सीता के शृंगारमय वर्णन की दोषशांति जगतजननी आदि विशेषणों से नहीं की गई है तो इस का उत्तरदायित्व स्फुट-रचना-प्रणाली पर है। और भरत को अयोध्याकांड में तो गीतावली में भी कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। रहा उत्तरकांड में भक्ति का वर्णन न रहने के संबंध में कदाचित् यह मानना ठीक उलटा होगा क्योंकि 'बरवै' उत्तरकांड में भक्ति तथा शांतिरस के छंदों के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। यह प्रत्येक पाठक स्वयं देख सकता है। दूसरी ओर, 'बरवै' में वास्तविक कवित्व है, कोमलता है और शैथिल्य का सर्वथा अभाव है, शैली तुलसीदास की ही ज्ञात होती है और उत्तरकांड के छंदों के पढ़ने पर तो इस विषय में कोई संदेह ही नहीं रह जाता। कथा भी 'मानस' से बिलकुल मिलती है, पं० रामगुलाम द्विवेदी के प्रमाण पर सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी इसे तुलसीकृत माना है और 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादकों ने उसे ग्रंथावली में स्थान भी दिया है, वेणीमाधवदास ने भी इस का गोस्वामी जी कृत होना लिखा है और उस जनश्रुति का समर्थन किया है जिस के अनुसार गोस्वामी जी ने अपने 'बरवै' ग्रंथ की रचना रहीमकृत 'बरवै' की प्रेरणा से की। अतएव, 'बरवै' को कल्पित मानना कदाचित् निराधार होगा।

कवितावली

'कवितावली', 'दोहावली' तथा 'बाहुक' तीनों सं० १६८० की रचनायें हैं—जैसा आगे आने वाले विवेचनों से स्पष्ट होगा। 'कवितावली' में गोस्वामी जी के प्रयाण-समय का क्षेमकरी-दर्शनसंबंधी छंद है यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो 'कवितावली' की तिथि का विचार सब के पीछे करना चाहिए था किंतु इस छंद को यदि छोड़ दिया जाय तो शेष रचना 'बाहुक' ही नहीं 'दोहावली' के भी पूर्व की ठहरती है। इस के अतिरिक्त, गोस्वामी जी की कृतियों का रचनाक्रम दिखाना इस निबंध का विषय है और 'कवितावली' का अन्य दो उपर्युक्त कृतियों की अपेक्षा पहिले विवेचन कर देने से विषय के

प्रतिपादन में अधिक स्पष्टता और पूर्णता आयगी—जैसा आगे चल कर पाठक स्वयं अनुभव करेंगे—इसलिये 'कवितावली' की तिथि का विवेचन उन के पूर्व किया जा रहा है।

'कवितावली' एक स्फुट-काव्य ग्रंथ है और इस में अंतिम प्रयाण तक का एक छंद है इसलिये अधिक संभावना इस बात की है कि इस का संग्रह गोस्वामी जी के देहांत के उपरांत हुआ हो। इस प्रकार, एक ओर १६८० तक की रचना इस में है। दूसरी ओर वेणीमाधवदास लिखते हैं कि गोस्वामी जी ने सं० १६२८ में सीताबट के नीचे कुछ सुंदर कवित्तों की रचना की।[1] 'कविता-वली' के तीन छंदों में सीतावट की प्रशंसा अवश्य की गई है[2] जिस से यह संभव प्रतीत होता है कि कदाचित् उन की रचना सीतावट के नीचे हुई हो। किंतु, उन के रचना-काल पर संदेह किया जाए तो कोई साक्ष्य वेणीमाधवदास की उक्त तिथि का समर्थन अथवा विरोध नहीं करता।

'कवितावली' इतनी स्फुट रचना है कि 'मानस' के साथ उस की कथा की तुलना विशेष प्रकाश न डालेगी। फिर भी, 'कवितावली' के कुछ छंद निश्चय ही 'मानस' और 'गीतावली' की रचनाओं के बीच के होंगे। हम ने ऊपर देखा है कि 'गीतावली' में लक्ष्मण-परशुराम संवाद नहीं है किंतु 'कवितावली' में है और यह 'मानस' के उक्त प्रसंग-वर्णन से बहुत साम्य रखता है, अतः कदाचित् यह 'मानस' के पीछे तथा 'गीतावली' के पहिले की रचना होगी और १६४० के लगभग इस का समय होगा।

'कवितावली' में माधुर्य भी यथेष्ट है। बहुत कुछ संभव है कि ऐसे छंदों की रचना 'गीतावली' के लगभग हुई हो जिन में माधुर्य प्रधान है और सौंदर्य की विभूति परिलक्षित होती है। कई स्थानों पर 'कवितावली' के छंदों में 'गीतावली' के पदों का वाक्य-विन्यास भी आ गया है, उदाहरणार्थ—

गीतावली—सोइ प्रभु कर परसत टूट्यो जनु हुतो पुरारि पढ़ायो॥ बाल०, ९१॥

---

[1] 'मूल गोसाईंचरित' दो०, ३५।

[2] ०', उत्तर० छं० १२८ १२९ १४०।

कवितावली—तुलसी सो राम के सरोज पानि परसत ही ,

डूब्यो मानो बारे ते पुरारि ही पढ़ायो है ॥ बाल०, १० ॥

ऐसे छंदों की रचना कदाचित् सं० १६४४-४८ के लगभग हुई होगी।

'कविताबली' उत्तरकांड में पाँच छंद[1] कृष्णचरित्र से संबंध रखने वाले हैं उन में से अंतिम तीन भ्रमर-गीत प्रसंग के हैं, इन छंदों की रचना यदि 'कृष्ण गीतावली' के रचना-काल (१६५० वि०) के लगभग हुई हो तो कुछ आश्चर्य नहीं।

'कवितावली' उत्तरकांड में ऐसे लगभग पचास छंद मिलेंगे जो 'विनय-पत्रिका' के अनेक पदों से अद्भुत भावसाम्य रखते हैं। कितने तो ऐसे हैं जिन में वाक्य-विन्यास और कल्पना-साम्य भी मिलेगा। इस के अतिरिक्त, जिस शील का निरूपण गोस्वामी जी ने 'विनयपत्रिका' में किया है वही 'कविता-वली' उत्तरकांड के भी अधिकांश का विषय है; जिस प्रकार का दैन्य, स्वामी की उदारता का एकमात्र अवलंबन तथा कलिकाल से त्राण के लिये आर्त निवेदन 'विनयपत्रिका' में है उसी प्रकार का—यद्यपि उतना तीव्र नहीं, कदाचित् इसलिये कि 'विनयपत्रिका' एक गीतिकाव्य भी है—'कवितावली' उत्तर कांड में भी है। अतएव, दोनो के विषय तथा उस के प्रतिपादन में साम्य स्पष्ट है। कल्पना, वाक्य-विन्यास, विषय तथा उस के प्रतिपादन में साम्य के अतिरिक्त एक और भी उल्लेखयोग्य साम्य है वह है दोनों ग्रंथों में गोस्वामी जी के जीवनवृत्त में। अपने जीवन की ओर जैसा संकेत उन्हों ने 'विनयपत्रिका' के कुछ पदों में किया है वैसा ही, किंतु उस से अधिक 'कवितावली' उत्तरकांड मे किया है—यहाँ तक कि उन का शब्द-विन्यास भी लगभग एक ही है। इन उपर्युक्त कुल साम्यों को उदाहरण दे कर दिखाने में ज्ञानवृद्धि की अपेक्षा निबंध की कलेवरवृद्धि कहीं अधिक होगी अतः बहुत थोड़े से उदाहरणों से ही संतोष करना उचित होगा। यहाँ पर दोनों ग्रंथों में केवल कल्पना-साम्य के दो-तीन उदाहरण दिए जाते हैं—

---

[1] 'कवितावली उत्तर० छं० १३१ २५

कवितावली—नाँगो फिरै कहै माँगतो देखि न खाँगो कछू जनि माँगिये थोरो।
राँकनि नाकप रीझि करै तुलसी जग जो जुरै जाचक जोरो॥
नाक सँवारत आयो हौं नाकहिं नाहिं पिनाकिहिं नेकु निहोरो।
ब्रह्म कहै गिरिजा सिखवो पति रावरो दानि है बावरो भोरो॥
उत्तर० १५३॥

विनयपत्रिका—बावरो रावरो नाह भवानी।
दानि बड़ो दिन देत दये बिनु बेद बड़ाई भानी।
निज घर की बरबात बिलोकहु तुम हौ परम सयानी।
सिव की दई संपदा देखत श्री सारदा सिहानी॥
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी सुख की नहीं निसानी।
तिन रंकन को नाक सँवारत हौं आयो नकवानी॥
दुख दीनता दुखी इनके दुख जाचकता अकुलानी।
यह अधिकार सौंपिये औरहिं भीख भली मैं जानी॥
प्रेम प्रसंसा बिनय ब्यंग जुत सुनि बिधि की बर बानी।
तुलसी मुदित महेश मनहिं मन जगत मातु मुसुकानी॥ ५॥

कवितावली—देवसरि सेवौं बामदेव गाँव रावरे ही,
नाम राम ही के माँगि उदर भरत हौं।
....
एते पर हूँ जो कोउ रावरो ह्वै जोर करै
ताको जोर देव दीन द्वारे गुदरत हौं॥ उत्तर० १६५॥

विनयपत्रिका—गाँव बसत बामदेव मैं कबहूँ न निहोरे।
अधिभौतिक बाधा भई ते किंकर तोरे।
बेगि बोलि बलि बरजिए करतूति कठोरे।
तुलसी दलि रूँध्यो चहैं सठ साखि सिंहोरे॥ ८॥

कवितावली—हनूमान है कृपालु लाड़िले लषन लाल,
भावते भरत कीजै सेवक सहाय जू

बिनती करत दीन दूबरो दयावनो सो,
बिगरे ते आपु ही सभाँरि लीजै भाय जू॥
मेरी साहिबिनि सदा सीस पर बिलसति,
देबि क्यों न दास को दिखायत पायँ जू।
खीझ हू में रीझिबे की बानि राम रीझत हैं,
रीझे है हैं राम की दुहाई रघुराय जू॥
उत्तर० १३६॥

विनयपत्रिका—पवन सुवन, रिपुदमन भरत लषन लाल दीन की।
निज निज अवसर सुधि किए बलि जाउँ आस पूजिहै खास खीन की।
राजद्वार भली सब कहैं साधु समीचीन की।
सुकृत सुजस साहिब कृपा स्वारथ परमारथ गति भये गति विहीन की।
समय सँभारि सुधारिबी तुलसी मलीन की।
प्रीति रीति समुझाइबी नतपाल कृपालुहिं परमिति पराधीन की॥२६८॥

ऐसे पदों का निर्माण संभवतः सं० १६५६ से १६६८ तक के लगभग हुआ होगा क्योंकि 'विनयपत्रिका' का 'विनयावली' (१६६६ वि०) स्वरूप सं० १६५६-६० तथा प्रस्तुत स्वरूप सं० १६६८ के लगभग के ऊपर माने जा चुके हैं और उपर्युक्त उदाहरणों में से प्रथम 'विनयावली' का है और शेष दो केवल 'विनयपत्रिका' के हैं।

'कवितावली' मे ऐसे अनेक छंद हैं जो स्पष्टतः जरावस्था की ओर संकेत करते हैं—

जरठाइ दिसा रविकाल उग्यो अजहूँ जड जीव न जागहि रे॥ उत्तर० ३१॥
काल बिलोकि कहै तुलसी मन में प्रभु की परतीति अघाई॥ उत्तर० ५८॥
कीजै न बिलंब अब पानी भरी खाल है॥ उत्तर० ६५॥
तुलसी सो जग मानियत महामुनी सो॥ उत्तर० ७२॥
अब जोर जरा जरि गात गयो मनमानि गलानि कुबानि न बूकी॥ उत्तर० ८८॥
कियो न कछू करिबो न कछू, कहिबो न कछू मरिबोई रह्यो है॥ उत्तर० ९१॥

ऐसे छंदों की रचना 'बरवै' के लगभग अर्थात् सं० १६६०-६४ और उस के

कुछ पीछे सं० १६६६-६७ तक हुई होगी—यदि वह और भी पीछे की न ठहरे। और इस प्रकार के छंदों की संख्या पर्याप्त है।

'कवितावली' का अंतिम अंश गोस्वामी जी के अंतिम वर्षों के संबंध में प्रामाणिक विचार उपस्थित करने के लिए जितना अनिवार्य है अंतर्साक्ष्य का कोई दूसरा अंश इतना नहीं हो सकता। किंतु, इस अंश के विषय में यह समझना कि पदों का संग्रह-क्रम घटना-क्रम पर प्रकाश डालेगा ठीक न होगा। नीचे हम उस की एक संक्षिप्त तालिका दे कर तब आगे बढ़ेंगे जिस से विवेचन अधिक स्पष्ट हो सके—

उत्तर० छंद १४९-१६४—शिवस्तुति।

१६५-१६८—शिव से अपनी *विषम वेदना* (कदाचित् बाहुपीड़ा) के विषय में निवेदन।

१६९-१७२—काशी की दुर्दशा—*रुद्रबीसी*।

१७३-१७६—काशी में *महामारी* (महामारी के वर्णन में अपनी ओर कोई संकेत नहीं है यह ध्यान देने योग्य है)।

१७७-१७८—*मीन की सनीचरी* का उल्लेख तथा राम से प्रार्थना।

१७९ —उत्पात की शान्ति पर दृढ़ विश्वास।

१८० —*प्रयाण-समय* क्षेमकरी-दर्शन।

१८१-१८२—काशी की रक्षा के लिये हनुमान तथा राम से प्रार्थना।

१८३ —'*महामारी को राम ने शांत कर दिया*' यह उल्लेख।

संक्षेप में, वर्णन के तारतम्य से घटनायें इस क्रम में आती हैं—

विषम वेदना, रुद्रबीसी, महामारी, मीन की सनीचरी, क्षेमकरी-दर्शन तथा महामारी-शांति। और घटना-क्रम से इन्हें इस प्रकार आना चाहिए—रुद्रबीसी, मीन की सनीचरी, महामारी और उस की शांति, विषम वेदना, अंतिम प्रयाण समय का क्षेमकरी-दर्शन; अतएव, नीचे इसी क्रम से इन पर विचार होगा

बीसी विश्वनाथ की विषाद बड़ो बारानसी

बूझिये न ऐसी गति संकर सहर की ॥ उत्तर० १७० ॥

उत्तरकांड मे छंद १६९ से १७२ तक काशी की यह दुर्दशा वर्णित है और रुद्र-बीसी का भी उल्लेख उसी प्रसंग से किया गया है। कुल दुर्दशा का उत्तरदायित्व कलि पर दिया गया है। इन छंदों की रचना सं० १६६८-१६६९ के लगभग की होगी।

मीन की सनीचरी सं० १६६९ से १६७१ तक पड़ी थी। एक तो कलि मे ही दुःख था इस सनीचरी ने उसे और भी द्विगुण कर दिया था—

एक तो कराल कलिकाल सूल मूल तामें,

कोढ़ में की खाज सी सनीचरी है मीन की ॥ कविता०, उत्तर० १७७ ॥

ऊपर का अंश जिस छंद का है उस की रचना सं० १६६९-७१ की होगी।

महामारी का विस्तारपूर्वक विवेचन आवश्यक है क्योंकि 'तुलसीग्रंथावली' के संपादकों के अनुसार[1] गोस्वामी जी की मृत्यु ही प्लेग से हुई थी।[2]

---

[1] 'तुलसी-ग्रंथावली', ३रा खंड, पृ० ५७-५९।

[2] गोस्वामी जी पर प्लेग के आक्रमण और उस से उन के मृत्युसंबंधी सिद्धांत का विकास किस प्रकार हुआ इस का एक रोचक वर्णन शिवनंदनसहायजी ने ('श्री गोस्वामी तुलसीदास जी' पृ० १३८) किया है—

"जब सन् १८९८ ई० में भारतवर्ष में प्लेग (गिल्टीवाली महामारी) का प्रकोप हुआ एवं लाखों मनुष्य विकराल काल के गाल में प्रवेश करने लगे तब ग्रियर्सन साहब ने १८९८ ई० के मार्च महीने के 'बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की प्रोसीडिंग' में 'कवितरामायण' के प्रणयन-काल के संबंध में एक लेख मुद्रित कराया और उस के कई एक कवित्तों का संबंध प्लेग से दिखलाया।"

फिर, "साहब ने मई मास के 'बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की प्रोसीडिंग' में लिखा है कि हम ने 'कवित्तरामायण' के प्रणयनकाल के संबंध में मार्च महीने की 'प्रोसीडिंग' में जो नोट छपवाया था उस की एक प्रति हम ने महामहोपाध्याय पं० सुधाकर जी के पास भेजी थी जिन्हों ने लिखा है कि बहुत संभव है कि गोसाईं की

कुछ दिन पूर्व बाबू श्यामसुंदरदास का भी यही मत था यद्यपि अब नहीं है ।[1] इस में संदेह नहीं कि काशी मे महामारी का प्रकोप हुआ था और वह भया-

स्वयं प्लेग से ही स्वर्गवासी हुए हों । और उन्हों ने रोगग्रस्त होने पर ही 'हनुमान-बाहुक' की रचना की हो । पंडित जी ने यह भी लिखा था कि उन्हें अपने पिता जी तथा प्रसिद्ध रामायणी वंदन पाठकजी से यह ज्ञात हुआ था कि गोसाईंजी ने बाहुक की रचना चार दिनों में की थी ।"

ग्रियर्सन साहब ने पुनः सन् १९०३ में (जर्नल अव् दि रायल एशियाटिक सोसाइटी पृ० ४५०) लिखा है कि "वे (गोस्वामी जी) उस नगरी (काशी) में १६२३ ई० (१६८० वि०) में प्लेग से आक्रांत हुए थे और उसी वर्ष मरे यद्यपि उस रोग (प्लेग) से उन की मृत्यु नहीं हुई ।"

बा० श्यामसुंदरदास तथा 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादकों ने पं० सुधाकर द्विवेदी के 'बहुत संभव है' मात्र को सिद्धांत की दृढ़ता दे दी ।

[1] 'गद्यकुसुमावली' का अंतिम लेख ।

किंतु 'मूल गोसाईंचरित' के प्रकाशित होने पर उन्हों ने अपना यह विचार छोड़ दिया । ('नागरीप्रचारिणी पत्रिका' भाग ७, अंक ४, पृ० ४०९) 'मूल गोसाईं-चरित' मे सं० १६६९ मे बाहुपीड़ा का उल्लेख तथा मीन की सनीचरी से उस का समय मिलता हुआ देख कर उन्हों ने यह माना है कि काशी मे प्लेग १६६९ से १६७१ तक था । यहाँ बाहुपीड़ा को उन्हों ने प्लेग की गिल्टी माना है और 'बाहुक' मे एक छंद उठा कर यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि गोस्वामी-जी प्लेग से आक्रांत अवश्य हुए थे किंतु उस से वे नीरोग हो गए और पीछे सं० १६८० तक जीवित रहे ।

किंतु, अब तो उन्हों ने अपना यह मत भी छोड़ दिया है । 'गोस्वामी तुलसी-दास' (१९३१ ई०) पृ० २०७ पर वे लिखते हैं—"कुछ लोगों का विचार है कि गोसाईंजी को प्लेग हो गया था और उसी रोग मे उन्हों ने प्राण विसर्जन किए परंतु उन के जो कवित्त इस मत के समर्थन में प्रस्तुत किए जाते हैं उन से यह प्रमाणित होता है कि गोसाईं जी को प्लेग न हो कर कोई दूसरा ही रोग हुआ था , उन को बहुत और का बाहुशूल हुआ था ।"

एक से दूसरे में कितना अंतर है

नक भी बहुत था जैसा गोस्वामी जी के वर्णन से ही स्पष्ट है। महामारी का उल्लेख भी स्पष्ट रूप से उन्हों ने उत्तर कांड में अनेक बार किया है—

रोष महामारी, परितोष महतारी !
दुनी देखिये दुखारी मुनि मानस मरालिके ॥१७३॥
महामारी महेसानि महिमा की खानि
मोद मंगल की रासि दास कासी बासी तेरे हैं ॥१७४॥
देवता निहारे महामारिन सों कर जोरे,
भोरानाथ भोरे जानि अपनी सी ठई है ॥१७५॥
संकर सहर सर नर नारि बारिचर
बिकल सकल महामारी माँजा भई है ॥१७६॥

किंतु, महामारी को राम ने अपनी करुणा के द्वारा शांत कर दिया यह उल्लेख भी 'कवितावली' के ही अंतिम छंद में किया गया है। इस पूरे महामारी के वर्णन में आदि से अंत तक गोस्वामी जी ने यही दिखाया है कि काशीनिवासी उस से कितने व्याकुल थे किंतु उन्हों ने कहीं भी ऐसा किसी प्रकार का संकेत तक नहीं किया है जिस से यह परिणाम निकाला जा सके कि उन्हें भी महामारी से कोई कष्ट हुआ था। अतएव यह कल्पना कि महामारी से उन की मृत्यु हुई बड़ी दूर की बात है। रहा प्रश्न यह कि ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर काशी की महामारी का समय अनुमानतः कब से कब तक माना जा सकता है।

इतिहासलेखकों का कथन है कि महामारी का प्रकोप पहिले पहिल पंजाब में हुआ और सं० १६७३ (सन् १६१६ ई०) में। वहाँ से फैलते फैलते यह दिल्ली तथा उस के समीपवर्ती ग्रामों और नगरों में फैली। जहाँगीर ने स्वयं इस का उल्लेख 'तुज़ुक जहाँगीरी' में किया है और उस के समकालीन इतिहासलेखक मोतमद खाँ ने महामारी का एक यथातथ्य तथा पूर्ण वर्णन देते हुए लिखा है कि यह बीमारी भारत भर में ८ वर्ष तक रही और उस ने कोई स्थान शेष न छोड़ा। आगरे में यह सं० १६७५—७६ (सन् १६१८-१९ ई०) में प्रारंभ हुई और निकट के कस्बों तथा गाँवों में फैल गई इतिहासकारों ने

बनारस में इस के फैलने की कोई तिथि नहीं दी है, फिर भी काशी पर सं० १६७७ से पूर्व इस का आक्रमण मानना असंगत होगा—देश के अन्य भागों मे भी यह गई और सं० १६८१ तक बनी रही इसलिये यदि अन्य भागों के लिये डेढ़ दो वर्ष भी रक्खे जायँ तो यह मानना पड़ेगा कि काशी में वह अधिक से अधिक सं० १६७९ तक अवश्य शांत हो चुकी थी। इस प्रकार काशी मे उस का समय सं० १६७७ से १६७९ के बीच ठहरता है। अतएव, महामारी-संबंधी छंदों की रचना भी उसी काल की होगी।

किंतु 'मूल गोसाईंचरित' में वेणीमाधवदास ने लिखा है—

> माधव सित सिय जनम तिथि, ब्यालिस संवत बीच।
> सतसैया बरनै लगे प्रेम बारि ते सींच ॥ ५६ ॥
> उतरु सनीचर मीन, मरी परी कासी पुरी।
> लोगन है अति दीन, जाइ पुकारे ऋषि निकट ॥ सो० १६ ॥
> करुणामय मुनि सुनि ब्यथा तंत्र कवित्त बनाय।
> करुणानिधि सों विनय करि, दीनी मरी भगाय ॥ ५७ ॥

जिस का आशय यह है कि १६४२ में 'सतसई' का आरंभ वैशाख शु० ९ को हुआ तदनंतर मीन के शनि के उतर जाने पर काशी में मरी पड़ी जिसे गोस्वामी जी ने तंत्र कवित्तों द्वारा ईश्वर से विनय कर के भगा दिया। सर जार्ज ग्रियर्सन ने गोस्वामी जी के जीवनकाल में दो बार मीन के शनि पड़ने का उल्लेख किया है—

(क) चैत्र शु० ५, सं० १६४० से ज्येष्ठ सं० १६४२ तक।

(ख) " " २, " १६६० से " " १६७१ तक।

और 'कवितावली' में जिस का उल्लेख है उसे दूसरी बार को माना है—कदाचित् यही ठीक भी है क्योंकि प्लेग के समय के वही निकट पड़ती है। किंतु वेणीमाधवदास के कथन में कई आपत्तियाँ हैं। प्रथम तो इतिहास से यह सिद्ध नहीं है कि १६४२-४३ में महामारी का आक्रमण हुआ था। दूसरे, वे तंत्र कवित्त भी जिन के द्वारा गोस्वामी जी ने 'करुणामय' से विनय कर के महामारी को भगा दिया था अब तक किसी के देखने में नहीं — — से कम

'कवितावली' में वे नहीं हैं। किंतु, इस के अनुसार भी महामारी मीन की सनीचरी के पीछे की घटना है।

उत्तरकांड में, किसी 'विषम वेदना' के विषय में भी गोस्वामी जी ने शिव से बड़े कातर शब्दों मे निवेदन किया है—

अविभूत वेदन विषम होत भूतनाथ तुलसी विकल पाहि पचत कुपीर हौं।
मारिये तो अनायास कासी बास खास फल ज्याइये तो कृपा करि निरुज सरीर हौं ॥१६६॥
रोग भयो भूत सो कुसूत भयो तुलसी को भूतनाथ पाहि पद पंकज गहत हौं।
ज्याइये तो जानकी रमन जन जानि जिय मारिये तो माँगी मीचु सूधियै चहतु हौं ॥१६७॥

बहुत संभावना इस बात की है यह वेदना बाहुपीड़ा को ही रही हो जिस का स्पष्ट उल्लेख इन छंदों मे नहीं आता, किंतु यदि वह न भी हो तो इस की पर्याप्त संभावना है कि यह बाहुपीड़ा की अग्रगामिनी कुल शरीर की पीड़ा है जिस का मूलकारण वात-विकार रहा होगा। इस प्रकार, उपर्युक्त वर्णन जिन छंदों में है उन की रचना सं० १६८० या कुछ ही पूर्व की होगी।

प्रयाणकालीन क्षेमकरी के शुभ दर्शन का उल्लेख बड़ी सुंदरतापूर्वक एक छंद में किया गया है—जो संग्रह-क्रम के अनुसार अंतिम नहीं प्रत्युत अंत से तीसरा है। यह गोस्वामी जी की अंतिम रचना है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि 'कवितावली' के स्फुट छंदों की रचना एक विस्तृत समय के भीतर हुई। उस का संपादन कब और किस ने किया यह एक अच्छा प्रश्न है। संभव है अपने जीवनकाल में ही गोस्वामी जी ने 'कविता-वली' नाम से कोई संग्रह किया हो किंतु अंतिम रचना के भी इस में संगृहीत होने के कारण यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि इस का संपादन उन के देहांत के पीछे कदाचित् किसी शिष्य ने किया होगा। सर जार्ज ग्रियर्सन ने रुद्रबीसी तथा मीन की सनीचरी के उल्लेखों के आधार पर इस का रचना-काल १६६९—७१ माना है[1] जो स्पष्ट ही अशुद्ध है।

---

[1] 'इंडियन ऐंटीक्वेरी, १८९३ ई०, पृ० ९८

दोहावली

'दोहावली' के ५७३ दोहों में से ३५ 'रामाज्ञा', २ 'वैराग्य संदीपिनी', ८५ 'मानस' तथा १३१ 'सतसई' के हैं। इस प्रकार उस में संकलित दोहों की संख्या २५३ है। यह अनुमान करना कि ये दोहे 'दोहावली' से उपर्युक्त ग्रंथों में—अथवा उन में से किसी में भी—गए होंगे कदाचित् बड़ी भूल का काम होगा क्योंकि वह एक संग्रह-ग्रंथ है, उस में दोहों का कोई तारतम्य नहीं है; और इस के विपरीत, 'रामाज्ञा', 'वैराग्यसंदीपिनी', 'मानस' तथा 'सतसई' में से प्रत्येक प्रबंध-ग्रंथ है और उस में इन दोहों में से प्रत्येक का एक निदिष्ट स्थान है,—अर्थात् यदि वे उन के ग्रंथों से निकाल दिए जायँ तो प्रबंध-सूत्र टूट जायगा। अतः 'दोहावली' की रचना निश्चय ही इन सभी ग्रंथों के पीछे की माननी पड़ेगी। इन उपर्युक्त ग्रंथों में से, 'दोहावली' को छोड़ देने पर 'सतसई' ही (१६४२ वि०) सब से पीछे की कृति है अतएव, 'दोहावली' का संग्रह १६४२ के पीछे किसी तिथि को हुआ होगा।

'दोहावली' के दो दोहों में हनुमान को शिव का अवतार कहा गया है—

जेहि सरीर रति राम सों सोइ आदरैं सुजान।
रुद्र देह तजि नेह बस बानर भे हनुमान ॥ १४२ ॥
जानि राम सेवा सरस समुझि करब अनुमान।
पुरुषा ते सेवक भए, हर ते भे हनुमान ॥ १४३ ॥

और, 'विनयपत्रिका' में हनुमान की स्तुति पदों के अतिरिक्त पाँच स्तोत्रों में भी की गई है और ये पाँचों स्तोत्र 'विनयावली' (१६६६ वि०) में भी हैं। इन पाँचों में हनुमान को शिव का अवतार माना गया है—

जयति रनधीर रघुबीर-हित, देवमनि, रुद्र अवतार संसार पाता ॥ २५ ॥
जयति मर्कटाधीश मृगराजविक्रम महादेव मुद मंगलालय कपाली ॥ २६ ॥
जयति मंगलागार, संसार भारापहर बानराकार विग्रह पुरारी ॥ २७ ॥
जयति बालार्क बरबदन पिंगल नयन कपिस कर्कश जटा जूट धारी ॥ २८ ॥
राम पद पद्म मकरंद मधुकर पाहि दास तुलसी सरन सूलपानी ॥ २९ ।

अत ऊपर के दोहों की रचना कदाचित स० १६६० के लगभग हुई होगी

'विनयपत्रिका' में कलिकाल तथा 'अधिभौतिक बाधाओं' द्वारा निरंतर पीड़ित होने का कई स्थानों पर उल्लेख हुआ है—विशेषतः पहिले का; 'दोहावली' के कुछ दोहों में भी इसी प्रकार का उल्लेख है—

तुलसी रघुबर सेवकहिं खल डाटत मन माखि ।
बाज-राज के सेवकहिं लवा दिखावत आँखि ॥ १४४ ॥
पुन्य पाप जस अजस के भावी भाजन भूरि ।
संकट तुलसी दास को राम करहिंगे दूरि ॥ १४६ ॥

इन दोहों की रचना सं० १६६०—६८ के लगभग हुई होगी।

'दोहावली' में रुद्रबीसी का भी उल्लेख हुआ है—

अपनी बीसी आपही पुरिहिं लगाये नाथ ।
केहि बिधि बिनसी बिस्व की करौं बिस्व के नाथ ॥ २४० ॥

रुद्रबीसी का समय सं० १६६५ से १६८५ तक माना जाता है और यह समय जहाँगीर के राजत्व-काल (सं० १६६२ से १६८४ तक) से लगभग पूरा मेल खाता है। काशी में तो उस समय उत्पात मचा ही हुआ था देश भर में प्रबंध-शैथिल्य के कारण परिस्थिति शोचनीय थी। गोस्वामी जी लिखते हैं—

बासर ढाकनि के ढका रजनी चहुँ दिसि चोर ।
संकर निजपुर राखिये चितै सुलोचन कोर ॥ २३९ ॥

'दिन में डाकुओं के दल और रात में चोरों के समुदाय चारों ओर उपद्रव कर रहे हैं।' सर टॉमस रो ने, जो मुग़लदर्बार में १६७२ वि० में आया था, तत्कालीन शासन का जो विवरण दिया है, उस में लिखा है कि 'यद्यपि देश सूबों में बँटा था फिर भी प्रबंध शिथिल था और फलतः शासन बहुत बुरा था, सूबों के शासक स्वेच्छाचारी तथा अन्यायी हो गए थे और राजा बन बैठे थे। पदों की प्राप्ति के लिये न योग्यता की आवश्यकता थी न अच्छे कुल की। अधिकतर नीच व्यक्ति ही सम्राट् तथा सम्राज्ञी अथवा उच्च पदाधिकारियों को किसी भाँति प्रसन्न कर के ऊँचे से ऊँचे पद पर पहुँच जाते थे।'[1] डाकुओं और

---

[1] ईश्वरीप्रसाद, 'दि हिस्ट्री अव् मुस्लिम रूल इन इंडिया' पृ० ५०४-५०५

चोरों का बल बढ़ गया था और प्रजा निरंतर अरक्षित दशा में रहती थी। अतएव, इन दोहों की रचना सं० १६६८-७२ के लगभग हुई होगी क्योंकि उस समय यह उत्पात सब से अधिक था।

'दोहावली' के तीन दोहों में गोस्वामी जी ने बाहुपीड़ा से पीड़ित हो उस से त्राण पाने के लिये राम से प्रार्थना की है—

तुलसी तनु सर सुख जलज भुज-रुज गज बरजोर।
दलन दयानिधि देखिये कपि केसरी किसोर॥ २३४॥

भुज-रुज कोटर रोग अहि बरबस कियो प्रवेस।
बिहँग राज बाहन तुरत काढ़िय मिटइ कलेस॥ २३५॥

बाहु-विटप सुख बिहँग थलु लगी कुपीर कुआगि।
राम कृपा जल सीचिये बेगि दीन हित लागि॥ २३६॥

इन दोहों की रचना स्पष्टतः बाहुपीड़ा के दिनों की होगी और बाहुपीड़ा का समय सं० १६८० माना गया है[1] अतः इन दोहों की रचना सं० १६८० की ठहरती है। बाहुपीड़ा उन की शान्त न हुई और श्रावण में उन का देहांत हो गया इसलिये गोस्वामी जी ने 'दोहावली' का संग्रह न किया होगा यह निश्चित है और उस के दोहों में तारतम्य का अभाव और संकलन में सुरुचि की न्यूनता भी इसी तथ्य की ओर संकेत करती है। 'दोहावली' का संग्रह गोस्वामी जी के किसी प्रेमी भक्त के द्वारा पीछे किया गया होगा यह बहुत संभव है। इस में जो दोहे अन्य ग्रंथों से संकलित हैं उन में से एक तो बहुत से उच्चकोटि के नहीं हैं दूसरे, उन में एक बड़ी संख्या ऐसे दोहों की है जो प्रसंग के हैं और प्रसंग के बाहर जिन की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं रह सकती—'रामाज्ञा' से जो दोहे लिये गए हैं उन में से अधिकतर ऐसे ही हैं। ऐसा जान पड़ता है कि संग्रह-कार गोस्वामी जी का एक भक्त मात्र था और उस ने अपने ही ऐसे भक्तों के लिये—कदाचित् कंठस्थ रखने अथवा निरंतर पाठ के लिये—गोस्वामी जी की

---

[1] देखिए इसी निबंध में 'बाहुक' विषयक विवेचन

समस्त कृतियों में से ग्रंथ के लगभग आधे दोहे संकलित किए और शेष अंश की पूर्ति उन के अन्य प्राप्त दोहों से संग्रह कर के कर ली।

बेणीमाधवदास ने 'दोहावली' की संग्रह-तिथि सं० १६३९-४० मानी है—

दोहावलि संग्रह किये चालिस संवत लाग ॥५४॥

इस में कहाँ तक सत्य हो सकता है इस का अनुमान ऊपर के विवेचन को पढ़ कर पाठक स्वयं कर सकते हैं। १६३९ तक तो 'सतसई' की भी रचना नहीं हो सकी थी, जिस के १३१ दोहे 'दोहावली' में संगृहीत हैं, और हम ने ऊपर देखा ही है कि १६८० तक की रचनाये 'दोहावली' मे बराबर मिलती है, तब यह तिथि किस प्रकार मान्य हो सकती है?

बाहुक

'कवितावली' मे गोस्वामी जी ने महामारी का वर्णन किया है और उस के अंतिम छंद मे यह भी लिखा है कि राम ने उस को अपनी करुणा से शांत कर दिया। 'कवितावली' मे उन्हों ने अपनी विषम-वेदना से त्राण पाने के लिये भी शिव से प्रार्थना की है किन्तु उस की शांति का उस में कोई उल्लेख नहीं किया है। यह पीड़ा कदाचित् वात-विकार के कारण थी और इस ने धीरे धीरे बाहुपीड़ा का रूप धारण किया। 'दोहावली' में बाहुपीड़ा- उन्मूलन के लिये राम से जो प्रार्थना की गई है उस का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। 'बाहुक' की रचना ही उस के उच्छेदन के लिये की गई थी।

'बाहुक' में गोस्वामी जी ने यह स्पष्ट लिखा है कि बाहुपीड़ा वात-विकार के कारण थी—

वात तरु मूल बाहुसूल कपि कच्छु बेलि,
उपजी सकेलि कपि खेल ही उखारिये ॥२४॥

यह पीड़ा निरंतर बढ़ती गई और औषधि तथा प्रयोग आदि सब निष्फल हुए। देवताओं से भी प्रार्थनाएँ व्यर्थ हुईं—

अपने ही पाप तें, त्रिताप तें कि साप तें
बढ़ी है बाहु बेदन कही न सहि जाति है

औषधि अनेक जंत्र मंत्र टोटकादि किए,
बादि भए देवता मनाये अधिकाति है ॥ ३० ॥

यह पीड़ा उन्हें वर्षाऋतु में हुई थी—और वात-विकार के लिये वर्षाऋतु से अधिक अन्य कोई समय कष्टकर नहीं होता यह सभी जानते हैं—

घेरि लियो रोगनि कुजोगनि कुजोगनि ज्यों,
बासर जलद घनघटा धुकि धाई है।
बरसत बारि पीर जारिये जवासे जस
रोष बिनु दोष धूम मूल मलिनाई है।
करुनानिधान हनुमान महाबलवान
हेरि हँसि हाँकि फूँकि फौजैं तैं उड़ाई है।
खायो हुतो तुलसी कुरोग गढ़ राकसनि,
केसरी किसोर राखे बीर बरियाई है ॥ ३५ ॥

बाबू शिवनंदनसहाय कहते हैं[1]—'इस कविता से वेदना की क्षणिक निवृत्ति क्या सर्वथा निवृत्ति पाई जाती है।' और 'मूल गोसाईंचरित' में बाहु-पीड़ा और उस से नीरोग होने का उल्लेख देख कर बाबू श्यामसुंदरदास ने भी उस का समर्थन उपर्युक्त छंद की अंतिम पंक्ति दे कर किया है[2] (अंतिम पंक्ति का अर्थ कदाचित् इन मतों में यह लिया गया है कि 'तुलसी को रोग-राक्षसों ने खा लिया था किंतु हनुमान ने उस की रक्षा कर ली') किंतु पूरे छंद को पढ़ने पर यह विचार शुद्ध नहीं ज्ञात होता। पूरे छंद का अर्थ इस प्रकार होगा—

'रोगों ने दुष्ट लोगों और दुष्ट योगों (ग्रहों) की भाँति घेर लिया है—दिन में बादलों की सघन घटा बड़े वेग से चढ़ी आती है, जल की वर्षा के साथ मेरी पीड़ा का भी अंत उसी प्रकार कर दीजिए जैसे जवासे जल जाते हैं; किंतु यदि आप बिना अपराध ही मुझ से रुष्ट हैं तो यह वैसा ही है जैसा

---

[1] 'श्री गोस्वामी तुलसीदासजी', पृ० १४२।

[2] — — — सिका भाग ७, अंक ४, पृ० ४०९

अग्नि में मलिनता (क्योंकि मलिनता धूम में होती है न कि धूममूल अग्नि में)। हे महाबलवान् हनुमान, तू ने देख कर, हँस कर, गर्जना कर और फूँक कर ही फौजें उड़ा दी हैं (किंतु वास्तविक परीक्षा तो अब है) तुलसी कुरोग-राक्षसोंद्वारा अब (लगभग) खाया जा चुका है यदि तू उसे बचा ले तभी ऐ वीर केशरी-किशोर! तेरी वीरता है!' क्या कहीं भी यह आशय मालूम पड़ता है कि हनुमान ने बाहुपीड़ा का शमन कर दिया था? यदि नहीं, तो उपर्युक्त परिणाम अशुद्ध है।

यह पीड़ा कदाचित् दाहिनी भुजा में हुई थी—

वेदन कुभाँति सो सही न जाति रात दिन

सोई बाँह गही जो गही समीर डावरे ॥ ३७ ॥

किंतु धीरे धीरे कुल शरीर भर मे फैल गई थी—

पाँय पीर, मुँह पीर, पेट पीर बाहु पीर

जरजर सकल सरीर पीर मई है ॥ ३८ ॥

और पीछे कुल शरीर भर में फोड़े निकल आए थे—

तातें तनु पेषियत घोर बरतोर मिस

फूटि फूटि निकसत लोन राम राय को ॥ ४१ ॥

यह कुल वर्णन वात-विकार-जनित रुधिर-विकार सूचित करता है। शरीर भर में बरतोर के से फोड़ों का निकल कर निरंतर बहते रहने की कल्पनामात्र भयानक है, और गोस्वामी जी को जितनी पीड़ा इस से रही होगी वह कल्पनातीत है। उन की दशा सुधरी नहीं और मन से देवताओं की ओर से विश्वास उठ गया। मृत्यु की आशंका स्पष्ट होने लगी थी, फिर भी उन्हें राम का भरोसा शेष था—

जीवौं जग जानकी जीवन को कहाइ जन,

मरिबे को बारानसी बारि सुरसरि को।

तुलसी के दुहूँ हाथ मोदक है ऐसे ठाउँ,

जाके जिए मुए सोच करिहैं न करिको

मोको झूठो साँचो लोग राम को कहत सब
मेरे मन मान है न हर को न हरि को ।
भारी पीर दुसह सरीर ते बिहाल होत,
सोऊ रघुबीर बिनु सकै दूरि करि को ॥ ४२ ॥

इस समय गोस्वामी जी के नेत्रों के आगे हनुमान, राम और शिव का ध्यान था; वे तीनों इष्टदेवों से एक बार फिर बड़े जोरदार शब्दों में पीड़ा शमन के लिये प्रार्थना करते है—

कपिनाथ रघुनाथ भोलानाथ भूतनाथ
रोगसिंधु क्यों न डारियत गाय खुर कै ॥ ४३ ॥

किंतु अंत में उन्हे निराशा ही होना पड़ता है और वे नीचे के छंद के साथ अपनी प्रार्थना समाप्त करते हैं—

कहौं हनुमान सों सुजान राम राय सों,
कृपानिधान संकर स्यों सावधान सुनिए ।
हरष-विषाद रागरोष गुन दोष मई,
बिरची बिरंचि सब देखियत दुनिए ॥
माया जीव काल के करम के सुभाय के,
करैया राम वेद कहैं साँची मन गुनिए ।
तुम ते कहा न होय हाहा सो बुझैये मोहिं
हौं हूँ रहौं मौन है बयोलो जानि लुनिए ॥४४॥

फिर भी गोस्वामी जी को कोई उत्तर न मिला और मौनावलंबन करना पड़ा। प्रयाण के समय उन्हों ने बड़ी उत्कंठा और बड़े प्रेमपूर्वक क्षेमकरी का शुभ दर्शन किया[1] और प्राण त्याग किया। वर्षा ऋतु में उन्हें यह पीड़ा हुई थी और श्रावण मास में गोस्वामी जी इस संसार से विदा हो गए।

महामारी की शांति का उल्लेख 'कवितावली' के अंतिम छंद में स्पष्ट है महामारी अधिकतर चैत्र तक ही शांत हो जाती है वह अधिक से अधि

वैशाख तक जा सकती है—ज्येष्ठ में तो यह कदाचित् ही कहीं सुनी जाए—फिर, श्रावण में प्लेग से मृत्यु हो, यह बहुत संभव नहीं। यदि यह छोड़ भी दिया जावे तो 'बाहुक' के पढ़ने से उस में प्लेग का एक भी लक्षण नहीं प्राप्त होता[1] तब बहुपीड़ा प्लेग की गिल्टी के कारण कैसे मानी जा सकती है ? इस के अतिरिक्त, पूरे वर्णन को पढ़ने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि पीड़ा कई दिनों तक कदाचित् एकाध महीने तक—रही जब कि प्लेग से शरीरांत २-३ दिन में ही हो जाता है। ऐसी दशा में यह कल्पना निराधार सी लगती है कि गोस्वामी जी की मृत्यु प्लेग से हुई।

'बाहुक' में जो छंद हैं वे बड़े सुंदर क्रम में संग्रहीत हैं। इस में संदेह नही कि 'बाहुक' का संपादन गोस्वामी जी ने न किया होगा किंतु जिस किसी सज्जन ने किया उस ने बड़ी योग्यता दिखाई है। 'बाहुक' का रचना-काल सं० १६८० होगा यद्यपि संपादन कुछ पीछे हुआ होगा।

गोस्वामी जी का ग्रंथ-रचनाकाल मोटे ढंग से १६११ से प्रारंभ हो कर १६८० तक चलता है और इस प्रकार लगभग ७० वर्ष का होता है। अतएव गोस्वामी जी की प्रतिभा की प्रगति पर समष्टिरूप से विचार करने के लिये हमे इस पूरे समय को तीन—पूर्व, मध्य तथा उत्तर—कालों में विभाजित कर लेने में सुभीता होगा—

(क) पूर्व रचना काल—सं० १६११ से १६३० तक।
(ख) मध्य " " —सं० १६३१ से १६५५ तक।
(ग) उत्तर " " —सं० १६५६ से १६८० तक।

---

[1] बाबू मिश्रनंदन सहाय लिखते हैं ('श्रीगोस्वामी तुलसीदास', पृ० १४२)—

'प्लेग की बीमारी में जहाँ तक देखा जाता है और जहाँ तक हमें डाक्टरों से ज्ञात हुआ है रोग के आक्रमण के साथ या थोड़े ही काल पीछे हृदय तथा मस्तिष्क दुर्बल होने लगता है, बुरे प्रकार का प्लेग होने से शीघ्र ही संज्ञा-शून्य भी हो जाता है। तब यह आश्चर्य की बात है कि 'बाहुक' ऐसी उत्कृष्ट रचना हो '

पूर्व रचना-काल के भीतर 'रामलला नहछू', 'जानकी मंगल', 'रामाज्ञा' तथा 'वैराग्यसंदीपिनी'; मध्य-काल के भीतर 'मानस', 'सतसई', 'पार्वती-मंगल', 'गीतावली', तथा 'कृष्णगीतावली'; उत्तर-काल के भीतर 'विनय-पत्रिका', 'बरवै', 'कवितावली', 'दोहावली', और 'बाहुक' आते हैं। इन कुल ग्रंथों पर हम छंद, प्रबंध, शैली, बुद्धितत्व, हृदयतत्व तथा आत्मतत्व की दृष्टियों से विचार करेंगे किंतु सुविधा के लिये रचनाकाल विभाजन के अनुसार चलेंगे।

पूर्व रचनाकाल—'रामलला नहछू' में सोहर छंद का प्रयोग हुआ है किंतु वह ग्रामीण और अपने वास्तविक रूप में है, जब कि 'जानकीमंगल' में भी वही छंद व्यवहृत हुआ है किंतु हरिगीतिका छंद की सहायता से उसे बहुत कुछ साहित्यिक रूप मिल गया है और इस प्रकार वह विवाहादि-संबंधी खंड काव्य में प्रयुक्त होने के उपयुक्त बन गया है। 'रामाज्ञा' में दोहों का प्रयोग किया गया है और पीछे 'वैराग्य-संदीपिनी' में भी, किंतु 'वैराग्यसंदीपिनी' में दोहों के बीच बीच सोरठों का भी प्रयोग हुआ है—यह विश्रामस्थल-निर्माण की ओर प्रयास है। 'वैराग्य संदीपिनी' में दोहे और सोरठे के साथ चौपाइयों का भी प्रयोग किया गया है किंतु वह बहुत विषम है। अतएव, इन छंदों का सामंजस्य 'वैराग्य-संदीपिनी' में नहीं हो सका है।[१]

प्रबंध की दृष्टि से 'रामललानहछू' एक बहुत छोटा प्रबंधकाव्य होते हुए भी जितना सदोष है उतना अन्य कोई नहीं।[२] 'जानकीमंगल' भी 'राम-ललानहछू' के ढंग का है किंतु उस में प्रबंध-दोष एक भी नहीं है जो कदाचित् इसलिये हो कि 'रामललानहछू' लिख लेने पर उस प्रकार की रचना में उन्हें पर्याप्त अनुभव हो गया था। 'रामाज्ञा' में अवश्य विचारणीय प्रबंध-दोष आ गया है। उस में पहिले सर्ग की पूरी कथा चौथे सर्ग में दुहराई गई है फिर भी चौथे सर्ग में वह उतनी सुंदर नहीं बन पड़ी है जितनी पहिले में। चौथे सर्ग का संबंध आगे पीछे वाले सर्गों से नितांत नहीं है। कदाचित् 'रामाज्ञा' में यह

---

[१] देखिए इसी निबंध में 'वैराग्यसंदीपिनी' विषयक विवेचन।

[२] देखिए इसी निबंध में   ' विषयक विवेचन

त्रुटि उसे सात सर्गों में पूरा करने की अनिवार्य आवश्यकता के कारण आ गई हो—क्योंकि, एक बार रामकथा कह डालने पर वह छः सर्गों में ही समाप्त हो गई होगी और शकुन की दृष्टि से सात सर्गों का निर्माण अनिवार्य रहा होगा तो उन्हों ने पुनः राम कथा उठाई होगी और एक सर्ग में वह उतनी ही आ सकी होगी जितनी वह चौथे सर्ग में है। यह प्रश्न अवश्य हो सकता है कि उसे आदि अथवा अंत में न रख कर मध्य में गोस्वामी जी ने क्यों रखा। आदि में रखना तो कदाचित् ठीक न होता क्योंकि वह प्रथम सर्ग के साथ ही पड़ने पर बुरी पुनरावृत्ति होती, और अंत में रखने पर समाप्ति न हो पाती और एक बार पूरी कथा का समावेष हो जाने पर भी ग्रंथ अधूरा लगता, कदाचित् इसीलिये इस चौथे सर्ग को गोस्वामी जी ने बीचोबीच रखा। 'रामाज्ञा' में प्रबंध की दृष्टि से एक दूसरी त्रुटि यह है कि उस में रामकथा तथा शकुन-विचार का अनमेल विवाह है—दोनों की प्रकृति नितांत भिन्न होते हुए भी दोहे की पहिली पंक्ति राम-कथा का कोई अंश कहती है और दूसरी शकुन की सूचना देती है—इसीलिये रचना में शैथिल्य है। किंतु 'वैराग्यसंदीपिनी' का विषय एक वैराग्य-प्रतिपादन मात्र है और वह 'रामाज्ञा' की भाँति विभाजित नहीं है, फिर भी, उस में विशेष चातुर्य नहीं है। पूरा विषय 'संत-स्वभाव', 'संत-महिमा' तथा 'शांति-वर्णन' नामक तीन शीर्षकों में रख दिया गया है।

शैली की दृष्टि से भी 'रामललानहछू' का स्थान सब से नीचा है। उस की भाषा ग्रामीण तथा अलंकार-विहीन सामान्य अवधी है। भावों के व्यक्तीकरण भद्दे ढंग पर हुए हैं। 'जानकीमंगल' की शैली उस की अपेक्षा कहीं अधिक प्रौढ़ है, भाषा भी बहुत कम ग्रामीण साधारण अलंकारों से युक्त, शिष्ट और कुछ साहित्यिक अवधी है, और वह भावों को व्यक्त करने के लिये लगभग पर्याप्त है। 'रामाज्ञा' की शैली अधिक काव्योचित और परिष्कृत है। दो विषयों का समावेश अनिवार्य होने के कारण शिथिलता अवश्य आ गई है फिर भी काव्य-भाषा की ओर प्रगति है। 'वैराग्यसंदीपिनी' में 'रामाज्ञा' वाली बाधा न होते हुए भी प्रतिपादन विवेचनात्मक होने के कारण सफलता कम मिली है उस में जिस शैली के निर्माण की ओर प्रयोग किया गया है वह

विकसित होने पर महाकाव्य में प्रयुक्त हो सकती है और हुई भी है।

पूर्वकालीन रचनाओं में बुद्धितत्व अप्रस्फुटित है। न उन में विचारों की सूक्ष्मता मिल सकती है न भावद्वंद्व। उन में महाकवि की प्रतिभा अंधेरे में अपना मार्ग ढूँढ रही है।

हृदय-तत्व और रस के नाते 'रामललानहछू' में शृंगारमात्र है, और वह भी निम्न कोटि का—परकीया अनुरक्ति के सामने आदर्श-च्युति का ध्यान नहीं है। परिहास भी अशिष्ट है। 'जानकीमंगल' में भी यद्यपि शृंगाररस प्रधान है किंतु वह निम्न कोटि का नहीं है—न उच्च कोटि का ही—वह मध्यम कोटि का है और 'रामललानहछू' के दोषों से मुक्त है। 'रामाज्ञा' में तो कोई रस ही नहीं है—उस के शकुन-विचार ने सब पर पानी फेर दिया है। 'वैराग्य-संदीपिनी' में शांतरस अवश्य है किंतु उस में उस के आलंबन, उद्दीपन, आश्रय आदि का विवेचन होने के कारण वह लक्षण-ग्रंथ सा हो गया है और रस-परिपाक उसी शुष्कता के कारण नहीं हो सका है।

आत्मतत्व की दृष्टि से केवल 'रामाज्ञा' का सप्तम सर्ग और 'वैराग्य संदीपिनी' ही विचारणीय हैं, अन्य नहीं। 'रामाज्ञा' में 'वैराग्यसंदीपिनी' की अपेक्षा यह तत्व बहुत कम है, किंतु दूसरे का तो विषय ही आत्म-तत्व से संबंध रखता है और उस में वास्तविक आत्म-संदेश अवश्य है।

मध्य-रचना-काल का प्रारंभ सं० १६३१ से ऊपर माना जा चुका है। ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि तुलना करने पर पूर्व-रचना-काल की कृतियों से इस काल की रचनाओं में क्रांति लक्षित होती है फिर भी, दोनों की कोटि में इतना अंतर है कि विकास की प्रगति द्रुत रही, यह निर्विवाद है।

'रामचरित-मानस' की रचना दोहे, चौपाइयों तथा सोरठों और हरि-गीतिका छंदों में अधिकांश हुई है, अन्य छंद इन की तुलना में नगण्य हैं। यद्यपि गोस्वामी जी ने तत्वतः 'मानस' में उसी परिपाटी का व्यवहार किया है

गोस्वामी जी ने उस में चमक पैदा कर दी है। छंदों की दृष्टि से भी दोहा चौपाई के अतिरिक्त हरिगीतिका आदि अन्य छंदों के यत्र-तत्र प्रयोग से उस में अधिक साहित्यिकता आ गई है, और मसनवीपन नहीं घुसने पाया है। जायसी के 'पद्मावत' को, जो अन्य सूफ़ी कथानकों से अधिक सफल हुआ है, पढ़ने पर थकावट सी लगने लगती है और उस का सब से बड़ा कारण कदाचित् छंदों का एक सा व्यवहार है—गिनती के दो ही छंद हैं दोहा और चौपाई—किंतु गोस्वामी जी ने 'मानस' में इस त्रुटि को भली भाँति दूर कर दिया है। 'सतसई' की रचना केवल दोहों में हुई है और वे 'रामाज्ञा' और 'वैराग्य-संदीपिनी' दोनों के दोहों की अपेक्षा अधिक सफल हुए हैं। 'पार्वतीमंगल' के छंदों में 'जानकीमंगल' के छंदों की अपेक्षा कोई नवीनता नहीं है। किंतु 'गीतावली' और 'कृष्ण गीतावली' में छंदों का चुनाव नया हुआ है—अभी तक गोस्वामी जी ने पदों में कोई ग्रंथ नहीं प्रस्तुत किया था—किंतु उस में कोई मौलिकता नहीं है। मीराँबाई, कबीर आदि ने तो पदों में रचना की ही थी सूर-दास ने पदों में 'सूरसागर' ऐसे बड़े और सफल काव्य-ग्रंथ की रचना कर 'गीतावली' रचना के बहुत पूर्व यह सिद्ध कर दिया था कि पदों में काव्य का चरम आदर्श उपस्थित किया जा सकता है। और इस में संदेह नहीं कि पद-रचना में जो सफलता सूरदास को मिल सकी उसे दूसरे न प्राप्त कर सके।

प्रबंध की दृष्टि से 'मानस' की सफलता इस कोटि तक पहुँची है कि संसार के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यों में भी उस का स्थान अधिकतर किसी से नीचा नहीं माना जाता है। शिथिलता का तो उस में नाम भी नहीं है—प्रत्येक कथांश ने अपनी आवश्यकता भर विस्तार पाया है, न कम न अधिक। केवल 'मानस' गोस्वामी-जी को महाकवियों में आसन देने के लिये पर्याप्त है। 'सतसई' भी एक प्रबंध-काव्य है—सात अध्यायों में विभिन्न विषयों का एक तारतम्य के अनुसार प्रतिपादन किया गया है। 'पार्वतीमंगल' एक अच्छा सा खंड-काव्य है। 'गीतावली' की गणना गीतिकाव्य में की जाती है किंतु यह उस की अपेक्षा कथा-काव्य ही अधिक है। 'कृष्णगीतावली' अवश्य 'गीतावली' की अपेक्षा अधिक 'गीति-काव्य' है किंतु ऐसा 'गीतावली' तथा उस के आकारों में अनु

बात पर ध्यान रखते हुए ही कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। दोनों स्फुट-काव्य ग्रंथ हैं किंतु 'गीतावली' में ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं जहाँ यह स्पष्ट लक्षित होता है कि उस स्थल के कुल या कम से कम अधिकतर-पदों की रचना उसी क्रम में हुई होगी जिस में वे संग्रहीत हैं।

शैली की दृष्टि से भी 'मानस' मध्यकालीन रचनाओं में सर्व श्रेष्ठ है। अवधी रूपों में संस्कृत शब्दों के संमिश्रण से गोस्वामी जी ने एक अत्यंत सफल काव्य-भाषा का निर्माण 'मानस' में किया है। 'मानस' का शब्द-भंडार दार्शनिक विवेचन, भक्ति-भावना-व्यक्तीकरण, नवरस-परिपाक, सूक्ष्म मनोविज्ञानमय विचार-विश्लेषण, कथा तथा वस्तु-वर्णन, और लौकिक तथा अलौकिक वातावरण-निर्माण सभी के लिये यथेष्ट हुआ है। वस्तुतः 'मानस' की शैली आदर्श शैली है—प्रत्येक शब्द अपनी स्थिति पर दृढ़ है। भाव तथा भाषा का अपूर्व सामंजस्य इस में हुआ है—न कहीं शिथिलता है न दुरूहता, सरसता प्रचुर है, सुबोधता तो इतनी है कि साधारण योग्यता के पाठक और बड़े से बड़े पंडित दोनों राम-कथा का आनंद उठाते हैं। 'सतसई' की शैली प्रौढ़ अवश्य है, और कुछ विभिन्न विषयों के प्रतिपादन में वह सफलता पूर्वक प्रयुक्त भी हुई है, किंतु न वह इतनी सरस है और न इतनी व्यापक कि उत्कृष्ट काव्य-रचना के उपयुक्त हो। उस में वह पूर्णता नहीं है जो किसी शैली को आदर्श शैली बना देती है। 'पार्वती-मंगल' की शैली निरी माध्यमिक है—न शिथिलता है न प्रौढ़ता। शब्दों का सुव्यवस्थित प्रयोग उस में अवश्य हुआ है जिस से एक धारा सी लक्षित होती है। भाषा भावों की समकक्ष है और केवल पर्याप्त है। उस में सरसता विशेष नहीं है, फिर भी प्रसाद गुण पर्याप्त है। भिन्न भिन्न विषयों में उस का प्रयोग असंभव है अतएव उस में व्यापकता भी नहीं है—एक सामान्य शब्द-भंडार पर्याप्त हुआ है। 'गीतावली' की शैली भी स्पष्ट माध्यमिक है। एक परिष्कृत ब्रजभाषा का शब्द-भंडार यथेष्ट हुआ है। भाषा भावों की सहगामिनी है। उस में प्रसादगुण विशेष है शैली पूरे ग्रंथ भर में एक सी है और उस में भी

से रचना-प्रयास परिलक्षित होता है किंतु गीतिकाव्यों के अनियंत्रित उद्गारों के व्यक्तीकरण मे यह कहाँ संभव है ? 'कृष्ण-गीतावली' को शैली 'गीतावली' की शैली की अपेक्षा कुछ प्रौढ़ और अधिक स्वाभाविक अवश्य है किंतु विशेष नहीं। कदाचित् इस का स्वयं उस शैली में कुछ अभ्यस्त हो जाना कारण हो, किंतु उस का विषय ही ग्रंथ की रचना तक बड़े बड़े कवियोंद्वारा इतना अधिक माँजा जा चुका था और उसी शैली मे इतना बड़ा साहित्य सफलता पूर्वक निर्मित हो चुका था, और शब्द-भंडार इतना पूर्ण हो चुका था, कि यदि 'गीतावली' की अपेक्षा उस मे कुछ विशेषता दिखाई पड़ती है तो कुछ आश्चर्य न होना चाहिए। वस्तुतः 'कृष्ण-गीतावली' की शैली मे मौलिकता नहीं है— क्या शब्द-भंडार और क्या प्रस्तुत करने का ढंग, सभी एक रूढ़ि की उपज है।

बुद्धितत्व की दृष्टि से 'मानस' का स्थान तुलसी-ग्रंथावली में सब से ऊँचा है। उस की रचना के लिये गोस्वामी जी ने कम से कम २० बड़े ग्रंथों का सम्यक् अध्ययन किया था और मानस में यथा स्थान उन से कुछ अंश ग्रहण कर बड़ी सारग्राहिता का परिचय दिया है। चरित्र-चित्रण मानस की सब से प्रधान वस्तु है और इस में संदेह नहीं कि चरित्र-निर्माण में ही गोस्वामी-जी ने सब से अधिक मौलिकता दिखाई है। विचारों का तो 'मानस' अथाह समुद्र है—जिस में कितने ही बड़े बड़े विद्वान् भी आजीवन निरंतर-आनंदपूर्वक अवगाहन करते हैं। मनोविज्ञानमय सूक्ष्म विचार-विश्लेषण, भावद्वंद तथा जीवन की अनेक परिस्थितियों का समावेश, सभी 'मानस' में बुद्धि-तत्व की अद्भुत ज्योति का समर्थन करते हैं। 'सतसई' में ऐसी कोई विशेषता नहीं है। दार्शनिक तत्वों का प्रतिपादन अवश्य पूर्ण और परिपक्व है किंतु अन्य दृष्टियों से उस का बुद्धि-तत्व बहुत उच्च कोटि का नहीं है। उपदेशों और राजनीति के दोहों में अनुभव झलकता है। किंतु तीसरे सर्ग में लगभग १०० टेढ़े मेढ़े दृष्टिकूट दोहोंद्वारा रामनाम का जो उपदेश किया गया है वह दिमाग़ी कसरत के अतिरिक्त किसी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है। इन प्रयासों से रामनाम में अनुराग उत्पन्न होना तो दूर अरुचि उत्पन्न होने का भय ही विशेष है। 'पार्वतीमंगल' तथा 'गीतावली' में गोस्वामी जी

की विचार-शीलता का जैसा परिचय मिलता है उस का उल्लेख ऊपर हो चुका है।[1] 'कृष्ण-गीतावली' में मौलिकता नहीं के बराबर है इसलिये उस में बुद्धि-तत्व को ढूंढने का प्रयास निरर्थक होगा।

हृदय-तत्व की दृष्टि से भी विचार करने पर 'मानस' माध्यमिक रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ है। 'मानस' में नवरस-परिपाक बड़ी उत्तमता के साथ हुआ है। सौंदर्य की भावना उस में स्थान स्थान पर मिलती है। 'सतसई' में न कोइ रस है न सौंदर्य। 'पार्वती-मंगल' में भी रस की मात्रा साधारण है। 'गीतावली' कहने को तो गीतिकाव्य है किंतु वर्णन—कथावर्णन और वस्तुवर्णन—ने उसे वास्तविक गीतिकाव्य कहे जाने के अयोग्य बना रक्खा है। पूरे ग्रंथ का लगभग तीन चौथाई भाग वर्णन ने ले लिया है और केवल शेष एक चौथाई के लगभग में रस का परिपाक हो सका है, और वह भी केवल वात्सल्य और करुणरसों तक सीमित है, फिर भी काव्य की दृष्टि से यह अंश निस्संदेह उत्कृष्ट है। 'कृष्ण-गीतावली' सरसता में 'गीतावली' की अपेक्षा कुछ आगे अवश्य है किंतु इस सरसता में भी मौलिकता बहुत कम है।

आत्मा का संदेश 'मानस' में प्रचुरता से है। उस के पढ़ने के अनंतर अगणित मनुष्यों ने पाप-प्रवृत्ति से त्राण पाया है। उत्तरी भारत में करोड़ों मनुष्यों—स्त्री-पुरुषों—का यही एकमात्र धार्मिक ग्रंथ है। एक अंग्रेज़ विद्वान ने यह बात बड़ी दृढ़तापूर्वक कही है कि विलायत में वहाँ की जनता के जीवन पर जितना प्रभाव इंजील का है, और उस में उस का जितना प्रचार तथा आदर है उत्तरी भारत में 'मानस' उस से भी अधिक जनता के जीवन का अंग हो गया है। आबाल-वृद्ध-वनिता सभी को इस ने अनेक परिस्थितियों में शान्ति प्रदान की है। और इस में तो संदेह नहीं कि 'मानस' की रचना कर गोस्वामी जी ने हिंदू जाति और, भारतीय संस्कृति को इस्लाम की धारा में बह जाने से बचा लिया और, आज भी वे 'मानस' द्वारा उस की रक्षा अन्य धर्मावलंबियों की कुटिल नीतियों से लोहा ले कर करते हुए हमारे

बीच अमर है। यदि सच पूछा जाय तो उत्तरी भारत का हिंदूधर्म 'मानस' की भावनाओं से ही अनुप्राणित है। 'पार्वतीमंगल' में आत्मतत्व साधारण है। 'सतसई' में यह यथेष्ट है, किंतु 'गीतावली' मे इस की मात्रा थोड़ी है। 'कृष्णगीतावली' में आत्मा का कोई संदेश नहीं है। यह अवश्य है कि गोस्वामी जी ने राम-कृष्ण-चरित्रों का गान कर के दोनों अवतारों की एकता का अनुमोदन किया है।

उत्तर-रचना-काल—मध्यकालीन रचनाओं मे जो स्थान 'मानस' का है उत्तरकालीन रचनाओं में वही स्थान 'विनयपत्रिका' का है। छंद की दृष्टि से उस के छंद वे ही हैं जो 'गीतावली' तथा 'कृष्णगीतावली' के हैं, किंतु 'विनय' के पदों को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर ऐसा ज्ञात होता है कि कवि मानों इस बात का अनुभव कर रहा हो कि उस ने उक्त छंद-रचना-प्रणाली पर पूरा पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया है—कुछ इस कारण भी 'विनयपत्रिका' की छंद-रचना बहुत कुछ दुरूह हो गई है। 'विनयपत्रिका' के उन छंदों में जो 'विनयावली' (सं० १६६६) के हैं यह बात उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी उन में जो इन के अतिरिक्त हैं। इन अतिरिक्त छंदों में एक पर्याप्त संख्या ऐसे पदों की है जिन के चरण बहुत लंबे है और एक साँस में पढ़े नहीं जा सकते। 'बरवै' का छंद बरवै है जो गोस्वामी जी को रहीम से मिला। छंद मे गोस्वामी जी ने कोई सुधार नहीं किया है यद्यपि विषय में अवश्य किया है। 'कवितावली' मे कवित्त सवैया तथा घनाक्षरी छंदों का उपयोग प्रधान है यद्यपि यत्रतत्र छप्पय झूलना आदि छंदों का भी प्रयोग हुआ है। इस के छंद गोस्वामी जी को उन समसामयिक कवियों से मिले जो रीतिकाल की नीव डाल रहे थे। यद्यपि नरोत्तमदास ने उन का शृंगार के अतिरिक्त एक दूसरे क्षेत्र में सफलतापूर्वक प्रयोग पहिले ही किया था फिर भी वे अधिकतर शृंगारपूर्ण वर्णनों तथा नायिकाभेद के उदाहरणों तक सीमित थे। गोस्वामीजी ने उन के लिए नया क्षेत्र खोला। उन्हों ने उन्हें 'कवितावली' में राम-कथा का माध्यम तो बनाया ही, उस के उत्तरकांड मे विनय का भी माध्यम बना कर और भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया इन्हीं कारणों से का स्थान उस

के रीति-काल की शैली पर एक रचना होते हुए भी बहुत उच्च है। 'दोहावली' की छंदरचना पूर्व तथा मध्यकालीन दोहों से अभिन्न है। 'बाहुक' के छंद वे ही हैं जो 'कवितावली' के हैं और उन का प्रयोग भी 'कवितावली' उत्तरकांड के अंतिम छंदों की भाँति किया गया है।

उत्तरकालीन रचनाओं मे सभी स्फुट रचनायें हैं। 'विनयपत्रिका' के दो संस्करणों का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। इन दोनों में पदों के जो क्रम हैं उन्हें मिलाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'विनयपत्रिका' को प्रबंध-काव्य कहना असंभव है। इस के अतिरिक्त, न 'विनयावली' में पदों का कोई क्रम है न 'विनयपत्रिका' में, यद्यपि इस में संदेह नहीं कि विभिन्न देवताओं से विनय के पद विभिन्न समूहों में एकत्र कर दिए गए हैं। 'बरवै' स्पष्ट रूप से स्फुट-काव्य है—जिस में छंद कथा-क्रम के अनुसार संग्रहीत कर दिए गए हैं और शांतरस विषयक छंद उत्तरकांड में रक्खे गए हैं। 'कवितावली' भी स्फुट-काव्य है और उस में भी 'बरवै' उत्तरकांड की भाँति शांतरस के छंदों का संग्रह है किंतु वह इतना बड़ा है कि 'कवितावली' का आधे से अधिक विस्तार उस ने ले लिया है। एक दूसरी विशेषता 'कवितावली' की यह है कि उस के अंतिम छंदों में गोस्वामी जी ने अपने जीवन के अंतिम दस बारह वर्षों का अच्छा विवरण दिया है—उन के जीवन पर प्रकाश डालने के लिये ये इतने महत्वपूर्ण हैं कि कोई भी इन की उपेक्षा नहीं कर सकता। 'दोहावली' में आधे से कुछ कम दोहे पूर्वरचित ग्रंथों से संकलित हैं, किंतु न इन मे कोई क्रम है न तारतम्य, दोहों का चुनाव भी एक साधारण श्रेणी की रुचि का परिचायक है। ग्रंथ के शेष दोहे उन्हीं के साथ बीच बीच में मिला दिए गए हैं। फिर भी इन नवीन दोहों में कुछ ऐसे भी हैं जो गोस्वामी जी की अंतिम रचनाओं में से हैं। उत्तरकालीन ग्रंथों मे 'बाहुक' का एक मुख्य स्थान है। प्रबंध की दृष्टि से 'बाहुक' उत्तरकालीन रचनाओं में सब से अधिक क्रम-बद्ध है। यद्यपि इस का संपादन गोस्वामी जी ने न किया होगा फिर भी यह सुसंपादित है। ऐसा ज्ञात होता है कि उस भाग्यशाली को गोस्वामी जी के अंतिम दिनों में उन की सेवा

कि वे महाशय स्वयं 'बाहुक' के छंदों को उसी क्रम में लिखते भी गये हों जिस मे गोस्वामी जी ने उन की रचना की थी और उन के देहांत के उपरांत उसी क्रम में यथातथ्य उन्हें प्रकाशित किया हो। इस में संदेह नहीं कि 'कवितावली' तथा 'बाहुक' दोनों मिल कर गोस्वामी जी के अंतिम १५ वर्षों के लगभग की जीवनी की बहुत ही पूर्ण और सब से अधिक प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

शैली की दृष्टि से यह कहना होगा कि गोस्वामी जी की उत्तरकालीन रचनायें अन्य रचनाओं से अधिक परिपक्व तथा प्रौढ़तर हैं। 'विनयपत्रिका' के विषय में यह अक्षरशः सत्य है कि भाव दौड़ में भाषा से कहीं आगे बढ़ जाते है और एक ही भाषा का शब्द-भंडार पर्याप्त नहीं होता—'विनयपत्रिका' को गोस्वामी जी की अन्य सभी रचनाओं की अपेक्षा कठिनतर मानने का यही प्रमुख कारण है—और यह कठिनाई हमें 'विनयावली' (१६६६ वि०) के पदों से उतनी नहीं ज्ञात होती जितनी 'विनयपत्रिका' के शेष पदों में। 'बरवै' की भाषा ठेठ अवधी होते हुए भी कितनी प्रौढ़ एवं ललित है यह किसी रसिक से छिपा नहीं है—थोड़े से शब्दों में पूरा रस का भंडार है। 'कवितावली' की शैली बड़ी प्रशस्त है। रसो के अनुकूल उस में यथास्थान परिवर्तन होते हुए भी वह प्रसाद-गुण-पूर्ण है। धारा कितनी सरल और माधुर्य कितना अधिक है! फिर भी, शब्दों का गठन इतना प्रशंसनीय है कि उन में से एक भी निकालने की बात दूर वह कदाचित् इधर से उधर भी नहीं किया जा सकता। 'दोहावली' को शैली के विषय में यही कहा जा सकता है कि उस में कोई नवीनता नहीं है। किंतु, 'बाहुक' की शैली बड़ी ही बलवती है—यंत्रणा की जैसी तीव्र व्यंजना बाहुक के छंदों में है वह उस का यथातथ्य चित्र खींच देती है।

गोस्वामी जी की अंतिम रचनाओं में बुद्धि-तत्व गौण है—प्रमुख है हृदय-तत्व और आत्म-तत्व। सच्ची अनुभूति की जितनी तीव्र व्यंजना, और हृदय का जैसा अनियंत्रित उद्‌गार 'विनयपत्रिका' में है उस के आधार पर इस का स्थान गीतिकाव्य की उच्चतम कक्षा मे है। 'बरवै' के उत्तरकांड में यद्यपि दिव्य आत्मा का संदेश है किंतु शेष में कवि के सुंदर हृदय का ही

परिचय मिलता है। 'कवितावली' में लंकाकांड तक अवश्य महाकवि की सहृदयता और सुकुमार भावनाओं की प्रचुरता मिलती है किंतु उत्तरकांड में जो पूरे ग्रंथ का आधे से अधिक अंश है उस का स्थान आत्मतत्व ले लेता है और कला दब जाती है—फिर भी, 'कवितावली' का अंतिम अंश जिस में महामारी आदि का वर्णन है पुनः महाकवि की प्रतिभा की ओर संकेत करता है। यहाँ वर्णन बड़ा ही सजीव है और कवि के सहानुभूतिपूर्ण हृदय का द्योतक है। अवस्था वृद्धि के साथ अंतिम काल की रचनाओं में से यद्यपि मर्मी में काल की आगे आती हुई प्रतिच्छाया की ओर आकस्मिक संकेत मिल जाता है किंतु उस का स्पष्ट आभास 'दोहावली' और 'बाहुक' में हुआ है। जैसी करुणा और जितना दैन्य 'दोहावली' के कुछ दोहों—जो पहले की रचनाओं से संकलित दोहों के अतिरिक्त है—तथा 'बाहुक' के छंदों में मिलता है उस के अधिकांश का श्रेय इसी विभीषिका को है। इन निरी अंतिम रचनाओं में आत्मा का संदेश पाना कठिन है। 'बाहुक' के अंतिम छंदों में देवताओं के ऊपर जो अविश्वास तथा हनुमान, राम तथा शिव से उन के सहायता और रक्षा न कर सकने का स्पष्ट उत्तर माँगने की प्रवृत्तियाँ हैं वे उस असहनीय यंत्रणा के कारण हैं जिस से गोस्वामी जी को अपनी कुल प्रार्थनाओं के अनंतर भी त्राण न मिल सका था। इस प्रकार का विश्वास-शैथिल्य नैराश्य-जनित है। फिर भी उत्तर- रचना-काल समष्टिरूप से आत्म-संदेश-प्रचुर है।

क्या दो सौ बावन वार्ता गोकुलनाथकृत है ?

[लेखक—श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा, एम० ए०]

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' का प्रथम आधुनिक उल्लेख टैसी[1] ने अपने सुप्रसिद्ध इतिहास के दूसरे संस्करण में किया है जो १८७० में प्रकाशित हुआ था। टैसी के शब्दों का भाव निम्नलिखित है—

'अपने पिता विट्ठलनाथ जी, उपनाम श्रीगुसाईं जी महाराज, के दो सौ बावन शिष्यों का हाल भी इन्हों ने लिखा है।'

टैसी के बाद के लिखे हुए 'शिवसिंहसरोज' (१८७७ ई०) तथा ग्रियर्सनकृत 'वर्नाक्युलर लिटरेचर अव् हिंदुस्तान' (१८८९ ई०) में गोकुलनाथ का कोई विशेष उल्लेख नहीं है। हिंदी साहित्य के प्रथम विस्तृत इतिहास 'मिश्रबंधुविनोद'[2] में गोस्वामी गोकुलनाथ जी के विषय में लिखते हुए मिश्रबंधुओं ने लिखा है कि "इन के दो गद्य ग्रंथ चौरासी वैष्णवों की वार्ता और २५२ वैष्णवों की वार्ता प्रसिद्ध हैं और दोनों हमारे पुस्तकालय में वर्तमान हैं।" हिंदी साहित्य के सब से अधिक प्रामाणिक इतिहासकार पं० रामचंद्र शुक्ल के इतिहास में और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में नीचे लिखा उल्लेख मिलता है, "इस के उपरांत सगुणोपासना की कृष्णभक्ति-शाखा में दो सांप्रदायिक गद्य ग्रंथ ब्रजभाषा के मिलते हैं—चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता। ये दोनों वार्ताएँ आचार्य्य श्री वल्लभाचार्य्य जी

---

[1] गार्सां द तासी : 'इस्त्वार दो ला लितरेत्योर इंदुई एत इंदुस्तानी', द्वितीय , १८७० ई० भाग १ पृ० ४९९

के पौत्र और गोसाईं विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोसाईं गोकुलनाथ जी की लिखी है।"[१] मिश्रबंधु तथा पं० रामचंद्र शुक्ल के इन उल्लेखों के बाद हिंदी में अथवा अंग्रेजी में लिखे गए हिंदी साहित्य के प्रायः समस्त इतिहासों में इन ग्रंथों का गोकुलनाथकृत लिखा जाना स्वाभाविक ही है। १९२९ में जब मैं ने इन वार्ताओं में से अष्टछाप कवियों की जीवनियों को संकलित कर के प्रकाशित किया था उस समय भी मुझे इस विषय में कुछ संदेह था इसीलिये मैं ने 'अष्टछाप'[२] के वक्तव्य में संदेहात्मक ढंग से लिखा था कि "प्रस्तुत पुस्तक गोकुलनाथ जी के नाम से प्रचलित ८४ वैष्णवन की वार्ता तथा २५२ वैष्णवन की वार्ता शीर्षक ग्रंथों से अष्टछाप कवियों की जीवनियों का संग्रहमात्र है।" यद्यपि संग्रह के मुखपृष्ठ पर 'गोकुलनाथकृत' शब्द छपे हैं।

चौरासी वार्ता तथा दो सौ बावन वार्ता के इस समय डाकोर के संस्करण प्रामाणिक हैं किंतु इन के मुखपृष्ठ पर इन के गोकुलनाथकृत होने का उल्लेख नहीं है। चौरासी वार्ता में कोई ऐसे विशेष उल्लेख देखने में नहीं आते हैं जो इस के गोकुलनाथकृत होने में संदेह उत्पन्न करते हों, किंतु दो सौ बावन वार्ता में अनेक ऐसी बातें मिलती हैं जिन से इस का गोकुलनाथकृत होना अत्यंत संदिग्ध हो जाता है।

सब से पहली बात तो यह है कि इस वार्ता में अनेक स्थलों पर गोकुलनाथ का नाम इस तरह आया है जिस तरह कोई भी लेखक अपना नाम नहीं लिख सकता है। इन उल्लेखों से स्पष्ट विदित होता है कि कोई तीसरा व्यक्ति गोकुलनाथ के संबंध में लिख रहा है। उदाहरण के लिये पहली गोविंदस्वामी की वार्ता में से कुछ उद्धरण नीचे दिए जाते हैं—

"जब कहते कहते अर्ध रात्र बीती तब श्री गुसाईं जी पौढ़े। गोविंदस्वामी घर कूं चले। तब श्री बालकृष्ण जी तथा श्री गोकुलनाथ जी तथा श्री रघुनाथजी तीनों भाई वैष्णवन के मंडल में बिराजत हते। जब गोविंद

---

[१] रामचंद्र शुक्ल 'हिंदी साहित्य का इतिहास', संवत् १९८६ पृ० ४८१

स्वामी ने जाय के दंडवत करी। तब श्री गोकुलनाथ जी ने पूछे जो श्री गुसाईं जी के इहाँ कहा प्रसंग चलतो हतो।"[1] इसी वार्ता में एक दूसरे स्थल पर आता है—

"श्रीनाथ जी तथा गोविंदस्वामी के गान सुनिवे के लिये श्री गोकुलनाथ जी नित्य पधारते और एक मनुष्य बैठाय राखते। जो श्री गुसाईं जी भोजन करवे कुं पधारें तब मो कु बुलाय लीजो।"[2]

इस तरह के अनेक उल्लेख इस वार्ता में तथा अन्य वार्ताओं में आते हैं। इस पर कोई टिप्पणी करना व्यर्थ है।

दो सौ बावन वार्ता के अंदर दो स्थलों की ओर मेरा ध्यान मेरे शिष्य श्री गणेशप्रसाद ने पहले पहले आकर्षित किया था। पहला स्थल "श्री गुसाईं जी के सेवक लाडबाई तथा धारबाई" शीर्षक १९९ वीं वार्ता में है।[3] ये कदाचित् वेश्यायें थीं और मानिकपुर की रहनेवाली थी। इन्हों ने अपनी जीवन भर की कमाई 'नव लक्ष रुपैया' पहले विट्ठलनाथ जी को तथा कुछ दिनों बाद उन के पुत्र गोकुलनाथ जी को अर्पण करना चाहा किंतु दोनों ने आसुरी धन समझ कर अंगीकार नहीं किया। "तब श्री गोकुलनाथ जी के अधिकारी ने श्री गोकुलनाथ जी के पूछे बिना एक छात में बिछाय के ऊपर कांकर डराय के चूनो लगाय दियो सो वा छात मे द्रव्य रह्यो आयो। फेर साठ वर्ष पीछे औरंगजेब बादशाह की जुलमीं के समय में म्लेच्छ लोक लूंटवे कुं आये तब श्री गोकुल में सुं सब लोग भाग गए। और मंदिर सब खाली होय गए कोई मनुष्य गाम मे रह्यो नहीं। तब विन म्लेच्छन ने वे छात खोदी। सो नवलक्ष रुपैय्यान को द्रव्य निकस्यो। तव गाम में जितने मंदिर हते सब मंदिरन की छात खुदाय डारी। सो आसुरी द्रव्य के संग तें सब गोकुल को छात खुदाई। सो वे लाडबाई धारबाई श्री गुसाईं जी के सेवक ऐसे हते।"

---

[1] 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' डाकोर सं० १९६०, पृ० ५।

[2] वही, पृ० ९।

[3] वही, पृ० ३३२

स्मिथ[1] के अनुसार औरंगजेब ने मंदिर तुड़वाने की नीति सन् १६६९ से प्रारंभ की थी। खोज के अनुसार गोकुलनाथ जी का समय[2] १५५१ से १६४७ ई० तक माना गया है। इस तरह गोकुलनाथकृत ग्रंथ में औरंगजेब के राज्य की इस घटना का उल्लेख संभव नहीं है। इस उल्लेख से यह भी ध्वनि निकलती है कि यह वार्ता कदाचित् औरंगजेब के राज्यकाल के बाद लिखी गई है।

दूसरा स्थल "श्री गुसाईं जी के सेवक गंगाबाई क्षत्राणी" शीर्षक ५१ वीं वार्ता[3] में है। इस वार्ता में गंगाबाई के संबंध में लिखा है कि "और सोले सं अट्ठाईश में तिन को जन्म हतो और सबें सो छत्तीश वर्ष सूधी वे भूतल पर रही हती। एक सो आठ वर्ष सूधी रही हती और मेवाड़ में श्री नाथ जी के संग आई हती।" यदि ये संख्यायें विक्रमी संवत मान ली जावें तो गंगाबाई का समय १५७१ ई० से १६७९ ई० तक पड़ता है। गंगाबाई का श्री नाथ जी के साथ मेवाड़ जाने का उल्लेख "श्री गोवर्द्धन नाथ जी के प्रागट्य की वार्ता"[4] शीर्षक ग्रंथ में भी आया है और वहाँ इस घटना की तिथि भी स्पष्ट शब्दों में दी हुई है। इस उल्लेख के शब्द निम्नलिखित हैं—"मिति असोज सुदी १५ शुक्र संवत् १७२६ के पाछिलो पहर रात्री श्री वल्लभ जी महाराज पयान सिद्ध कराये, अरोगाये। पीछे रथ हाँके चले नहीं। तब श्री गोस्वामि विनती कीये तब श्री जी आज्ञा की जो गंगाबाई कौ गाड़ी में बैठाय कैं संग ले चलौ। रथ के पाछे गाड़ी

---

[1] स्मिथ: आक्सफ़र्ड हिस्ट्री अव् इंडिया, पृ० ४३९।

[2] वल्लभाचार्य का समय १४७९ से १५३१ ई० तथा विट्ठलनाथ जी का समय १५१५ से १५८५ ई० तक माना जाता है।

[3] 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', डाकोर, १९६०, पृ० ११२।

[4] इस ग्रंथ की एक प्राचीन छपी हुई प्रति (१८८४ ई०) मुझे मथुरा में एक छोटी सी दूकान पर मिली थी पुष्टिमार्ग के इतिहास पर यह ग्रंथ विशेष

चली आवै।" इस तरह यह घटना इस प्रमाण के अनुसार भी १६६९ ई० में ही पड़ती है। गंगाबाई के संबंध में इस निश्चित उल्लेख से भी यही सिद्ध होता है कि दो सौ बावन वार्ता गोकुल नाथ कृत नहीं हो सकती है।

अब मैं एक ऐसा प्रमाण देना चाहता हूँ जो व्यापक रूप से समस्त ग्रंथ पर लागू होता है और जिस से स्पष्ट रीति से यह सिद्ध हो जाता है कि ८४ वार्ता तथा २५२ वार्ता के रचयिता दो भिन्न व्यक्ति थे, और २५२ वार्ता निश्चित रूप से सत्रहवीं शताब्दी के बाद की रचना है। "ब्रजभाषा का विकास" शीर्षक खोज-ग्रंथ की सामग्री जमा करते समय मैं ने चौरासी तथा दो सौ बावन वार्ताओं के व्याकरण के ढांचों का भी अध्ययन किया था। इस अध्ययन से मुझे यह आश्चर्यजनक बात मालूम हुई कि इन दोनों वार्ताओं के व्याकरण के अनेक रूपों में बहुत अंतर है। यहाँ विस्तार से तो मैं इस विषय की समस्त सामग्री नहीं रखूँगा किंतु कुछ थोड़े नमूने अवश्य रखना चाहूँगा। उदाहरण के लिये कारक चिह्नों को ही लीजिए। नीचे इन की तुलनात्मक सूची दी जाती है—

	चौरासी वार्ता	दो सौ बावन वार्ता
कर्म-संप्रदान	कों को	कूं कुं
करण-अपादान	सों	सूं सु

क्रियाओं के नीचे लिखे रूप भी ध्यान देने योग्य हैं—

वर्तमान	हौं हों हैं	हूं हुं हैं
भूतकाल	हुतो, हुते, हुती	हतो, हते, हती
आज्ञा	करौ, देखौ, गावौ	करो, देखो, गायो

उदाहरण के लिये दोनों वार्ताओं में से कुछ वाक्य नीचे दिये जाते हैं—

दो सौ बावन वार्ता

कूं	पृ० ४७	जो तुमारो धर्म हम कूं सिखावो।
कुं	पृ० १४४	तब सब वैष्णव श्यामदास कुं समझाये लगे।
सु	पृ० ३००	तब विनको स्नेह सु हृदय भर आयो

हुं	पृ०, ४६	राज की कृपातें अबी आयो हुं।
हे	पृ० ७८	सो बहुत दिन भए हे।
हतो	पृ० ३०१	वैष्णव के ऊपर विश्वास बहुत हतो।
हते	पृ० ४६	सो वे कृष्ण भट्ट जी ऐसे कृपापात्र हते।
हती	पृ० ११६	एक ब्राह्मणी हती।
दिखावो	पृ० ३७८	अब तुम ये स्वांग पूरो कर दिखावो।
बरसो	पृ० ३४९	हमारो डेरो छोड़ के बरसो।
लेओ	पृ० ८२	मोकुं शरण लेओ।

चौरासी वार्ता

कों	पृ० २५४	राजा मानसिंग श्री गोवर्द्धन जी के दर्शन कों गिरिराज ऊपर आये।
को	पृ० ३९	तब श्री गुसाईं जी को दंडोत कीनी।
सों	पृ० १३२	राजा सों मिल्यौ।
हों	पृ० ४८	में तो विरक्त हों।
हैं	पृ० १७३	ऐसे कृपापात्र भगवदीय हैं।
हुतौ	पृ० २०९	सो साथ एक सेवक हुतौ।
हुते	पृ० ६९	सो नारायण ऐसे त्यागी हुते।
हुती	पृ० २०८	उनकों आज्ञा दीनी हुती।
करौ	पृ० २१५	सूरदास श्री गोकुल कों दर्शन करौ।
गावौ	पृ० २१७	ताते तुमहू कछू गावौ।
बेठौ	पृ० १६०	तुम दोऊ स्त्री पुरुष स्नान करिकें आय बेठौ।

ऊपर दिए हुए ये कुछ रूप नियम हैं। अपवाद स्वरूप एक वार्ता वाले रूप दूसरी वार्ता में कहीं कहीं मिल जाते हैं। एक ही व्यक्ति अपनी दो रचनाओं में व्याकरण के इन छोटे छोटे रूपों में इस तरह का भेद नहीं कर सकता कू सू इत्यादि रूप निश्चित रूप स बाद के हैं जो प्राचीन भाषा में

साधारणतया प्रयुक्त नहीं होते थे। मौखिक रूप से ऐसे वृहत् गद्य ग्रंथ की रक्षा हो सकना असंभव है नहीं तो यह कहा जा सकता था कि धीरे धीरे मूल ग्रंथ के मौखिक रूप में बाद को समान रूप से ऐसे व्याकरण संबंधी परिवर्तन हो गए होंगे।

ऊपर दिए हुए समस्त कारणों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दो सौ बावन वार्ता गोकुलनाथ कृत नहीं हो सकती। बल्कि कदाचित् चौरासी वार्ता के अनुकरण में सत्रहवीं शताब्दी के बाद किसी वैष्णव भक्त ने इस की रचना की होगी।

सर मुहम्मद इक़बाल और उन का काव्य-कौशल

[लेखक—श्रीयुत इक़बाल वर्मा 'सेहर']

यदि आप कल्पना-जगत में भ्रमण कर आनंद-विभोर होना चाहें तो तनिक देर के लिये समझ लीजिए कि आप वर्षाऋतु के होते किसी पहाड़ के दामन में अवस्थित हैं। नीचे जहाँ तक निगाह जाती है, हरा-भरा मैदान है जो पेड़-पौदों, बेल-बूटों और फल-फूलों से सर्वथा सुसज्जित है, जिस में कल-कल-वाहिनी सरिताओं की मादक तान है, रंग-रंग के पक्षियों का कर्ण-मधुर संगीत है और है सुरभित समीर की रसभरी बहार। पर उतने ही से परितृप्त न हो जब निगाह ऊपर को उठती है तो लगभग ऐसे ही दृश्यों को पार कर पहाड़ की हिममंडित चोटियों को छूती हुई उस विस्तृत शून्य में विकीर्ण सी हो जाती है जहाँ नीलवर्ण आकाश हलके-हलके बादलों से आच्छादित हो रहा है जिन की हलकी-हलकी फुहारें समूचे दृश्य को आर्द्र बनाती हुई उस की शोभा में निखार पैदा कर रही हैं। बस, यही निगाह की हद है। अब प्रकृति का यह एकांत निरीक्षण आत्मा में इतनी उत्सुकता उत्पन्न कर देता है कि वह आगे मानसिक दृष्टि द्वारा उस हद को पार कर ऐसे स्थान को प्राप्त होता है जहाँ उस पर आनंदातिरेक से निमग्नता की दशा छा जाती है और वह विस्मृति-जन्य रस से शराबोर हो अपने को प्रकृति से नितांत असंबद्ध सा समझने लगता है।

यही उपर्युक्त वर्णन 'इक़बाल' के काव्य-सौंदर्य पर पूर्णतः लागू होता है। कवि मनुष्य है और इसी दुनिया का प्राणी है। वह इसी दुनिया की विभिन्न वस्तुओं को देखता है। इस की पैनी दृष्टि उन वस्तुओं को बेधती हुई भीतर तक चली जाती है, जहाँ उस सौंदर्य की परिव्यक्ति है जिसे हम सहज ही अलौकिक कह सकते हैं। परिणामस्वरूप उस की आत्मा उसी सौंदर्य की छटा से आलोकित हो उन वस्तुओं का वर्णन करती है और उस वर्णन में

ऐसी ऊँची उड़ान आ जाती है कि हम भौतिक पदार्थों की सुंदरताओं पर विमुग्ध होते हुए सौंदर्य को उस उच्च श्रेणी पर जा पहुँचते हैं जहाँ तज्जनित मादकता के कारण हमें अपने तन-बदन का होश तो नहीं रहता, पर हमारी आत्मा क्षण-भर के लिये प्राकृतिक परिस्थितियों से पृथक् हो उस उल्लास का अनुभव करती है जो वस्तुतः अनिर्वचनीय है। कवि अपने वर्णन में प्रायः करुणरस का ही आश्रय लेता है पर वही 'करुणरस' उस के वर्णन को सजीव बना हमारे भावों को उन्नत करता है।

ऐसे बड़े कवि का जन्मस्थान दिल्ली या लखनऊ नहीं, जहाँ के ख्यात-नामा उर्दू कवियों ने अपने काव्योपम प्रयत्नों द्वारा उर्दू-भाषा के भांडार को अमूल्य रत्नों से परिपूर्ण कर उर्दू-साहित्य-जगत को एक दम जगमगा दिया है, बल्कि स्यालकोट नामी पंजाब का एक मामूली ज़िला है। परंतु प्रतिभा को स्थान की अपेक्षा नहीं होती; फिर उस प्रतिभा की असाधारणता का तो कहना ही क्या जो स्वानुकूल परिस्थितियों के न होने पर भी अपने विकास-पथ पर अग्रसर होती हुई अपने चारों ओर एक ऐसा वातावरण तैयार कर ले जो स्वयं परिस्थितिजन्य कहा जा सके। यह बात रोज़-रोज़ नहीं होती, परंतु जब कभी होती है तो न तो उसे फैलते देर लगती है और न मर्मज्ञोंद्वारा पर्याप्त प्रशंसा की भेंट पाते।

'इक़बाल' का जन्म सन् १८७६ ई० में हुआ। वह अपने पठन-काल के समय में ही काव्य-रचना करने लगे थे, परंतु उन की ख्याति का प्रारंभ तो बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही हुआ। यह वह समय था जब उर्दू कविता पश्चिमी काव्य-योजना के अविराम कोमल स्पर्शों से कसमसाती हुई अपना पहलू बदल रही थी। 'आज़ाद' और 'हाली' प्रभृति प्रसिद्ध उर्दू कवियों ने अपने अविरल प्रयत्नों द्वारा जिस नवीन शैली का संचार किया था, वही शैली अब उर्दू कविता को पूर्ण जाग्रत दशा में ला कर इस के द्वारा हिंदुस्तानियों में नवीन उत्साह एवं स्फूर्ति का संचार करना चाहती थी। अप्रेल सन् १९०१ ई० में लाहोर से 'मखज़न' नामी उर्दू मासिक पत्रिका का शेख़ (अब सर) अबदुल क़ादिर के में बड़ी आन-बान

में प्रकाशन हुआ। उसी में हमारे चरित्रनायक की समयोचित कविता 'हिमाला' प्रथम-प्रथम प्रकाशित हुई। कविता का पहला बंद यह है—

ऐ हिमाला! ऐ फ़सीले[1] किश्वरे[2] हिंदोस्ताँ!
चूमता है तेरी पेशानी को झुक कर आसमाँ।
तुझ में कुछ पैदा नहीं देरीना-रोज़ी[3] के निशाँ,
तू जवाँ है गर्दिशे शामो सहर के दरमियाँ।
एक जल्वा[4] था कलीमे तूरे[5] सैना के लिये,
तू तजल्ली[6] है सरापा[7] चश्मे-बीना[8] के लिये।

फिर इस के बाद तो 'इक़बाल' की सुंदर रचनाएँ लगभग सभी प्रसिद्ध उर्दू पत्रिकाओं को सुशोभित करती हुई कवि की कीर्ति को दिगंतव्यापिनी बनाती गईं।

लाहौर कालिज से 'एम० ए०' हो जाने के बाद आप सन १९०५ ई० से सन १९०८ ई० तक युरोप में रहे, जहाँ प्रोफेसर (सर टामस) आर्नल्ड जैसे महान आचार्य ने आप की शिक्षा की संपूर्ति की। कवि ने जिस काव्य-संबंधी कार्य में महाकवि 'दाग़' का शिष्यत्व स्वीकार कर, हाथ लगाया था उसे पूरा करने में आर्नल्ड महोदय से बहुत बड़ी मदद मिली। वहाँ एक समय ऐसा भी आया जब आप ने कविता-परित्याग का दृढ़ निश्चय कर लिया, पर आर्नल्ड महोदय ने ही उन्हें समझा-बुझा कर इस इरादे से बाज़ रक्खा। कहने

---

[1]प्राचीर। [2]मुल्क। [3]पुरानापन। [4]प्रकाश।

[5]'कलीम' उपाधि है हज़रत मूसा की जिन्हें इसलामी गाथानुसार सैना नामी पहाड़ पर ईश्वरीय प्रकाश नज़र आया था। [6]प्रकाश। [7]सर से पैर तक।

[8]देखने वाली आँख।

अंतिम पद बड़ा सुंदर है। कवि कहता है कि 'कलीम' के लिये तो प्रकाश की केवल एक ही छटा थी, पर तू तो प्रत्येक सूक्ष्मदर्शी के लिये सर्वथा प्रकाश-स्वरूप है और काल की अवहेला करते हुए आज भी अपने कण-कण से उसी आदि-ज्योति की आभा को प्रस्फुटित कर रहा है

को चाहे जो कह लीजिए, पर हमारा अनुभव तो यही कहता है कि उन के लिये अपने उपर्युक्त निश्चय को कार्यान्वित करना प्राय: असंभव ही होता। विचाराधिक्य से विचार-प्रकाशन अनिवार्य हो जाता है, और प्रकृत कवि इस के लिये बाध्य होता है कि वह काव्योचित रीति पर ही वैसा प्रकाशन करे।

इंगलैंड के कैंब्रिज-विश्वविद्यालय मे शिक्षित हो चुकने पर और बैरिस्टरी पास कर आप जर्मनी भी गए जहाँ आप ने 'डाक्टर आफ् फ़िलासफ़ी' की उपाधि प्राप्त की। उर्दू-अँगरेज़ी के अतिरिक्त आप अरबी, फ़ारसी और संस्कृत के भी प्रकांड पंडित हैं। आप की फ़ारसी पद्य-रचना का साक्ष्य आप की 'असरारे-बेख़ुदी' नामी पुस्तक से मिलता है जिस का प्रोफ़ेसर निकलसनकृत अँगरेज़ी अनुवाद आज युरोप और अमेरिका मे भी आप की शुहरत फैला रहा है। संस्कृत अध्ययन का प्रभाव तो आप की रचनाओं में ही व्यक्त होता है जिन में प्राय: अनेक आकर्षक रीतियों पर अद्वैतवाद या वेदांत का ही प्रति-पादन हुआ है। कविता का शीर्षक कुछ ही क्यों न हो परंतु कवि की इच्छा तो सदैव यही रहती है कि वह मूलतत्व की खोज का ही प्रयत्न करे और उसी तत्व को अपने पाठको के समीप रख उन को अहम्मन्यता एवं स्वार्थपरता को नष्ट कर दे। विश्वप्रेम के संचार का यही साधन है। उदाहरणार्थ निम्न पद्यो को देखिए—

फ़िदा करता रहा दिल को हसीनों की अदाओ पर,
मगर देखी न इस आईने में अपनी अदा तू ने।
तअस्सुब छोड़ नादाँ! दह्र[1] के आइना-ख़ाने मे,
ये तसवीरें हैं तेरी जिन को समझा है बुरा तू ने।

और देखिए—

आशना अपनी हक़ीक़त से हो ए देहक़ाँ[2] ज़रा,
दाना तू, खेती भी तू, बाराँ[3] भी तू, हासिल भी तू।
आह! किस की जुस्तजू आवारा रखती है तुझे,
राह तू, रहरव[4] भी तू, रहबर[5] भी तू, मंज़िल भी तू।

---

[1]जगत। [2]किसान [3]वर्षा [4]पथिक। [5]

काँपता है दिल तेरा अंदेशये तूफ़ाँ से क्या,
नाखुदा[1] तू, बह्‌र[2] तू, कश्ती भी तू, साहिल[3] भी तू।
वाय नादानी कि तू मुहताजे साक़ी हो गया,
मै[4] भी तू, मीना[5] भी तू, साक़ी भी तू, महफ़िल भी तू।

कितना सुंदर प्रदर्शन है! कवि ने मानो एक चित्र खींच कर सामने रख दिया है जो मूक नहीं प्रत्युत वाचाल है, और जिस की वाचालता शुष्क शब्दों के रूप में नहीं प्रत्युत संगीत-लहरी के रूप में प्रगट हो रही है।

'संगीत' काव्य-सौंदर्य का अत्यावश्यक अङ्ग है। भावप्रदर्शन तो गद्य-द्वारा भी हो सकता है, परंतु जो काव्य को वस्तुतः काव्य बनाता है वह उस का संगीतमय प्रणयन ही है जिस से भावों में भी निखार पैदा हो जाता है। जगत-प्रसिद्ध अँगरेज़ लेखक कारलाइल के निम्न कथन में कितनी सचाई है। अर्थात्—

'यदि तुम्हारा वर्णन वास्तव में संगीतमय हो—न केवल अपने शाब्दिक रूप में प्रत्युत अपने हार्दिक एवं तात्विक रूपों, अपने समस्त विचारों एवं वचनों और अपनी संपूर्ण संयोजनाओं में भी—तो ऐसा वर्णन निश्चय ही संगीतमय है और ऐसा न होने पर नहीं है। अतः हम कविता को संगीतमय-विचार के नाम से अभिहित करते हैं। कवि वह है जो उसी रीति पर विचार करे। किसी मनुष्य की दृष्टि की सचाई और गहराई ही उसे कवि बनाती है। काफ़ी गहराई तक देखने से तुम में संगीत का समावेश हो जायगा; क्योंकि प्रकृति का हृदय तो प्रत्येक स्थान पर संगीत-स्वरूप है ही, केवल तुम को हृदय तक पहुँचना चाहिए।'[6]

---

[1]नाविक। [2]समुद्र। [3]किनारा। [4]शराब। [5]शराब का शीशा।

[6] "If your delineation be authentically musical, musical not in word only but in heart and substance, in all the thoughts and utterances of it, in the whole conception of it, then it will be musical, if not, not. Poetry therefore w call musical thought The poet is he who thinks in that manner. It is a man's sincerity and depth of vision that makes him a poet See deep enough and you *see* musically the heart of nature is every where music if you ar only reach t *He o and Hero-worship*

वस्तुतः इसी पहुँच के प्रयत्न में कवि को अपना लहू पसीना एक कर देना पड़ता है। इसी पहुँच की श्रेणियाँ उस की ख्याति की श्रेणियाँ हुआ करती हैं जिन के अनुसार कवि-समाज में उस का स्थान निश्चित होता है। हमारा चरितनायक अपने प्रयत्न में कहाँ तक सफल हो सका है, इस का सम्यक् अनुमान उस की रचनाओं से ही हो जायगा।

जब हम कवि की उपर्युक्त पहुँच पर विचार करते है और साथ ही उस की रचनाओं की दार्शनिकता पर भी, तो हमें सहसा आश्चर्यान्वित हो जाना पड़ता है। आध्यात्मिकता-संबंधी शुष्क विषय का संगीतमय निरूपण, कितनी कठिन बात है! परंतु उभय विशेषताओं के समन्वय में ही कवि के कलाम की विशेषता एवं मौलिकता है। मानो कवि प्रकृति के अंतस्तल में बैठ कर संगीत को ग्रहण करता है और आकाश से भी ऊँचा उड़ कर आध्यात्मिकता को; और फिर दोनों को संयुक्त कर एक ऐसी मध्यवर्ती वस्तु तैयार कर देता है जिस के रसास्वादन से दुनियावालों को झूले में झूलने का सा मज़ा आ जाता है। कवि की कथन-शैली गहन एवं क्लिष्ट है अवश्य, पर बेहद गहराई और बेहद ऊँचाई तक जाने का परिणाम और हो ही क्या सकता है?

इन खास खूबियों के अतिरिक्त 'इक़बाल' के कलाम मे स्वदेश-प्रेम का रंग भी नज़र आता है। उन का 'सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्ताँ हमारा' वाला हिंदी तराना सारे भारत में इतना मशहूर हो चुका है कि कुछ अधिक कहने की जरूरत नहीं। उन्हो ने मर्यादापुरुषोत्तम रामचंद्र तथा स्वर्गीय स्वामी रामतीर्थ के विषय में भी दो संक्षिप्त कविताएँ लिखी हैं; परंतु सत्य हमें यह कहने पर बाध्य करता है कि सर्वांगीण रूप से उन की कविताओं मे 'इसलामियत' का ही रंग दिखाई देता है, विशेषतः सन् १९०८ ई० के पश्चात् तो यह रंग इतना गाढ़ा हो जाता है कि वह स्याही के रूप में परिवर्तित होता हुआ प्रतीत होता है। कवि के कौशल में कोई फ़र्क़ नही दिखाई पड़ता परंतु कवि के विशाल व्यक्तित्व मे तो जरूर ही फ़र्क आ जाता है। हमारे खयाल में कवि का अपने काव्य के संबंध में संप्रदाय-विशेष के इतना अधीन होना उस का आदर्श-च्युत होना है विश्व स्वयं अपनी समस्त पूँजी को किसी महाकवि के चरणों

से अर्पित करता है, और उस से यह आशा रखता है कि वह उस पूँजी को वितरणयोग्य बना कर उसे विश्व भर में पुनः बिखेर दे। जब हम 'इक़बाल' के वेदांत-निरूपण पर दृष्टि डालते हुए उन की सांप्रदायिकता पर दृष्टि-पात करते हैं तो हमारे दुःख की मात्रा कुछ बढ़ ही जाती है।

परंतु वेदांत-निरूपण हो या सांप्रदायिकता-प्रदर्शन या और कुछ, कवि प्रायः सभी में दुःख का आश्रय लेता हुआ चलता है। ऐसा होते हुए भी उस का दुःख निराशा-जनक नहीं प्रत्युत आशा का सूचक है। शायद इसी लिये वह स्वयं कहता है—

औरों का है पयाम[1] और मेरा पयाम और है,
इश्क़ के दर्दमंद का तर्ज़े-कलाम और है।

प्रेम में दुःख है, पर उस दुःख से भरी हुई आवाज़ में आशा का संदेश है। इस के अतिरिक्त कवि अशांति में ही जीवन मानता है और एक के विनाश में दूसरे का निर्माण—यहाँ तक कि वह मृत्यु को जीवनोल्लास का नव्यकरण समझता है। देखिए कहता है कि—

मौत तजदीदे[2] मज़ाक़े[3] ज़िंदगी का नाम है,
ख़्वाब के पर्दे में बेदारी[4] का इक पैग़ाम[5] है।

ये बातें 'इक़बाल' के कलाम में अकसर पाई जाती हैं।

निस्संदेह 'इक़बाल' की कविता में वैसे शृंगार का अभाव है जैसा वह साधारणतया समझा जाता है। परंतु कविता की नवीनता तो 'शृंगार' की भी नवीनता चाहती है; और जब हम इस बात को ध्यान में रखते हुए देखते हैं तो हमें सारी की सारी कविता अपने अनुपम सौंदर्य में 'शृंगार' की प्रतिमा ही बनी हुई मालूम होती है, जिस पर मर्मज्ञ दर्शकों की दृष्टि पड़ कर फिर हटने का नाम नहीं लेती।

अब हम कवि के काव्य-संग्रह से कुछ सरल और सर्वोपयोगी पद्यों को उद्धृत करके अपने पाठकों के विचारार्थ नीचे दर्ज करते हैं।

---

[1] सन्देश [2] [3] [4] जागृति। [5] संदेश

कवि की 'जुगनू' शीर्षक कविता बहुत प्रसिद्ध है, जिस में शब्द-सौष्ठव, प्रसादगुण, उपमासौंदर्य और वेदांत-निरूपण का स्पष्टीकरण अत्यंत चित्ताकर्षक रीति पर हुआ है। देखिए—

(१)

जुगनू की रौशनी है काशानये[१] चमन में,
या शमअ[२] जल रही है फूलों की अंजुमन[३] में।
आया है आसमाँ से उड़ कर कोई सितारा,
या जान पड़ गई है महताब की किरन में।
छोटे से चाँद में है ज़ुलमत[४] भी रौशनी भी,
निकला कभी गहन से, आया कभी गहन में।
पर्वाना इक पतंगा, जुगनू भी इक पतंगा,
वह रौशनी का जोया[५] यह रौशनी सरापा[६]।

(२)

हुस्ने-अज़ल[७] की पैदा हर चीज़ में झलक है,
इन्साँ में वह सुख़न[८] है गुंचे में वह चटक है।
यह चाँद आसमाँ का शायर का दिल है गोया,
वाँ चाँदनी है जो कुछ याँ दर्द की कसक है।
कसरत[९] में होगया है वहदत[१०] का राज़[११] मख़फ़ी[१२],
जुगनू में जो चमक है वह फूल में महक है।
यह इख़्तलाफ़[१३] फिर क्यों हंगामों[१४] का महल[१५] हो,
हर शै में जब कि पिनहाँ[१६] ख़ामोशिए-अज़ल[१७] हो।

---

[१] घर। [२] मोमबत्ती। [३] महफ़िल। [४] अँधेरा। [५] खोजनेवाला। [६] सर्वथा। [७] आदि-सौंदर्य। [८] वचन। [९] बाहुल्य। [१०] अद्वैत-वादिता। [११] भेद। [१२] गुप्त। [१३] विरोध। [१४] झगड़ों। [१५] स्थान। [१६] गुप्त। [१७] आदिमौन—अप्रगट ईश्वरीय सत्ता। 'मौन'—शब्द काव्योपम रीति पर 'हंगामों' की रियायत से प्रयुक्त हुआ है।

दूसरे बंद की रचना बड़ी ही सुंदर बन पड़ी है। अद्वैतवाद का कितना काव्योपम, भावपूर्ण, गूढ़ एवं मार्मिक वर्णन है। संक्षेप में कितनी विस्तीर्णता है। फिर कवि ने अपनी कविता को कैसे शिक्षाप्रद ढंग पर खत्म किया है। अंतिम पद में कहता है कि जब प्रत्येक वस्तु में ईश्वर की वही एक मौन सत्ता विद्यमान है तो फिर यह बाह्य विरोधात्मक बकवाद क्यों ?

कवि अपनी 'तस्वीरे-दर्द' नामी कविता में भारत तथा भारतीयों के प्रति कहता है—

> रुलाता है तेरा नज़्ज़ारा[1] ए हिन्दोस्ताँ ! मुझको,
> कि इबरतखेज़[2] है तेरा फ़िसाना[3] सब फ़िसानों में।
> दिया रोना मुझे ऐसा कि सब कुछ दे दिया गोया,
> लिखा किल्के अज़ल[4] ने मुझ को तेरे नौहा ख़्वानों[5] में।
> निशाने बर्गे-गुल[6] तक भी न छोड़ इस बाग़ में गुलचीं[7] !
> तेरी क़िस्मत से रज़्म-आराइयाँ[8] हैं बाग़बानों में।
> वतन की फ़िक्र कर नादाँ ! मुसीबत आने वाली है,
> तेरी बर्बादियों के मश्विरे हैं आसमानों[9] में।
> न समझोगे तो मिट जाओगे ए हिन्दोस्ताँ-वालो !
> तुम्हारी दास्ताँ तक भी न होगी दास्तानों में।

सहृदय कवि भारत की तबाही और बर्बादी पर रो उठता है और भावुकता वश अपने उसी सहन-सामर्थ्य को अपना सर्वस्व समझता है। उस का कल्पनामूलक हृदय भारत के अतीत वैभव पर दृष्टि डालते हुए वर्तमान भारत की कारुणिक दशा को देखता है और इन अवलोकनों से भारत के भविष्य का अनुमान करते हुए, भारतीयों को अपनी चितावनी द्वारा मिल-जुल कर रहने का उपदेश देता है।

---

[1] दृश्य। [2] शिक्षाप्रद। [3] क़िस्सा। [4] भाग्यलेखनी
[5] मातम में रोनेवाला [6] फूल की पत्ती [7] फूल तोड़ने वाला
[8] लड़ाइयाँ [9] फ़ारसी-उर्दू कवियों ने को कहा है

'परिंदे की फ़रियाद' में कुशल कवि अपने आंतरिक विचारों को यों व्यक्त करता है—

आता है याद मुझ को गुज़रा हुआ ज़माना,
वह बाग़ की बहारें वह सब का चहचहाना।
आज़ादियाँ कहाँ वह अब अपने घोंसले की,
अपनी ख़ुशी से आना, अपनी ख़ुशी से जाना।
लगती है चोट दिल पर आता है याद जिस दम,
शबनम के आँसुओं पर कलियों का मुसकुराना।

रचना सरस एवं सरल है, परंतु राजनीतिक दृष्टिकोण से विचार करने पर उस का लुत्फ़ दोबाला हो जाता है। अंतिम पद कितना सुंदर, सकरुण एवं संकेतपूर्ण है। बेबस विहंग की व्यथा कैद के कारण यों ही क्या कम थी कि उस के कोमल हृदय को अश्रुपात और हास्य का स्मरण अधिक उत्पीड़ित करे! और बातों की याद तो दिल को दुखी बना उस में निस्तब्धता ला सकती है, पर बेबसी की दशा में तो वह निर्मम उपहास से चोट खा कर एक दम तड़पने ही लग जाता है।

'मज़दूर' के विषय में कवि के निम्न पद विचारणीय हैं—

दस्ते-दौलत आफ़रीं[1] को मुज़्द[2] यों मिलती रही,
अहले-सर्वत[3] जैसे देते हैं ग़रीबों को ज़कात[4]।
नस्ल, क़ौमीयत, कलीसा,[5] सल्तनत, तहज़ीब, रंग,
ख़्वाजगी[6] ने ख़ूब चुन-चुन कर बनाए मुसकरात[7]।
मक्र की चालों से बाज़ी ले गया सर्मायादार[8],
इन्तहाए-सादगी से खा गया मज़दूर मात।

---

[1]दौलत पैदा करने वाले हाथ। [2]उजरत। [3]धनवान।
[4]ख़ैरात। [5]गिरजा। [6]आधिपत्यवाद। [7]मादक वस्तुयें।
[8]पूँजीपति

उठ कि, अब -बज़्मे[1] जहाँ का और ही अंदाज़ है,

मशरिक़ो मग़रिब में तेरे दौर[2] का आग़ाज़[3] है।

अधिकारवाद या संपत्तिवाद ने जो नशे बेहोश रखने के लिये बनाए हैं उन की खोज भी कवि ने अच्छी की है। परंतु आख़िर में वह अपने ओजस्वी शब्दों द्वारा मज़दूरों को यह ख़ुशख़बरी भी देता है कि अब वह बेहोशी के दिन लद गए और आगे दुनिया में तेरा ही दौर-दौरा और बोल-बाला होने वाला है, जिस का प्रारंभ भी हो गया है।

अब 'इक़बाल' की ग़ज़लों का नमूना भी देखिए और उस की दाद दीजिए—

चमक तेरी अयाँ[4] बिजली में आतिश[5] में शरारे[6] में,

झलक तेरी हुवैदा[7] चाँद में सूरज में तारे में;

जो है बेदार[8] इन्साँ में वह गहरी नींद सोता है,

शजर[9] में फूल में हैवाँ में पत्थर में सितारे में;

मुझे फूँका है सोज़े क़तरए-अश्के-मुहब्बत[10] ने,

ग़ज़ब की आग थी पानी के छोटे से शरारे में।

प्रथम पद में ईश्वर की सतेज सर्वव्यापकता का कितना, सुंदर, सरल और सरस वर्णन है। शब्दों की सार्थकता सर्वथा सराहनीय है। फिर प्रवाह तो 'इक़बाल' की कविता का विशेष गुण है। अंतिम पद काव्यकल्पना का बढ़िया उदाहरण है। 'जलबिंदु' को किस प्रकार 'चिनगारी' प्रमाणित किया है। पद करुणारस से ओत-प्रोत है। प्रेम में और होता क्या है?

और देखिए—

है आशिक़ी में रस्म अलग सब से बैठना,

बुतख़ाना[11] भी हरम[12] भी कलीसा[13] भी छोड़ दे;

---

[1] जहान की महफ़िल। [2] युग। [3] प्रारम्भ। [4] प्रगट।
[5] आग। [6] चिनगारी। [7] प्रगट। [8] जाग्रत। [9] पेड़।
[10] मुहब्बत के आँसू के बूँद की दग्धता [11] मूर्तिगृह [12] काबा [13] गिरजा

सौदागरी नहीं, यह इबादत ख़ुदा की है,

ए बे-ख़बर! जज़ा[1] की तमन्ना[2] भी छोड़ दे;

अच्छा है दिल के साथ रहे पासबाने[3]-अक़्ल,

लेकिन कभी-कभी उसे तनहा[4] भी छोड़ दे।

कवि कहता है कि वास्तविक ईश्वर-प्रेम किसी बाह्य आडंबर की अपेक्षा नहीं रखता, न उसे प्रेमिक-हृदय के अतिरिक्त किसी बाह्य साधन की आवश्यकता होती है। सच तो यह है कि वैसी दशा में बाह्य वस्तुएँ प्रेमिक के दिल में और उलझन ही पैदा कर देती हैं। यों तो वह अपनी इच्छानुसार अपने प्रेम के पारदर्शी प्रकाश में सभी पदार्थों में अपने प्रेम-पात्र का दर्शन करता है पर साथ ही यह भी अनुभव करता है कि वह प्रकृति के अणु-अणु में व्यापक होते हुए भी उन से पृथक् है, अतः उस पार्थक्य का अनुभव करने के लिये पार्थक्य की ही आवश्यकता है। आलोच्य पद का आशय कितना विस्तीर्ण है। प्रसिद्ध उर्दू कवि 'रियाज़' ख़ैराबादी भी कहते हैं—

कई काबे मिले रस्ते में कई तूर मिले,

इन मुक़ामात से हम को वह बहुत दूर मिले।

ग़ज़ल के द्वितीय पद में निष्काम प्रार्थना का कैसा सच्चा उपदेश है। 'सौदागरी' शब्द ने उस उपदेश को बहुत ज़ोरदार बना दिया है। अंतिम पद 'तर्क' और 'श्रद्धा' से संबंध रखता है, परंतु कवि के कहने का ढंग कैसा प्रभाव-जनक है।

अब एक स्फुट पद की व्याख्या की जाती है जो हमें बहुत पसंद आया—

गुलशने-दहर[5] में अगर जूये[6]-मये[7]-सुख़न[8] न हो;

फूल न हो, कली न हो, सब्ज़ा न हो, चमन न हो।

---

[1]बदला। [2]ख़्वाहिश। [3]रक्षक। [4]अकेला। [5]संसार-वाटिका।
[6]नहर [7]शराब [8]काव्य

अर्थात् काव्य-मदिरा की नहर से सींचे जाने के कारण ही संसार-वाटिका की वास्तविक शोभा है, अन्यथा उस में फूलों, कलियों, हरी-भरी क्यारियों का होना न-होना बराबर ही होता। निस्संदेह कवियों ने अपनी स्वाभाविक सूक्ष्मदर्शिता से काम लेते हुए जिन अनेक आकर्षक रीतियों पर सांसारिक वस्तुओं का वर्णन किया है उन से उन वस्तुओं में जान सी पड़ गई है और उन की शोभा में वह मादक उल्लास उत्पन्न हो गया है जो सहृदय दर्शकों को विमुग्ध कर उन्हें आनंद-विभोर कर देता है। 'मै' का प्रयोग अत्यंत उपयुक्त है और कहने का ढंग कवि का अपना ढंग है जो अत्यंत काव्यो-पम है। संक्षेप मे यों समझ लीजिए कि संसार की शोभा 'वचन' से है और 'वचन' स्वतः 'काव्य' है।

'इक़बाल' ने प्रयागनिवासी स्वर्गीय 'अकबर' के रंग में भी कुछ रच-नाएँ की है जिन का मुख्य उद्देश्य है हास्य एवं व्यंग द्वारा उपदेश देना। पर सच बात तो यह है कि वैसा लिखना 'अकबर' का ही काम था जिन्हें उस अद्भुत, प्रभाव-जनक और सुरुचिपूर्ण शैली का आविष्कर्ता कहना बेजा न होगा। 'इक़बाल' ने कोशिश जरूर की परंतु न उतना कह सके और न उतना सफल हो सके। कुछ नमूने नीचे दे कर समाप्त करता हूँ। आशा है इन से पाठकों का मनोरंजन भी होगा और शिक्षण भी—

शेख़ साहेब भी तो पर्दे के कोई हामी नहीं,
मुफ़्त में कालिज के लड़के उनसे बदज़न[1] हो गए;
बाग़ में फ़र्मा दिया कल आपने यह साफ़-साफ़,
पर्दा आख़िर किस से हो जब मर्द ही ज़न हो गए।

* * *

तालीमे-मग़रबी[2] है बहुत जुरअत-आफ़रीं[3],
पहला सबक़ है बैठ के कालिज में मार डींग;

[1] सशंक [2] शिक्षा [3] साहसवर्धक

बसते हैं हिंद में जो ख़रीदार ही फ़क़त,
आग़ा भी ले के आते हैं अपने वतन से हींग।

❦ ❦ ❦

हिंदोस्ताँ में जुज़्वे[१] हुकूमत हैं कौसिलें,
आग़ाज़[२] है हमारे सियासी[३] कमाल[४] का;
हम तो फ़कीर थे ही, हमारा तो काम था,
सीखें तरीक़ा अब उमरा[५] भी सवाल[६] का।

❦ ❦ ❦

उठा कर फेंक दो बाहर गली में,
नई तहज़ीब[७] के अंडे हैं गंदे;
इलेक्शन[८], मेंबरी, कौंसिल, सिदारत[९];
बनाये ख़ूब आज़ादी ने फंदे।

---

[१] अंश। [२] प्रारंभ। [३] राजनीतिक। [४] उन्नति।
[५] रईस या धनी लोग। [६] प्रश्न; याचना। यहाँ सवाल का प्रयोग श्लेषात्मक है।
[७] सभ्यता; 'नई तहज़ीब' से अभिप्राय 'पाश्चात्य सभ्यता'। [८] निर्वाचन।
[९] अध्यक्ष पद

कबीर जी का समय

[लेखक—डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी, एम्० ए०, डी० एस्-सी० (लदन)]

कबीर जी के समय के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। उन को रामानंद का शिष्य मान कर कुछ विद्वानों ने उन का जन्म सन् १३९९ के लगभग माना है। किंतु डाक्टर फार्कुहर ने उन का जन्म सन् १४४० मे स्थिर करने का प्रयत्न किया है। इस लेख में उपर्युक्त दोनों मतों की विवेचना की जायगी। खेद है कि लेखक को प्रयाग मे वे सब ग्रंथ नहीं मिल सके जिन की सहायता की उस को आवश्यकता थी। किंतु जो कुछ सामग्री यहाँ प्राप्त हो सकी है उसी के आधार पर यह लेख लिखा गया है।

सब से मुख्य बात यह है कि कबीर जी के समय और उन के जीवन की घटनाओं का आधार जिन ग्रंथों पर है उन मे से कोई भी सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पहले का नहीं है। 'भक्तमाल', 'आईन-ए-अकबरी' और 'ग्रंथ साहब' की रचना सोलहवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण मे हुई थी। 'दबिस्ताने मजाहिब' सत्रहवीं शताब्दी के मध्य भाग मे, और 'भक्तमाल' पर प्रियादास की टीका अठारहवीं शताब्दी के पूर्व भाग में रची गई। गरीबदास जी ने अठारहवीं शताब्दी के मध्य अथवा उत्तर भाग में अपने ग्रंथ लिखे। और उस के पीछे 'कबीरकसौटी' और 'कबीरचरित्र' आदि ग्रंथों की रचना हुई। 'खजीनतुल असफ़िया' की रचना उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य मे हुई।

नाभादास जी ने कबीर का वर्णन केवल एक ही छप्पय में किया है जिस में उन के जन्म, मरण, निवासस्थान अथवा जीवन-घटनाओं का उल्लेख नहीं है। हाँ, रामानंद के शिष्यों में उन्हों ने कबीर का नाम अवश्य दिया है। अग्रस्वामी की 'रहस्यत्रय' की संस्कृत टीका में भी कबीर का नाम रामानद के

पंथियों ने भी कबीर को रामानंद का शिष्य लिखा है। हम इस स्थान पर यह विवाद छेड़ना नहीं चाहते कि कबीर रामानंद के शिष्य थे अथवा नहीं। कबीर के काल-विवेचन के संबंध में हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से कबीर और रामानंद जी का संबंध माना जाता है। संभव है कि उस समय के पहले भी जनश्रुति 'भक्तमाल' के कथन का समर्थन करती रही हो।

रामानंद और कबीर का संबंध मान लेने से कबीर के समय का कुछ अनुमान संभव है। किंतु रामानंद के समय के विषय में भी कुछ मतभेद है। डाक्टर फ़ार्कुहर ने उन का जन्म १४०० में इसलिए माना है कि उस से कबीर की आयु केवल ७८ वर्ष माननी पड़ेगी। सन् १२९९ मानने से कबीर की आयु १२० वर्ष माननी पड़ेगी जो फ़ार्कुहर साहब[1] मानने के लिये तैयार नहीं हैं। फ़ार्कुहर के मत का समर्थन सर चार्ल्स इलियट ने भी किया है किंतु रामानंद का जन्म डाक्टर भंडारकर और कार्पेन्टर ने १२९९ मे माना है। १२९९ और १४०० में एक शताब्दी का फ़र्क़ पड़ता है। अतएव डाक्टर फ़ार्कुहर के दिए हुए प्रमाणों पर विचार करना आवश्यक है।

डाक्टर फ़ार्कुहर ने पहला प्रमाण 'आदि ग्रंथ' का दिया है। उन्हों ने नामदेव का समय १४०० से १४३० तक डाक्टर भंडारकर के मतानुसार माना है। डाक्टर भंडारकर ने नामदेव के समय के निर्णय मे जो दो प्रमाण दिए हैं उन मे यदि दोनों नहीं तो एक तो अवश्य निर्बल है। प्रोफेसर रानाडे आदि नामदेव का जन्म १२७० और मृत्यु १३५० में मानते हैं। नामदेव का समय १४०० से १४३० तक मानने के लिये कोई पुष्ट प्रमाण फ़ार्कुहर साहब ने नहीं दिया और डाक्टर भंडारकर ने भी कोई स्पष्ट और दृढ़ प्रमाण नहीं दिया। अतएव यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती कि नामदेव पंद्रहवीं शताब्दी में थे।

दूसरा प्रमाण फ़ार्कुहर ने पीपा जी पर अवलंबित किया है। आप ने मेकालिफ़ साहब के बतलाए हुए सन को मान कर पीपा जी का जन्म १४२५

---

[1] जर्नल रायल एशियाटिक सोसाइटी, १९२०, पृष्ठ १८७

ई० मे मान लिया है। इस का कारण आप ने केवल यही लिखा है कि यह सन उन की धारणा मे पूरा मेल खाता है। किंतु यह कोई प्रमाण नहीं। आप ने कनिंगहम साहब के कथन पर कुछ विचार प्रकट नहीं किया। कनिंगहम ने गागरोन राज की वंशावली के आधार पर पीपा जी का समय १३६० से १३८५ के बीच माना है[1] अतएव पीपा जी को भी हम निश्चित रूप से पंद्रहवीं शताब्दी का नहीं कह सकते।

तीसरा प्रमाण फार्कुहर ने रैदास का दिया है। आप ने रैदास को मीराँ-बाई का गुरु लिखा है। आप के कथनानुसार मीराँबाई राणाकुंभ के ज्येष्ठ पुत्र की धर्मपत्नी थीं, और १४७० ई० मे चित्तौड़ छोड़ कर चली गई थीं। किंतु यह भी कथन किसी दृढ़ प्रमाण पर अवलंबित नहीं। गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा ने अपने उदयपूर के इतिहास मे मीराँबाई को राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र की बधू लिखा है और मीराँ का जन्म १४९८, विवाह १५१६, वैधव्य १५१८-२३ के बीच मे और देहांत १५४६ मे माना है। इस हिसाब से मीराँ बाई सोहलवीं सदी की ठहरती है न कि पंद्रहवीं की। यही नहीं मीराँ को रैदास का शिष्य 'भक्तमाल' में नहीं लिखा है। हाँ, प्रियादास ने किसी झाली रानी का उल्लेख अवश्य किया है किंतु यह नही सिद्ध है कि वह झाली रानी मीराँबाई ही थीं। अतएव जब तक मीराँ का समय तथा उन का रैदास की शिष्या होना निश्चित न हो जाय तब तक फार्कुहर साहब का तीसरा प्रमाण भी ग्राह्य नहीं हो सकता।

चौथा प्रमाण आप ने कबीर का आश्रय ले कर दिया है। आप कहते हैं कि यह निश्चित है कि कबीर की मृत्यु १५१८ ई० में हुई किंतु उन का जन्म आप १३९९ न मान कर रेवरेंड वेस्टकट, बर्न और टैगोर का दिया हुआ सन १४४० मानते हैं। इसलिये कि १४४० मानने से कबीर की आयु ७८ वर्ष की हो सकेगी जो १२० वर्ष के मुक़ाबले मे अधिक ग्राह्य है। किंतु यह

---

[1]आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, जिल्द २, पृष्ठ २९५-७ और जिल्द ६, पृष्ठ १११।

नहीं समझ में आता कि कबीर की मृत्यु १५१८ में कैसे निश्चित हुई। क्या सिकंदर लोदी के संबंध और जन-श्रुति द्वारा ही मृत्यु की तिथि निश्चित हुई। वेस्टकट और की साहब ने इस विषय की विवेचना नहीं की। यदि 'खज़ीनतुल असफ़िया' का प्रमाण माना जाय तो कबीर की मृत्यु १५९४ में हुई किंतु यह कथन ठीक नहीं हो सकता। 'भक्तमाल', 'आईन', प्रियादास की टीका और 'दबिस्ताँ' में तो मृत्यु का संवत् नहीं मिलता। अतएव कबीर की सहायता से रामानंद के काल का निरूपण उचित और संतोषजनक नहीं जान पड़ता।

कबीर के समय के निर्णय में सिकंदर लोदी का भी प्रमाण दिया जाता है। कुछ जन-श्रुतियों के अनुसार सिकंदर ने कबीर को अनेक कष्ट दिए किंतु वह कबीर का बाल भी बाँका न कर सका। सिकंदर को उस के गुरु शेख तकी ने कबीर के दमन के लिये उत्तेजित किया था। सिकंदर लोदी का राजत्व-काल १४८७-८८ से १५१७ तक था। यदि जनश्रुति विश्वसनीय है तो कबीर का इसी समय में होना सिद्ध हो जायगा। किंतु सिकंदर और कबीर के संबंध की जन-श्रुतियाँ निम्नलिखित कारणों से विश्वसनीय नहीं जान पड़तीं।

कबीर और सिकंदर लोदी के संबंध का उल्लेख 'भक्तमाल', 'आईन', 'अख़बारुल अख़ियार', 'दबिस्ताँ' में नहीं मिलता। इस के अलावा 'वाक़यात मुश्ताक़ी', 'तारीख़ दाऊदी', 'तारीख खानजहाँ लोदी', निजामुद्दीन, बदायूनी और 'तारीख़ फ़िरिश्ता' आदि, जिन के आधार पर सिकंदर का विश्वसनीय इतिहास लिखा जाता है उन के संबंध का उल्लेख नहीं करते। संभव है कि कोई यह कहे कि 'भक्तमाल' में स्थानाभाव से उस का उल्लेख नहीं किया गया और अन्य ग्रंथ मुसलमानों ही ने लिखे हैं जो या तो सुलतान की दमन-नीति के विषय को छिपाना चाहते थे या सुल्तान की पराजय का वर्णन करना नहीं चाहते थे। किंतु ये दोनों शंकाएँ अनुचित हैं। सिकंदर की दमन-नीति की कुछ लोगों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। और सिकंदर के प्रतिकूल बातों का भी उल्लेख हुआ है।

इस के अलावा तक़ी नामक किसी शेख़ का सिकंदर का गुरु माना जाना किसी मौलिक इतिहास में नहीं मिलता सिकंदर ने अपने पीर का एक स्थान में

संकेत किया है। 'तारीख़ दाऊदी' के अनुसार वे जलेसर के पास किसी स्थान में रहा करते थे। जलेसर के आस-पास रहने वाले किसी शेख़ तक़ी का उल्लेख मुझे अभी तक नहीं मिला। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के किसी भी विश्वसनीय लेखक ने सिकंदर के संबंध में रामानंद, कबीर या शेख़ तक़ी का वर्णन नहीं किया है। प्रियादास ने ही जो अठारहवीं शताब्दी के पूर्व भाग में हुए इस जनश्रुति का पहले पहल उल्लेख किया है। किंतु उन के कथन के आधार का कुछ पता नहीं चलता। क्या वे जनश्रुतियाँ जिन का प्रियादास ने आश्रय लिया है सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में प्रचलित न थीं ? और यदि थीं तो उन से उस समय के लेखकों ने क्यों लाभ नहीं उठाया ? क्या वे उन पर विश्वास नहीं करते थे अथवा वे प्रचलित ही नहीं थीं ?

मानिकपुर के शेख़ तक़ी का वर्णन 'अख़बारुल अख़ियार' में अवश्य मिलता है किंतु वह बहुत थोड़ा है और उस में न उन का समय और न सिकंदर अथवा कबीर से संबंध का उल्लेख है। 'ख़ज़ीनतुल असफ़िया'[१] में उन की मृत्यु का सन् १५७४-७५ दिया हुआ है। किंतु वेस्टकट साहब को इस सन की सत्यता में संदेह है। उन्हों ने 'आईन-ए-अवध' का हवाला देकर लिखा है कि तक़ी मानिकपुरी के गुरु ख़्वाजा कड़क थे जिन की मृत्यु सन् १३०५ में हुई थी। इस हिसाब से संभवतः शेख़ तक़ी चौदहवीं शताब्दी में होंगे। वेस्टकट साहब के कथन का पुष्ट प्रमाण मुझे नहीं मिला।

चौदहवीं सदी में तक़ी का होना वेस्टकट साहब के अनुमान के प्रतिकूल था अतएव उन्हों ने झूँसी के किसी शेख़ तक़ी का आश्रय ले कर कहा कि शायद कबीर के तक़ी यही झूँसी वाले तक़ी होंगे। किंतु उन्हों ने जो कुछ झूँसी के तक़ी के विषय में लिखा है उस की सामग्री उन को शाह फ़िदा हुसेन सरकार पेंशनर से मिली थी। शाह साहब ने अपना कथन किन प्रमाणों के आधार पर किया है उन का मुझे अभी तक पता नहीं चला आशा है कि

जैसा कि वे अपने माली बुद्धूदास पर किया करते थे। मौलिक प्रमाण न होने के कारण इस झूँसी वाले तक़ी पर इसलिये भरोसा नहीं कर सकते कि जन-श्रुतियाँ और फारसी के कुछ पोछे के लेखक मानिकपूर के ही तक़ी का कबीर से संबंध बताते हैं। झूँसी के तक़ी की मृत्यु सन् १४२९ में मानी जाती है। इस सन् को मानने से कबीर को सिकंदर का समकालीन मानना कठिन होगा कारण यह है कि यदि कबीर तीस वर्ष के थे जब वे तक़ी से मिले थे तो कबीर की अवस्था सन १४२९ के पहले ही तीस वर्ष की होगी। यदि आप उन को सिकंदर का समकालीन कहें तो जब वह सिंहासनारूढ़ हुआ कबीर कम से कम ८८ वर्ष के होंगे। यद्यपि यह नितांत असंभव नहीं किंतु सुग्राह्य नहीं कहा जा सकता। इस में मतभेद की गुंजाइश भले ही हो पर ऐतिहासिकों का मतावैक्य इस के अनुकूल न होगा। उपर्युक्त शंकाओं के कारण भी झूँसी के तक़ी का आश्रय लेना उपयोगी नहीं प्रतीत होता।

इस विषय को छोड़ने के पहले एक और विषय भी विचारणीय है। सिकंदर के समय में धार्मिक दमन की नीति प्रबल थी। अतएव उस के द्वारा कबीर जी का पीड़ित होना ही दोनों के समकालीन होने का प्रमाण कहा जा सकता है। किंतु इस प्रमाण में जोर इसलिए अधिक नहीं जान पड़ता कि यह तो काकतालीय न्याय की तरह ही है। इस भावनात्मक अनुमान के लिये कोई पुष्ट प्रमाण ही नहीं है। इस के अतिरिक्त यह भी मानना कुछ सरल नहीं कि प्रबल धार्मिक दमन के समय कबीर जी ने अपना क्रांतिकारी प्रचार किया हो और फिर भी इतने वर्ष जीते जागते रहे हों। उस से तो अधिक धार्मिक प्रचार की संभावना तब हो सकती है जब धार्मिक दमन करने वाली राजनैतिक शक्ति या तो अतीव उदार हो या ऐसी निर्बल हो गई हो कि वह अपनी आज्ञाओं का पालन न करा सके। यह दशा सिकंदर के समय में तो थी नहीं और शासन के अतीव उदार होने का भी कोई प्रमाण नहीं; अतएव शंका के लिये स्थान है। हाँ, सन् १३६० से ले कर कुछ वर्षों तक रही अर्थात कम से कम १३९४ तक तो रही ही होगी। ये चालीस वर्ष पूर्व देश में क्रांति के थे। इस का जोर शरक़ी वंश के स्थापन के बाद अवश्य कुछ कम हो गया होगा किंतु गई

वह कम से कम एक वर्ष तो जारी ही रहा। सारांश यह है कि सन् १३६० से चौदहवीं शताब्दी के अंत तक राजनीतिक क्रांति और धार्मिक क्रांति साथ साथ चलती रहीं। मेरे कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि मैं कबीर जी तथा अन्य संतों के आत्म-त्याग के विषय में संदेह करता हूँ। मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि प्रबल प्रचारक और प्रबल प्रचार के लिये चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध ही सब से उपयुक्त समय था। उपर्युक्त अनुमान चाहे संतोषजनक न हो किंतु यह अनुमान सिकंदरकालीन अनुमान से अधिक सहज और सुग्राह्य है।

कबीर जी के समय के निश्चित करने में रामानंद जी का सहारा लिया जाता है। जैसा पीछे लिखा जा चुका है सोलहवीं शताब्दी से तो अवश्य यह जनश्रुति प्रचलित थी कि कबीर जी रामानंद जी के शिष्य थे। हिंदी और फ़ारसी के लेखक इसी मत का समर्थन करते हैं। इस पर हम इस लेख में अधिक विचार न करके केवल इतना कहना चाहते हैं कि रामानंद और कबीर का समकालीन होना बहुत संभव है, चाहे कबीर रामानंद जी के शिष्य रहे हों या न रहे हों। रामानंद जी जिस आंदोलन के नेता थे उस का स्पष्ट प्रभाव कबीर जी के ग्रंथों में मिलता है। किंतु आश्चर्य यह है कि उन्हों ने रामानंद जी का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं किया। अयोध्यासिंह जी उपाध्याय ने, 'काशी में हम प्रगट भये हैं रामानंद चेताए' वाक्य को उद्धृत किया है। किंतु उस प्रमाण का निराकरण बाबू श्यामसुंदरदास जी ने 'कबीर-ग्रंथावली' की भूमिका में कर दिया है। नागरी-प्रचारिणी द्वारा प्रकाशित 'कबीर-ग्रंथावली' में मुझे कहीं भी रामानंद जी का उल्लेख नहीं मिला। हाँ, बाबू बालगोविंद मिस्त्री ने इंडियन प्रेस, प्रयाग से बीजक का जो संस्करण प्रकाशित किया है उस में पृष्ठ २१६ पर 'रामानंद रामरस माते। कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके' मिलता है किंतु यह रामानंद शब्द संभवतः नामवाची नहीं है क्योंकि न तो प्रसंग से ही प्रतीत होता है और न गुरुमुख टीका में ही यह नामवाची माना गया है। 'गुरु ग्रंथ साहब' में जो कबीर की वाणी है और जिसे 'ग्रंथावली' में परिशिष्ट रूप में प्रकाशित किया है उस में भी रामानंद जी का उल्लेख नहीं है कबीरदास जी

ने गुरु की प्रशंसा अनेक स्थलों पर की है। किंतु यह नहीं बतलाया कि उन के गुरु कौन थे। अतएव केवल रामानंद के समय के सहारे कबीर जी का समय निर्धारण करना पर्याप्त न होगा। इस कथन से यह आशय न समझना चाहिए कि रामानंद के समय से कबीर के समय पर कुछ प्रकाश ही नहीं पड़ता।

रामानंद के अलावा कबीर जी ने अन्य व्यक्तियों का भी इतस्ततः उल्लेख किया है। उन में जयदेव, गोरखनाथ और नामदेव जी का उल्लेख अनेक बार किया गया है। अतएव उन नामों से भी सहायता लेना सर्वथा उचित है।

जयदेव कौन थे? एक जयदेव तो सुप्रसिद्ध 'गीतगोविंद' के रचयिता थे, जो बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के समय में थे। लक्ष्मणसेन का समय बारहवीं शताब्दी का अंतिम भाग माना जाता है। दूसरे जयदेव 'चंद्रालोक' के प्रणेता, नाटककार और नैयायिक हैं। 'भक्तमाल' में भी दो जयदेव का उल्लेख है। उन में से एक तो 'गीतगोविंद' के रचयिता ही हैं, और दूसरे जयदेव के विषय में कुछ भी नहीं बतलाया गया। 'गीतगोविंद' के जयदेव का वर्णन अनेक भक्तों ने किया है अतएव यह अत्यंत संभव है कि कबीर आदि महात्माओं ने भी उन्हीं का संकेत किया हो। यदि यह धारणा सत्य है तो कबीर जी बारहवीं शताब्दी के बाद ही हुए होंगे।

दूसरा नाम गोरखनाथ का आया है। गोरखनाथ का भी नाम बहुत प्रसिद्ध है। किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि गोरखनाथ नाम के एक ही अथवा एक से अधिक व्यक्ति थे। संभवतः सुप्रसिद्ध गोरखनाथ एक ही व्यक्ति होंगे। उन के नाम के साथ प्रायः मत्स्येंद्रनाथ अथवा मुछंदरनाथ का भी नाम लिया जाता है। इन दोनों की चर्चा हिंदुओं और मुसलमानो ने भी की है। ज्ञानेश्वर जी ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'ज्ञानेश्वरी' में जिस की रचना सन् १२९० में मानी जाती है, अपनी गुरु परंपरा का उल्लेख किया है जिस में गोरखनाथ को मत्स्येंद्रनाथ का शिष्य लिखा है। उन के अनुसार मत्स्येंद्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ, गोरखनाथ के शिष्य गहिनी या गैनीनाथ, जिन के शिष्य निवृत्तिनाथ, निवृत्तिनाथ के शिष्य ज्ञानदेव जी थे इस परपरा के अनुसार ज्ञानदेव

से तीसरी पीढ़ी में गोरखनाथ थे। ज्ञानदेव तेरहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में हुए थे अतएव यह मानना अनुचित न होगा कि गोरखनाथ तेरहवीं शताब्दी के पूर्व अथवा मध्य भाग में होंगे। ज्ञानदेव का उल्लेख नामदेव जी ने परलोकवासियों में किया है। अतएव यह स्पष्ट है कि कबीर जी तेरहवीं शताब्दी में नहीं हो सकते। वे गोरखनाथ और ज्ञानदेव के पश्चात् अर्थात् तेरहवीं शताब्दी के बाद ही हुए होंगे। हम यह पीछे लिख आए हैं कि नामदेव को चौदहवीं शताब्दी के बाद मानने के लिये कोई पुष्ट प्रमाण नहीं। उन को चौदहवीं शताब्दी में न मानने का कोई विशेष कारण नहीं जान पड़ता।

कबीर संप्रदाय की एक जनश्रुति के अनुसार 'कबीरसागर' में उन का नामदेव से मिलना भी लिखा है। खेद है कि हम इस कथन को असंभव नहीं मानते हुए भी उस पर पूर्ण विश्वास नहीं कर सकते। कारण यह है कि 'कबीरसागर' में कबीर जी का सतयुग से कलियुग तक अनेक रूप धारण करने, मोहम्मद, गोरखनाथ आदि से मिलने का भी उल्लेख है। किंतु यदि हर एक कथन को पृथक् पृथक् जाँचें तो संभवतः नामदेव का काल कबीर के समय से अत्यंत निकट ही होगा। 'कबीरसागर' के चौथे खंड में बीरसिंह बोध है। बीरसिंह बोध में लिखा है कि बीरसिंह देव बघेल राजा ने कबीर को अपना गुरु बनाया। राजा ने उन को उस अवसर पर एक भोज दिया जिस में नामदेव भी उपस्थित थे। भोजन के उपरांत नामदेव और कबीर में धर्मचर्चा छिड़ी। नामदेव ने पूछा—

> कहहु कबीर मोहि समुझाई,
> कहँ तव गुरू शब्द कित पायी।
> साहिब कौन सबन के पारा,
> मोसे कहहू बचन बिचारा।
> साहिब कौन जाहि तुम ध्याओ,
> कहवाँ मुक्ति सुरति कित लाओ।
> कौन भाँति यम से जिव बाँचे,
> भिन्न भिन्न कहहू मोहि साँचे।

आप न समझो बोधो राजा,
राम बिना होय जीव अकाजा।
केतो पढ़ै गुनै अरु गावै,
बिन हरिभक्ति पार नहिं पावै।

उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार दिया है—

नामदेव भूले तुम जैसे,
हमको मति जानहु तुम तैसे।
निर्गुण पुरुष आहि यक आना,
अस्तुति ताकर वेद बखाना।
शिव ब्रह्मा नहिं पावहिं पारा,
और जीव है कौन बिचारा।

छंद—नित्य निगम अस्तुति अराधै हारि थके विरंच महेश हो।
सबै ऋषि देव अस्तुति रावई तेहि गावत सुरपति शेष हो॥
जेहि गावत नारद शारदादि पार कोई ना लहे।
सोई भेद सतगुरु गावही कोई संत ज्ञानी चित गहे॥

सोरठा—पूजहिं हरि हर देव, जड़ मूरति पूजत बहे।
निशि दिन लावत सेव, जो रक्षक भक्षक अहै॥

नामदेव तब सुनत लजाने।
नहिं पाये भेद मनहिं पछताने॥
सुनि लजाय के उठि सो गयऊ।
राजा तबहिं कहत अस भयऊ॥

इस जनश्रुति पर विश्वास न करने के अन्य कारणों में एक यह भी है कि इस से यह स्पष्ट नहीं कि इस के नामदेव वही महात्मा हैं जिन का महाराष्ट्र में ही नहीं किंतु उत्तर भारत में भी बहुत आदर हुआ था। यद्यपि यह असंभव भी नहीं कहा जा सकता।

सारांश यह है कि कबीर जी का पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में और सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में होना हमारे मत से ग्राह्य नहीं हो सकता यदि

रामानंद का जन्म १२३९ में मान लिया जाय तो उन का काल चौदहवीं शताब्दी मानने में कोई कठिनाई नहीं। कबीर जी का रामानंद जी से संबंध संभवतः तब हुआ होगा जब कि उन का महत्त्व बहुत बढ़ गया होगा। इस धारणा के अनुकूल कबीर जी रामानंद जी से चौदहवीं शताब्दी के मध्य भाग में या उस के बाद ही मिले होंगे जिस समय कबीर जी रामानंद जी से मिले होंगे उन की अवस्था कम रही होगी क्योंकि जनश्रुति ऐसा ही कहती है। यदि यह अनुमान ठीक है तो कबीर जी का जन्म चौदहवीं शताब्दी के मध्यकाल में हुआ होगा।

चौदहवीं शताब्दी के मध्यकाल में कबीर का जन्म मानने से वे पीपा जी के समकालीन हो सकते हैं। यह हम लिख चुके हैं कि जनरल कनिंगहम ने पीपा जी का समय १३६० से १३८५ तक माना है। अतएव यह स्पष्ट है कि पीपा जी भी चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में और नामदेव भी यदि उन के समकालीन नहीं तो अत्यंत निकट ठहरेंगे, क्योंकि उन का समय भी चौदहवीं शताब्दी के मध्य काल में माना जाता है। इस के अलावा ख्वाजा कड़क के शिष्य शेख तक़ी मानिकपूरी भी 'आईन-ए-अवध' में दिए हुए सन के अनुसार चौदहवीं शताब्दी में आते हैं। यह हम स्पष्ट कह देना उचित समझते हैं कि 'आईन-ए-अवध' के उल्लेख पर अन्य प्रमाण न होने के कारण पूरा विश्वास करना कठिन है।

चौदहवीं शताब्दी के मध्य काल से तुग़लक वंश का पतन आरंभ होता है। फ़ीरोज़ तुग़लक जब बंगाल से निष्फल लौटा और बंगाल स्वतंत्र हो गया तब उस का प्रभाव पूर्व देश में ऐसा पड़ा कि वहाँ भी शासन अस्त-व्यस्त हो गया। हिंदू राजे प्रबल हो गए और साम्राज्य के विरोध में कटिबद्ध हो गए। इसी हिंदू क्रांति के अवसर पर रामानंद आदि धार्मिक क्रांति के नेता हुए थे।

इस संबंध में एक और बात विचारणीय है। फ़ैज़ाबाद के एक सुशिक्षित सज्जन मुझ से आ कर मिले थे—खेद है कि मुझे उन का नाम स्मरण

आधार पर लिखे थे जिस में रामानंद जी का जीवनचरित्र है। मूलपुस्तक, वे कहते थे कि, अयोध्या के किसी रामानंदी महात्मा के पास है। मूलपुस्तक की भाषा भी कुछ ऐसी थी कि वह साधारणतया समझ में नहीं आती। उन्हों ने बड़े परिश्रम से उस का छायानुवाद किया था। मैं ने उन के लेखों को सरसरी दृष्टि से पढ़ा। उस समय कबीर पर कुछ लिखने का विचार मेरे मन में न था इस लिये मैं ने उस से नोट नहीं लिए। यदि यह लेख पढ़ने वालों में से उन सज्जन का पता कोई जानते हों या उन महात्मा जी का जिन के पास मूलपुस्तक है पता जानते हों तो कृपा कर मुझे सूचना भेज कर अनुगृहीत करें।

उस लेख में एक स्थान पर यह उल्लेख था कि रामानंद जी उस समय विद्यमान थे जब तैमूर ने भारत पर आक्रमण किया। तैमूर का आक्रमण सन् १३९८ में हुआ। उस समय रामानंद जी बहुत वृद्ध हो गए होंगे। मैं यह नहीं कह सकता कि यह कथन कहाँ तक सत्य है। इस का निर्णय तो शायद मूलपुस्तक की परीक्षा करने पर ही हो सकेगा। किंतु रामानंद जी का तैमूर का समकालीन होना उपर्युक्त विवेचना के अनुकूल अवश्य प्रतीत होता है।

सारांश यह है कि कबीर का समय चौदहवीं शताब्दी का उत्तर काल और संभवतः पंद्रहवीं शताब्दी का पूर्वकाल मानना अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है। सिकंदर लोदी के समय में उन का होना सर्वथा संदिग्ध है। केवल जनश्रुतियों के आधार पर ही ऐतिहासिक तथ्य स्थिर नहीं हो सकता। मैं अभी इस विषय का अध्ययन कर रहा हूँ अतएव मैं यह नहीं कह सकता कि मेरी सांप्रतिक धारणा ठीक ही है। संभव है कि विद्वज्जन का ध्यान इस विषय की ओर आकर्षित हो और वे नया प्रकाश डालने का प्रयत्न करें। कबीर जी के समय का निर्णय होना भारतीय सभ्यता और इतिहास के सेवकों के लिये अत्यंत आवश्यक है।

इलाहाबाद या इलाहाबास

[लेखक—श्रीयुत व्रजरत्नदास, बी० ए०, एल्-एल्० बी०]

प्रयाग के समाचार पत्र 'लीडर' में इधर एक लेख तथा कई नोट निकले हैं जिन में एक सज्जन ने यह प्रश्न उठाया है कि प्रयाग का इलाहाबाद नाम कब पड़ा और क्या इस का इस के पहिले इलाहाबास नाम था, जो बिगड़ कर या बिगाड़ा जा कर इलाहाबाद हो गया है। उपर्युक्त लेख के साथ एक फर्मान की प्रतिलिपि प्रकाशित हुई है, जिस मे इलाहाबास नाम है और जो बादशाह अकबर की ओर से उक्त स्थान के एक पुराने वंश को मिला है। यह फर्मान ९९५ हिज्री (सन् १५८७ ई०, सं० १६४४) का है। इस के दस ग्यारह वर्ष बाद के एक चाँदी के सिक्के पर का एक शैर उद्धृत कर दिखलाया गया है कि उस में इलाहाबाद प्रयुक्त हुआ है। उक्त ज़िले के पुराने रहने वाले तथा ग्रामीण लोग आज भी इलाबास कहते हैं, ऐसा लिखा गया है।

इस के अनंतर इस नाम की व्युत्पत्ति के विषय में तर्क किया गया है। यह नाम संस्कृत इल या इला शब्द से व्युत्पन्न है या सेमिटिक इलाही शब्द से, इस का निश्चय नहीं हो सका है। साथ ही यह भी दिखलाया गया है कि पुराने शहरों को मुसल्मानों द्वारा जो नाम दिए गए थे वे कभी प्रचलित नहीं हुए। उदाहरण के लिये मथुरा, वृन्दावन, बनारस आदि के इस्लामाबाद, मोमिनाबाद, मुहम्मदाबाद आदि नाम दिए गए हैं। ऐसी हालत मे मुसल्मानों द्वारा यदि इलाहाबाद नामकरण हुआ है, तो वह क्यों आज तक प्रचलित है, जब कि सर्वदा से यह हिंदुओ का नगर चला आया है। इस के अनंतर कुछ और तर्क-वितर्क किए गए हैं पर नामकरण के विषय में कुछ निश्चय नहीं हुआ है

मिस्टर आर० बर्न द्वारा उठाया गया था। उन्हों ने 'दि सिट्स अव् दि मुग़ल एम्परर्स' शीर्षक लेख में अकबर बादशाह के ताम्र-सिक्को का उल्लेख करते हुए लिखा है, "सिक्के पर की खुदाई स्पष्टतः الہاباس है और الهاباس नहीं है, जिस से उसे आल्हाबास या अल्हाबास पढ़ना चाहिए, इलाहाबास नहीं। 'आईन अकबरी' में (जैरेट का अनुवाद, जि० २ पृ० १५८) लिखा है 'इलाहाबाद, जो प्राचीन समय से प्रयाग कहलाता था, वह सम्राट् द्वारा पहिले नाम से प्रसिद्ध हुआ।' अन्य स्थानों में यह इलाहाबास ही लिखा गया है।" इस के बाद बीम्स की यह सम्मति उद्धृत की गई है कि अकबर ने इलाहाबाद ही नाम दिया था जो बिगड़ कर जन साधारण में इलाहाबास हो गया है। उक्त सज्जन ने इस के अनंतर इस की व्युत्पत्ति यों बतलाई है कि 'बास का प्रयोग असाधारण नहीं है और नाम के प्रथम अंश से उत्तरी भारत के प्रसिद्ध वीर आल्हा का नाम ज्ञात होता है। इस का समर्थन यों भी होता कि दोआब में आल्हाबास या इलाहाबास नाम के कई ग्राम हैं।'

तात्पर्य यह कि यह प्रश्न बहुत दिनों से उठा हुआ है और इसलिये प्रत्येक मनुष्य का, जिसे इस प्रकार के अन्वेषण से प्रेम हो, इस विषय में अपनी सम्मति देना आवश्यक है। इसी विचार से यह लेख प्रस्तुत किया गया है।

ईस्वी सन् के आरंभ होने के बहुत पहिले वाल्मीकीय रामायण की रचना हुई थी, इसलिये उस में प्रयाग की जो स्थिति दी गई है वह विचारणीय है। रामचंद्र अयोध्या से विदा होने पर अपनी पत्नी सीता तथा भ्राता लक्ष्मण के साथ तमसा, वेदश्रुत, गोमती और स्यंदिका नदियों को पार कर कोशल राज्य की सीमा के बाहर चले आए और यहाँ से गुहराज के वन्यप्रदेश को पार करते हुए गंगा जी के किनारे उतरे और वत्स्यदेश में पहुँचे। ध्यान रखना चाहिए कि इसी वत्स्यदेश में कौशांबी नगरी है, जहाँ का वत्स राजवंश प्रसिद्ध है। गंगा के दक्षिण तट पर वृक्ष तले रात्रि व्यतीत कर सुबह होते ही 'यत्र भागीरथीं गङ्गां यमुनाभिप्रवर्तते', जहाँ भागीरथी गंगा से यमुना मिली है, वहाँ जाने के लिये वे सघन वन के बीच से हो कर चले

दिन भर चलने के बाद रामचंद्र जी को भरद्वाज का आश्रम तथा संगम का शब्द सुनाई दिया था और बीच में उन्हें सिवा वन के और कुछ नहीं मिला था। तात्पर्य यह कि यदि एक दिन में रामचंद्र जी सस्त्रीक तीन चार कोस चले तो संगम से इतने दूर से कुछ अधिक ही पश्चिम तक कोई बस्ती इन्हें नहीं मिली थी। अस्तु, वे ऋषि के आश्रम में गए। ऋषि जी संगम की प्रशंसा करते हैं कि—

'अवकाशो विविक्तोऽयं महानद्यो समागमे।
पुण्यश्च रमणीयश्च वसत्विह भवान्सुखम्॥

'यमुना और गंगा इन दोनों नदियो का संगम-स्थान बड़ा ही एकांत पवित्र और रमणीय है; आप सुख पूर्वक यहाँ निवास करें।' ऋषि के वचन से भी बस्ती की ध्वनि नहीं निकलती।

इस लेख में तत्कालीन संगम-स्थल की स्थिति का निर्णय करना आवश्यक नहीं है। इस के लिये इतना ही बहुत है कि वाल्मीकि जी के समय में गंगा-यमुना का संगम आज के संगम-स्थल से कई कोस पश्चिम हट कर था। उस समय वहाँ कोई नगर नहीं बसा हुआ था और वह केवल दो पवित्र नदियों के संगम का स्थान होने के कारण सुप्रसिद्ध तीर्थस्थान कहलाता था। आदि-कवि के समय त्रिवेणी भी उस का कदाचित् नाम नहीं पड़ा था, क्योंकि उस का इन उद्धरणों मे कहीं भी उल्लेख नहीं है।

संस्कृत का एक श्लोक बहुत प्रसिद्ध है, जिस में समग्र भारत की सात पवित्र नगरियों का नामोल्लेख हुआ है। श्लोक इस प्रकार है—

अयोध्या मथुरा माया काशी कांची ह्यवंतिका।
पुरीद्वारावतीश्चैव सप्तैतामोक्षदायिका॥

प्रयागराज के चारों ओर के तीर्थ-स्थानों का उल्लेख इस श्लोक में केवल उन के पुरी होने के कारण हुआ है और इस से तीर्थराज प्रयाग का इस मे उल्लेख न होना उस के पुरी न होने का स्पष्ट द्योतक है. और वाल्मीकीय के विवरण का समर्थन करता है

भग्नावशेष आज झूँसी के नाम से पुकारा जाता है वह इल राजा का बसाया हुआ कहा जाता है। बाद को पुरूरवा तथा उस के वंश की यह राजधानी रही। राजा युधिष्ठिर के समय भी इस नगर के होने का उल्लेख है। गुप्तकाल तक यह नगर प्रसिद्ध रहा है, पर हूणों के आक्रमण से गुप्त राज्य के ध्वस्त हो जाने पर यह नगर भी खंडहर हो गया और आज भी वह उसी दशा में है। इसी के ध्वंस होने के बाद दो प्रबल धाराओं के बीच में विख्यात तीर्थस्थान में जहाँ तीर्थ-पंडे फुटफट बसे हुए थे यहाँ के कुछ निवासी बस गए जिस से बस्ती बढ़ने लगी और समय पा कर एक अच्छा नगर बस गया होगा।

संगम पर नगर होने का उल्लेख पहिले पहल चीनी यात्री युएनच्वांग के यात्रा-विवरण में मिलता है। इस के पहिले सन् ३९९ ई० में फाहियान नामक प्रसिद्ध चीनी यात्री भारत में आया था और इस ने भी अपना यात्रा-विवरण लिखा है। वह लिखता है कि 'पत्तन मृगदाव विहार (काशीस्थ वर्तमान सारनाथ) से पश्चिमोत्तर १३ योजन पर कौशांबी नामक जनपद है। विहार का नाम गोत्तीर वन है..... ।' वर्तमान प्रयाग कौशांबी के पूर्व और काशी के पश्चिम है और दोनों का उल्लेख करते हुए भी बीच के प्रयाग नगर का उल्लेख न होना उस के वर्तमान न रहने ही के अनुमान का पोषक है।

युएनच्वांग के समय के बहुत पहिले वर्तमान प्रयाग के बहुत ही आस-पास दो दो प्रसिद्ध राजधानियाँ थीं, जिन में एक प्रतिष्ठानपुर तथा दूसरी कौशांबी थी। एक गंगा के तथा दूसरी यमुना के उत्तरी तट पर स्थित थी। ऐसी अवस्था में दोनों के पास तीसरे नगर का न होना ही अधिक संभव है। इन दोनों नगरों के नष्ट होने ही पर तीर्थराज की बस्ती बढ़ कर नगर हो गई।

युएनच्वांग गंगा के तट ही तट कन्नौज से प्रयाग आया था। उस के अनुसार प्रयाग नगर दोनों नदियों के संगम पर बसा हुआ था पर उस के पूर्व लंबा रेतीला मैदान था। बस्ती के बीच एक मंदिर था, जिस के एक कमरे में बहुत बड़ा वृक्ष था। इस के नीचे प्रायः भक्त लोग मुक्ति के लिये प्राण देते थे। यह वृक्ष वर्तमान अक्षयवट हो सकता है। यह यात्री सम्राट् हर्षवर्धन के निमंत्रण पर प्रयाग आया था इस सम्राट् ने यह नियम बना रक्खा था कि प्रति

पाँच वर्ष बाद वह प्रयाग क्षेत्र में आ कर कोष में एकत्र हुए तथा अन्य समग्र राजसी सामान आदि को बौद्ध भिक्षुओं, ब्राह्मणों तथा अन्य गरीबों में बाँट दे। सन् ६४३ ई० में प्रयाग आते समय सम्राट् ने इस यात्री को भी इस सुकार्य में भाग लेने के लिए निमंत्रित किया था। सम्राट् के साथ उस के सभी मांडलिक गण, सर्दार आदि थे और प्रायः कई लक्ष दान लेने वाले एकत्र हो गए थे। आज कल के कुंभ के मेले से उस समय का दृश्य विशेष वैभवपूर्ण रहा होगा। ऐसी हालत में यदि विदेशी-यात्री को प्रयाग की साधारण बस्ती नगर ज्ञात हुई हो तो कोई आश्चर्य नहीं। तब भी यह निश्चय है कि उक्त यात्री के समय में प्रयाग में बस्ती अवश्य बस गई थी, जो क्रमशः बढ़ती गई।

इस के अनंतर अबू रैहाँ ने प्रयाग का उल्लेख किया है। यह सन् १०१२ ई० में महमूद गज़नवी के अधीन हुआ और उस के साथ भारत आया। इस ने यहाँ बहुत दिनों तक रह कर संस्कृत का अध्ययन किया तथा यात्राएँ की। सन् १०४८ ई० में यह मरा था। इस विद्वान् ने भारत पर एक पुस्तक लिखी है, जिस में उस ने एक स्थान पर लिखा है कि क़न्नौज से गंगा-यमुना दोनों नदियों के बीचो-बीच दक्षिण की ओर जाने वाला मनुष्य निम्नलिखित प्रसिद्ध प्रसिद्ध नगरों में से गुज़रेगा। जज्जमौ, जो कि क़न्नौज से १२ फ़र्सख है, एक फ़र्सख चार मील या एक कुरोह के बराबर होता है, अभापुर ८ फ़र्सख; कुरह ८ फ़र्सख; बर्हमाशिल ८ फ़र्सख; प्रयाग का वृक्ष १२ फ़र्सख अर्थात् वह स्थान जहाँ जौन और गंगा का संगम है।' यहाँ भी प्रयाग का वृक्ष तथा संगम ही इस विदेशीय यात्री को उल्लेखनीय ज्ञात हुआ, नगर नहीं। तात्पर्य यही कि उस समय तक भी वह बस्ती नगर कहलाने योग्य नहीं थी। रशीदुद्दीन ने इसी यात्री के विवरणों से सहायता ले कर स्वरचित 'जामेउत्तवारीख़' में लिखा है कि 'प्राग का वृक्ष जमुना और गंगा के संगम पर है।'

मुसल्मानों का भारत में राज्य स्थापित होने पर जब उस का विस्तार प्रयाग तक पहुँचा था तब कड़ा में ही बादशाही फ़ौजदार के रहने का स्थान नियत हुआ था। इसी के सामने गंगा में अलाउद्दीन ने अपने चचा का सिर काटा था यह स्थान हिंदुओं का तीर्थ है तथा यहाँ एक प्राचीन क़िला भी है 'यहाँ

उस काल के इतने मस्जिद, ईदगाह, मजार आदि हैं कि यह पुरानी दिल्ली की याद दिलाता है।' यहाँ तेरहवीं शताब्दी ईसवी की मुसल्मानी इमारतें मौजूद हैं; पर इस के खिलाफ वर्तमान इलाहाबाद में अकबर से पहिले की शायद ही कोई मुसल्मानी इमारत मिले। 'कड़ा का अवनति-काल सन् १५५५ ई० से आरंभ होता है, जब वहाँ से अकबर ने बादशाही वास-स्थान हटा कर इलाहाबाद में भेज दिया था।'

मुसल्मानों की प्राचीन इमारतों का जिक्र करते हुए हिंदुओं की भी कुछ प्राचीन इमारतों का विचार कर लेना चाहिए। युएनच्वांग ने वट-वृक्ष वाला मंदिर तथा कई संघाराम का उल्लेख किया है। वट-वृक्ष आज भी मौजूद है पर वह मंदिर मिट गया है; कदाचित् उस की सामग्री क़िले बनवाने में लग गई हो। यह वृक्ष ही मुसल्मानों द्वारा काटा गया था, उस हालत में मंदिर का बचना असंभव था। संघाराम भी साधारण थे, जिन के अब चिन्ह नहीं बचे। अशोक की लाट को छोड़, बौद्धकालीन एक भी चिन्ह प्राप्त नहीं हुए हैं। हिंदुओं के यावत् मंदिर, जो आज वर्तमान हैं, अकबर के समय से प्राचीनतर नहीं हैं। इस लाट में अशोक, समुद्रगुप्त तथा जहाँगीर तीन सम्राटों के लेख हैं। इस का एक लेख कौशांबी के राजा को संबोधित कर खुदा हुआ है, इस से यह निश्चय है कि पहिले-पहल यह कौशांबी में ही था। समुद्रगुप्त के समय यह कदाचित् मुक्तिक्षेत्र प्रयाग में वट-वृक्ष के पास लाया जा कर खड़ा किया गया हो या बाद को। युएनच्वांग ने इस का कुछ भी उल्लेख नहीं किया है। इस कारण इस लाट का प्रयाग में होना कुछ स्पष्ट नहीं जान पड़ता।

पूर्वोक्त सब विचारों से यही निश्चय होता है कि प्रयाग प्राचीनतम काल से गुप्त काल तक नगर क्या साधारण बस्ती तक भी न था। उस के बाद यहाँ कुछ लोग प्रतिष्ठानपुर तथा कौशांबी राजधानियों के नष्ट होने पर आ बसे और एक छोटी सी बस्ती हो गई। मुसल्मानों के उत्तरी भारत में आने पर भी यह बस्ती इस योग्य न थी कि विदेशियों को यहाँ बसने के लिये आकर्षित करती। यह उस समय तक भी केवल मुक्ति-क्षेत्र माना जाता था और हिंदुओं का प्रधान तीर्थ था

प्रयाग शब्द प्र (मुख्य) यज् (पूजा करना, यज्ञ करना) तथा घञ् प्रत्यय से बना है अर्थात् वह स्थान जहाँ पर यज्ञ करने से सर्वोत्तम फल की प्राप्ति होती है। यहाँ वेदोद्धार के बाद ब्रह्मा ने दस अश्वमेध यज्ञ किए थे। दो नदियों के संगम पर, इसे लेकर, ऐसे पाँच प्रयाग का उल्लेख मिलता है—देव-प्रयाग, रुद्रप्रयाग, कर्णप्रयाग, नंदप्रयाग और प्रयाग। तात्पर्य यह कि संगम-स्थान यज्ञ के लिए विशेष पवित्र माने गए हैं।

सम्राट् अकबर कदाचित् पहले पहिल सन् ९७४ हि० (सन् १५६७ ई०; सं० १६२४ वि०) में प्रयाग में आया था। अली कुली खाँ आदि उजबेग सर्दार प्रयाग के पास मानकरवाल ग्राम में पूर्णतया पराजित हुए और उन के मुखिए मारे गए। इस विजय के उपरांत यह यहाँ आया और दो दिन यहीं टिका था। 'तबक़ाते-अकबरी' का ग्रंथकर्त्ता लिखता है कि 'जब मिर्ज़ा खाँ को गुजरात भेजा था (अर्थात् सन् ९८१ हि०) उसी समय बादशाह ने गंगा जमुना के संगम पर प्रयाग में एक क़िला बनवाने और शहर बसाने की आज्ञा दी थी, जिसे इलाहाबास नाम दिया गया था। बादशाह आगरे से यहाँ आए और उन्हो ने चार महीने तक यहाँ मनोरंजन किया था।'

अब्दुल् क़ादिर बदायूनी अपनी पुस्तक 'मुंतख़बुत्तवारीख़' (भाग २) में लिखता है कि '२३ सफ़र सन् ९८२ हि० को बादशाह प्रयाग पहुँचे जिसे इला-हाबास कहते हैं और जहाँ गंगा तथा जमुना का संगम है। हिंदू इसे पवित्र स्थान समझते हैं और दूसरे जन्म में पुण्य-फल प्राप्त करने की इच्छा से यहाँ हर प्रकार का कष्ट उठाते हैं। इन के मत में आत्मा का पुनर्जन्म प्रधान मत है। सिर को आरे से चिरवाना, जीभ फड़वाना, वृक्ष से कूद कर जल में डूब मरना आदि........। बादशाह ने एक बड़ी इमारत की यहाँ नींव डाली और इस का नाम इलाहाबाद रखा।' जिस सन् का बदायूनी का यह उद्धरण है उस के पहिले अकबर प्रयाग में आ चुका था और लगभग एक वर्ष पहिले इलाहाबास नाम से वहाँ दुर्ग तथा नगर बसाने की आज्ञा दे चुका था, जैसा कि 'तबक़ाते-अकबरी' के उद्धरण से ज्ञात हो चुका है मुल्ला अब्दुल् क़ादिर कट्टर मुसल

इलाहाबाद नाम को ही उस ने नया नाम मान लिया। यह वही सज्जन हैं; जो इबादतखाने में कट्टर मुल्लाओं के अग्रणी थे और दीने-इलाही की जिन्हों ने खूब आलोचना की है। इसी पुस्तक में इस के पहिले सन् ९७४ ई० में अकबर के प्रयाग जाने का जहाँ उल्लेख हुआ है, वहाँ कई बार प्रयाग का नाम आया है पर एक बार भी इलाहाबास नाम नहीं दिया गया है।

प्रयाग में अकबर बादशाह ने एक टकसाल खोली जहाँ ताँबे के सिक्के बनते थे। इन पर संवत् दीने-इलाही के और नगर का नाम इलाहाबास दिया जाता था। ऐसे सिक्के सन् ४२ इलाही तक के पाए जाते हैं। इसी वर्ष 'आईन अकबरी' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ समाप्त हुआ जिस में टकसालों की सूची में पहिला नाम इलाहाबास का रक्खा गया है। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि 'तारीखे-इलाही' के सन् का आरंभ यद्यपि बादशाह अकबर की राजगद्दी (सन् ९६३ हि०) से हुआ है पर यह सन् ९९१ हि० (सन् १५८३ ई०) में प्रचलित हुआ था। इसलिये जिन सिक्कों पर इलाही सन् दिया है वे सन् १५८३ ई० के पहिले के नहीं हैं। इस से दस वर्ष पहिले ही प्रयाग में इलाहाबास नाम से नगर बसाने की आज्ञा दी जा चुकी थी।

विलियम फिंच सन् १६०८ ई० में सूरत आया था और सन् १६१० में आगरे गया। प्रयाग के विषय में इस ने भी लिखा है, जिस ने एक लंबा उद्धरण यहाँ दिया जाता है। 'इतना आगरे से जौनपुर तक इस मार्ग से हुआ। वहाँ से इलाहाबास ११० कोस है, जिस में से तीस कोस बराबर जंगल ही जंगल है। नगर और क़िला दोनों गंगा के दूसरे तट पर अच्छी स्थिति पर हैं, जो पहिले प्रयाग कहलाता था और पूर्व का एक आश्चर्य माना जाता है। कई पठान सुलतानों ने यहाँ दुर्ग बनाना चाहा था पर न बन सका। तब अकबर ने नींव डाली और दुर्ग बनने लगा। चालीस वर्ष से बन रहा है पर अब तक खतम नहीं हुआ और न शीघ्र खतम होगा। सुना जाता है कि अकबर के समय कई वर्ष तक बीस हजार आदमी काम करते रहे थे और अब भी पाँच सहस्र के लगभग काम में लगे हैं। यह दुनिया की एक प्रसिद्धतम इमारतों में से होगा पिता के विरुद्ध विद्रोह के समय सलीमशाह इसी में था दो

फाटकों में भीतर जाने पर आँगन में एक लाट मिलता है, जो पचास हाथ ऊँचा है।..... यहाँ एक वृक्ष है, जिसे हिंदू लोग अक्षय कहते हैं क्योंकि यह पठान सुलतानों या इस के पूर्वजों द्वारा किसी प्रकार नष्ट न हो सका जिस का इन लोगों ने कई बार प्रयत्न किया था। इसे कटवा कर, तावा दे कर और मिट्टी तक चलवा कर एक पत्ती रहने नहीं दिया था पर यह फिर उग आया। तब इन सब ने रहने दिया।.........यहाँ से दो कोस पर राजा मानसिंह की बहिन सुलतान ख़ुसरो की माता तथा इस बादशाह की प्रथम स्त्री का जिस ने अपने पुत्र के विद्रोह का वृत्तांत ही सुन कर विष खा लिया था भारी मक़बरा है।'

इस प्रकार अनेक देशी तथा विदेशी उद्धरणों से देखा जाता है कि प्रयाग नगर विशेषत: अकबर ही के प्रयत्न का फल है और उसी ने यहाँ क़िला बना कर अपने युवराज को यहाँ की जागीर दी थी, जिस से इस का नंबर दिल्ली, आगरा राजधानियों के बाद हो गया था। इस ने तीर्थ-क्षेत्र प्रयाग को छोड़ कर नगर का नाम इलाहाबास या इलाहाबाद रक्खा। अकबर को इलाही शब्द बहुत प्रिय था, जैसा कि उस के दीन इलाही, इलाही वर्ष आदि से ज्ञात होता है। उस में धार्मिक कट्टरता कम थी और वह अपने हिंदू प्रजा को भी प्रसन्न रखना चाहता था। उस ने इस नए शहर का नाम इलाहाबास रखा होगा, जो उसी काल में या बाद को इलाहाबाद प्रसिद्ध हो गया।

मुसल्मान बादशाहों ने हिंदुओं के प्राचीन नगरों का मुसल्मानी नामकरण करने का बहुत प्रयत्न किया, पर वे इस में सफल न हो सके। बाज़-बाज़ नाम, जो बहुत मिलते-जुलते थे, चल निकले। गाधिपुर का ग़ाज़ीपुर, जाबालिपुर का जब्बलपुर, कन्नौज का क़न्नौज नामकरण कुछ रद्दोबदल के साथ होने के कारण स्वत: चल गया पर जिन में बहुत फ़र्क़ था, वह कभी न चल सके। आरैल का नाम जलालाबाद रखा गया पर वह रखने वाले के साथ-साथ मिट गया। काग़ज़ात में काशी का नाम मुहम्मदाबाद लिखने पर भी उर्फ़ बनारस लिखना पड़ता था और कई सहस्र वर्ष पुराने नाम को कोई मिटा न सका इन के सिवाय एक प्रकार के और नगर हैं जिन के नाम हैं पर उन

में हिंदुओं की ही बस्ती मुख्य है; जैसे अहमदाबाद, जौनपुर, बुर्हानपुर आदि। जिन नगरों को किसी खास राजा या बादशाह ने बसाया और जिन्हें उस ने अपने मन का नाम दिया वह नाम प्रचलित हो गया और उस का हिंदी अनुवाद करने का हिंदुओं ने कोई प्रयास नहीं किया, इस से वे अब तक चल रहे हैं। अहमदशाह ने नगर बसा कर अहमदाबाद नाम रखा और मुहम्मद तुगलक जूना खाँ ने जूनाँपुर बसाया, जो बिगड़ कर जौनपुर हो गया। इसी प्रकार अकबर ने प्रयाग तीर्थ के पास नगर बसा कर इलाहाबास या अल्लाहबास नाम रखा, जो बाद को या उसी समय से इलाहाबाद भी कहा जाने लगा।

इस लेख के लिखने में निम्नलिखित पुस्तकों तथा लेखों से सहायता ली गई है—

१—वाल्मीकीय रामायण, काशी।

२—'अर्ली हिस्ट्री अव् इंडिया', विन्सेंट स्मिथकृत।

३—फाहियान, हिंदी अनुवाद।

४—आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, भा० १

५—आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, 'मौन्युमेंट्स एंड इन्स्क्रिपशन्स', भा० २।

६—अलबेरूनी का भारत।

७—इलियट एंड डाउसन, 'हिस्ट्री अव् इंडिया' जि० ५।

८—फौस्टर्स, 'अर्ली ट्रैवेल्स इन इंडिया'।

९—'मुंतखबुत्तवारीख', लो कृत अनुवाद।

१०—'मिंट्स अव् दि मुगल एम्परर्स', आर० बर्नलिखित।

११—'आईने अकबरी', ब्लौकमैन का अनुवाद।

१२—'हिंदुस्तानी' पत्रिका, वर्ष १, अंक ३।

संपादकीय

हिंदुस्तानी एकेडेमी का तीसरा वार्षिक साहित्य-संमेलन ५, ६ मार्च सन् १९३२ को बड़ी सफलता-पूर्वक विजयानग्रम हाल में समाप्त हुआ। एकेडेमी के सभापति सर तेज बहादुर सप्रू देश-संबंधी अन्य कार्यों में संलग्न होने के कारण इलाहाबाद में उपस्थित न थे। इसलिए उन की अनुपस्थिति में सभापति का आसन इलाहाबाद हाइकोर्ट के जस्टिस सर शाह मुहम्मद सुलैमान ने ग्रहण किया, और उन्हों ने ५ मार्च को ११ बजे दिन के समय संमेलन का उद्‌घाटन किया।

इस संमेलन के अवसर पर हिंदी और उर्दू दोनों ही भाषाओं के इस प्रांत के तथा कुछ इतर-प्रांतीय विद्वान भी संमिलित थे।

एक छोटे से परंतु सारगर्भित व्याख्यान के बाद सभापति महोदय ने उर्दू तथा हिंदी विभागों के सभापतियों के संक्षिप्त परिचय दिए। उर्दू-विभाग के सभापति लाहोर हाइकोर्ट के जज सर अब्दुल क़ादिर के० टी० और हिंदी विभाग के रायबहादुर लाला सीताराम थे।

इन दोनों महानुभावों की साहित्य-सेवाओं से हिंदी-उर्दू भाषा-भाषी जनता खूब परिचित है।

सर अब्दुल क़ादिर तथा रायबहादुर लाला सीताराम के व्याख्यान संमेलन की रिपोर्ट में यथा-स्थान प्रकाशित होंगे।

संमेलन के अवसर पर हिंदी और उर्दू दोनों ही भाषाओं के एक एक विद्वान निर्धारित विषयों पर व्याख्यान देते हैं। ये व्याख्यान बाद में पुस्तकरूप में प्रकाशित हो जाते हैं। इस वर्ष संमेलन के अवसर पर दो विद्वानों के व्याख्यान हुए। साहित्याचार्य पंडित पद्मसिंह शर्मा जी का व्याख्यान हिंदी में, 'हिंदी-उर्दू या हिंदुस्तानी' शीर्षक था। उर्दू के व्याख्याता थे

जामिए-मिलिया, दिल्ली के प्रिंसिपल डाक्टर ज़ाकिर हुसैन पी-एच्० डी० और आप का विषय था 'अर्थशास्त्र'। ये दोनों व्याख्यान शीघ्र ही पुस्तकाकार प्रकाशित होंगे। ये व्याख्यान हिंदी-उर्दू विभागों की संमिलित बैठकों के सामने पढ़े गए थे परंतु दोनों भाषाओं से अलग अलग संबंध रखने वाली समस्याओं पर हिंदी और उर्दू विभागों की अलग अलग बैठकों में विचार हुआ। उर्दू-विभाग की कार्यवाही सर अब्दुल क़ादिर के निरीक्षण में और हिंदी-विभाग की रायबहादुर लाला सीताराम की अनुपस्थिति में पंडित पद्मसिंह शर्मा के निरीक्षण में हुई।

इस संमेलन के अवसर पर ठाकुर गोपालशरण सिंह जी की ओर से ५ मार्च की शाम को एक पार्टी भी दी गई थी जिस में बाहर से आए हुए अभ्यागतों के अतिरिक्त स्थानीय साहित्यिक अच्छी संख्या में संमिलित थे।

५ मार्च की रात में उर्दू मुशायरा और ६ मार्च की रात में हिंदी कवि-सम्मेलन भी बड़े समारोह के साथ हुए और दोनों में हमारे प्रांत के कुछ प्रमुख कविगण उपस्थित थे।

❦ ❦ ❦

साहित्य-संमेलन के हिंदी-विभाग की कार्यवाही यद्यपि संक्षिप्त थी परंतु बहुत सफल रही। सभापति के आसन में थे साहित्याचार्य पंडित पद्मसिंह जी शर्मा। उपस्थित तथा कार्यवाही में भाग लेने वाले सज्जनों में प्रमुख ये थे।

पंडित श्री नारायण चतुर्वेदी; ठाकुर गोपालशरण सिंह; डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी; डाक्टर गोरखप्रसाद; डाक्टर बाबूराम सक्सेना; श्रीयुत रामकुमार वर्मा, पंडित अयोध्यानाथ शर्मा, पंडित रामनारायण मिश्र; पंडित सद्गुरुशरण अवस्थी; पंडित ज्योतिप्रसाद मिश्र, 'निर्मल'; श्रीयुत भैरोनाथ झा; श्रीयुत पन्नालाल आइ० सी० एस०; श्रीयुत मिट्ठूलाल शास्त्री; श्रीयुत विनोदशंकर व्यास; श्रीयुत नंददुलारे बाजपेई; श्रीयुत वियोगीहरि; पंडित रामनरेश त्रिपाठी; श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा; पंडित लक्ष्मीधर बाजपेई; चतुर्वेदी श्रीयुत द्वारिकाप्रसाद शर्मा; पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी; श्रीयुत देवीप्रसाद शुक्ल; पंडित परशुराम चतुर्वेदी, व्योहार ठाकुर राजेंद्र सिंह, पंडित शांतिप्रिय द्विवेदी, मुंशी

महेशप्रसाद जी; श्रीयुत राधामोहन गोकुलजी; श्रीयुत परमात्माशरण जी; श्रीयुत हीरालाल खन्ना।

हिंदी-विभाग में निम्न-लिखित चार प्रबंध पढ़े गए—

१—श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए० :

'क्या दो सौ बावन वार्ता गोकुलनाथ कृत है ?'

२—श्रीयुत रामकुमार वर्मा, एम० ए० :

'हिंदी गीतिकाव्य'

३—ब्योहार श्रीयुत राजेंद्रसिंह :

'कालिदास और तुलसीदास'

४—श्रीयुत माताप्रसाद गुप्त, बी० ए० :

'मूल गोसाईंचरित की ऐतिहासिकता'

इन में से पहिला प्रबंध 'हिंदुस्तानी' के इसी अंक में प्रकाशित हुआ है। अन्य प्रबंध भी आगे स्थान की सुविधा के अनुसार प्रकाशित होंगे। बंगाल के प्रसिद्ध हिंदी विद्वान् श्री नलिनीमोहन सान्याल, एम्० ए० हमारे संमेलन में न उपस्थित हो सके परंतु उन्हों ने कृपा कर 'कला का रूप' शीर्षक एक सुंदर निबंध संमेलन के लिए भेजा था जिसे हम आगे कभी प्रकाशित करेंगे।

प्रबंध-पाठ के अतिरिक्त कुछ प्रस्ताव भी इस बैठक में उपस्थित किए गए और उन पर विवाद भी हुए। यहाँ पर केवल उन प्रस्तावों को, प्रस्तावकों के नाम-सहित उद्धृत करने का स्थान है।

प्रस्ताव निम्न हैं—

(१) यह सभा हिंदुस्तानी एकेडेमी से अनुरोध करती है कि वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों को देशव्यापी एक-रूपता देने के उद्देश्य से वह भारतवर्ष की अन्य भाषाओं से भी सहयोग प्राप्त करे।

प्रस्तावक—श्रीयुत हीरालाल खन्ना।

(२) हिंदी लिपि, अक्षर-विन्यास तथा व्याकरण में एक-रूपता लाने के लिए, हिंदुस्तानी एकेडेमी को कुछ निश्चित नियम बना लेने चाहिए और इस के लिए उसे एक ऐसी समिति बैठानी चाहिए जो उन नियमों को निर्धारित करे

प्रस्तावक—श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा।

(३) यह परिषद् हिंदुस्तानी एकेडेमी का ध्यान प्राचीन हिंदी साहित्य की ओर आकर्षित करती है और अनुरोध करती है कि प्राचीन ग्रंथों के सुसंपादित संस्करण प्रकाशित करने की ओर विशेष ध्यान दे।

प्रस्तावक—डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी।

(४) यह सभा हिंदुस्तानी एकेडेमी का ध्यान ब्रजभाषा के कोष और व्याकरण की आवश्यकता की ओर इस उद्देश्य से आकर्षित करती है कि इन के द्वारा प्रामाणिक ग्रंथों का अध्ययन और प्रकाशन सुलभ हो जाय।

प्रस्तावक—चतुर्वेदी श्रीयुत द्वारिकाप्रसाद शर्मा।

इन सभी प्रस्तावों पर एकेडेमी की कौंसिल ने ७ मार्च की बैठक में विचार करने का निर्णय भी किया है।

* * *

एकेडेमी की भाषा-विषयक नीति के संबंध में साहित्यिक जनता में कुछ बहुत ग़लत धारणाएँ फैली हुई हैं। कुछ लोगों का यहाँ तक कहना है कि एकेडेमी गुप्त रूप से इस उद्देश की सिद्धि में लगी हुई है कि हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं को मिला कर एक तीसरी नई भाषा की गढ़ंत करे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की आशंकाएँ निर्मूल और व्यर्थ हैं।

हिंदुस्तानी एकेडेमी की कौंसिल ने, ४ अप्रैल १९३१ के अपने एक प्रस्ताव द्वारा एक ऐसी उप-समिति बनाई थी जो दोनों भाषाओं के मेल के प्रश्न पर विचार करे। इस समिति में निम्न-लिखित सदस्य निर्वाचित हुए थे—

(१) डाक्टर ताराचंद, एम्० ए०, डी० फिल्० (आक्सन), प्रिंसिपल कायस्थ पाठशाला यूनिवर्सिटी कालिज, इलाहाबाद।

(२) खानबहादुर सैयद अबू मुहम्मद, एम्० ए०, संयुक्त-प्रांतीय सेक्रेटेरियट, नैनीताल।

(३) डाक्टर अब्दुस्सत्तार सिद्दीक़ी, एम्० ए०, पी-एच्० डी० अध्यक्ष अरबी और फ़ारसी विभाग, यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद।

(४) , बी० ए०, मेलूपूर रोड, बनारस

(५) सैयद ज़ामिन अलीसाहब, एम० ए०, अध्यक्ष उर्दू-विभाग, यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद ।

(६) श्रीयुत रामबाबू सक्सेना, एम० ए०, पब्लिसिटी आफिसर, नैनीताल ।

(७) पँडित अमरनाथ झा०, एम० ए०, अध्यक्ष अंग्रेज़ी-विभाग, यूनिवर्सिटी इलाहाबाद ।

(८) डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी, एम० ए०, डी० एस्-सी० (लंदन) इतिहास-विभाग, यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद ।

(९) श्रीयुत पन्नालाल, आइ० सी० एस०, मैजिस्ट्रेट और कलक्टर, बदायूँ । (संयोजक)

इस समित ने भाषा के संबंध में जो सिफ़ारिशें कीं वह एकेडेमी की कौंसिल की ७ मार्च, १९३२ की बैठक के सामने प्रस्तुत की गईं और कौंसिल द्वारा स्वीकृत हुईं । उप-समिति की रिपोर्ट इस प्रकार है—

"इस समिति की यह धारणा है कि हिंदुस्तानी एकेडेमी के कौंसिल को यह इच्छा नहीं है कि हिंदी और उर्दू भाषाएँ छोड़ दी जायँ या मिटा दी जायँ और उन के स्थान पर एक बिल्कुल नई भाषा गढ़ ली जाय । समिति की राय में यह कार्य अव्यवहारिक है । परंतु, यह बड़ी इच्छित बात होगी कि इन दोनों भाषाओं के विकास की प्रवृत्तियों की जाँच की जाय और उर्दू और हिंदी को सरल बनाने की संभावनाओं से लाभ उठाया जाय । क्योंकि यद्यपि प्रत्येक मनुष्य इस बात को स्वीकार करता है कि दोनों भाषाओं के ढाँचे एक हैं, यह बड़े शोक की बात है कि कठिन और अपरिचित शब्दों का व्यवहार दो भाषाओं के बीच की खाड़ी को विस्तृत करता जाता है ।

"इस समिति के विचार में ऐसे उद्योग की आवश्यकता है कि पुस्तकें ऐसी सरल भाषा में लिखी जायँ कि उन से अधिक से अधिक संख्या में जनता लाभ उठा सके । इस उद्देश की सिद्धि के लिए यह समिति निम्नलिखित सिफ़ारिशें करती है—

१—एकेडेमी लेखकों से यह अनुरोध करे कि इस की पत्रिका 'हिंदुस्तानी' के लेखों में जहाँ तक संभव हो सरल भाषा का उपयोग करें

२—एकेडेमी विशेष विषयों पर सरल उर्दू और हिंदी में लिखी हुई पुस्तकें प्रकाशित करे।

३—एकेडेमी अपनी पत्रिका में सरल भाषा में लिखे हुए लेख छापे।

४—एकेडेमी एक ऐसा कोष तैयार करावे जिस में हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं में समान-रूप से प्रचलित शब्दों का संग्रह हो।

५—एकेडेमी गद्य और पद्य के ऐसे संग्रह-ग्रंथ प्रकाशित करे जिन में सरल हिंदी और उर्दू की रचनाएँ एकत्र हों।

इस उप-समिति की राय में उपरोक्त प्रणाली से कार्य करने से उस उद्देश्य की सब से शीघ्र सिद्धि हो सकती है जो कि एकेडेमी की कौंसिल के संमुख है।"

❦ ❦ ❦

एकेडेमी का वार्षिक कार्य-विवरण जिसे जेनरल सेक्रेटरी ने एकेडेमी की कौंसिल के सामने ७ मार्च १९३१ को प्रस्तुत किया था इस अंक में अन्यत्र प्रकाशित हो रहा है।

समालोचना

कविता

साकेत—लेखक, श्री मैथिलीशरण गुप्त। प्रकाशक, साहित्यसदन, चिरगाँव (झाँसी)। प्रथमावृत्ति, संवत् १९८८, पृष्ठ ४८८। साइज २०×३० सोलहपेजी। मूल्य ३)। सजिल्द।

अंजलि—लेखक, श्री रामकुमार वर्मा, एम० ए०, 'कुमार'। प्रकाशक, साहित्य-भवन लिमिटेड, प्रयाग। पृष्ठ ५२। रायल सोलहपेजी। मूल्य १)। सजिल्द।

उद्धव-शतक—लेखक, श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर'। प्रकाशक, रसिक मंडल, प्रयाग की ओर से इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग। १९३१। साइज २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ १२०, मूल्य १॥)। सजिल्द।

एक वार 'सरस्वती' में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' शीर्षक एक लेख, श्री रवींद्रनाथ ठाकुर के किसी लेख से सहायता ले कर लिखा था। उस में बड़े सहानुभूतिपूर्ण और प्रभविष्णु शब्दों में संस्कृत तथा हिंदी के कवियों द्वारा उर्मिला ऐसे सुंदर चरित्र की उपेक्षा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया था। कदाचित् गुरु की उसी प्रेरणा से गुप्त जी ने 'साकेत' में इस चरित्र को एक प्रमुख स्थान दिया है। द्विवेदी जी ने वाल्मीकि की इस विषय में उदासीनता का उल्लेख करते हुए लिखा था, 'उर्मिला को जनकपुर से साकेत पहुँचा कर उसे एक दम ही भुलाना अच्छा नहीं हुआ।' उक्त लेख को समाप्त करते हुए, कितने सुंदर ढंग से उन्हों ने कवि के अंतःकरण को छूने का उद्योग किया था, "राम लक्ष्मण और जानकी के वन से लौट आने पर भवभूति को बेचारी उर्मिला एक बार याद आ गई है। चित्रफलक पर उर्मिला को देख कर सीता ने लक्ष्मण से पूछा "———— ——— ?" उन्हों ने सीता के प्रश्न का उत्तर दिए बिना ही उर्मिला के चित्र पर हाथ रख दिया, इन के हाथ से वह ढक गया कैसे खेद

की बात है कि उर्मिला का उज्ज्वल चरित्र-चित्रण कवियों के द्वारा आज तक ढकता आया !"

'साकेत' की कथा 'रामायण' की है किंतु उस का प्रबंध कुछ भिन्न है। ग्रंथ में बारह सर्ग हैं। प्रथम सर्ग में कथा अयोध्याकांड से प्रारंभ होती है, लक्ष्मण तथा उर्मिला के विवाहित जीवन का वह प्रभात है—उषा के वेष में उर्मिला हमारे सामने सब से पहिले आती है जिस के आलिंगन के लिए लालायित लक्ष्मण सा बालसूर्य उपस्थित होता है। ग्रंथ का अंत भी लक्ष्मण-उर्मिला के दृश्य से संध्या की सुषमा प्राप्त करता है। इन दो सीमाओं के बीच का समय उर्मिला के जीवन के अतीव कोमल, करुणापूर्ण, त्यागमय पक्ष का विकास करता है। ऐसा जान पड़ता है कि कवि ने 'साकेत' की रचना ही एक-मात्र इसी ध्येय से की, और इस प्रकार एक बड़े अभाव की पूर्ति करने के कारण इस ग्रंथ को एक विशेष स्थान मिलना ही चाहिए।

किंतु कदाचित् एकमात्र कविता की दृष्टि से पाठक को कहीं-कहीं निराशा होगी। नवाँ सर्ग तो ऐसा है कि उसे ध्यान-पूर्वक पढ़ने के लिये धैर्य की आवश्यकता है—कदाचित् उस के न रहने पर 'साकेत' अधिक सुंदर काव्य हो सकता। उस का विषय है उर्मिला का विरह, किंतु इन ७२ पृष्ठों में लगभग ३६ गीत हैं जो किसी प्रकार गूँथ दिए गए हैं। उन का संग्रह 'विरहिणी व्रजांगना' की भाँति 'विरहिणी उर्मिला' नामक किसी स्वतंत्र ग्रंथ से किया गया होता तो उन अधिकतर समालोचकों के मत में निश्चय परिवर्तन लक्षित होता जो गुप्त जी को इतिवृत्तात्मक-काव्यकारों की श्रेणी में स्थान देते हैं किंतु 'साकेत' ऐसे सुंदर प्रबंध-काव्य के लिए वे भार स्वरूप हो गए हैं।

केवल कविता की दृष्टि से 'साकेत' का दशम सर्ग कदाचित् सर्वोत्कृष्ट है—बड़े ही सुंदर शब्दों में उर्मिला ने सरयू से शैशव से लेकर यौवनागम तक की सुनहरी कथा कही है। इसी प्रकार अंतिम सर्ग का उत्तरार्द्ध भी अपूर्व हुआ है। किंतु ग्रंथ में सब से कोमल स्थल चित्रकूट में लक्ष्मण-उर्मिला-मिलन का है और हमें यह बतलाते है कि कवि में कवित्व की धार अभी शुष्क नहीं हुई है।

❦ ❦ ❦

श्रीयुत 'कुमार' की रचना 'अंजलि' एक सुकुमार कल्पना से उद्भूत और सरस-कविता से पूर्ण है। २१ छोटी छोटी स्वतंत्र कविताएँ इस पुस्तक में संग्रहीत हैं, जिन में से कई मे प्रकृति की साधारण और नित्य के अनुभव की वस्तुओं को कवि ने अपनी अनोखी भावुकता से सजीव बना दिया है। उदाहरण के लिए एक छोटी कविता की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

ओ समीर, प्रातः समीर !
मेरे पल्लव सोते हैं,
टूटे न शान्त स्वप्नों का तार।
या तो धीरे से आओ, या
रहो दूर, देखो उस पार॥
सरल सुमन-शिशुओं ने तेरी,
आहट से दीं आँखें खोल।
यह सौंदर्य-सुधा छलका कर,
घटा दिया क्यों उस का मोल ?
ओ समीर, निष्ठुर समीर !
कलियों को मत छुओ,
बालिकायें ये, सरला हैं, अनजान।
गाना मत उनके समीप,
उन्मत्त अरे, यौवन के गान॥
अलम तुम्हारा है प्रवाह,
ध्वनि पद से करले व्योम-विहार।
या तो धीरे से आओ, या
दूर रहो, देखो उस पार॥
ओ समीर, मादक समीर।

इसी कोटि की 'विभूति' 'संगीत' 'शिशिर', 'आँसू', तथा 'सो रहीं उत्सुक आँखें सारी' शीर्षक कवितायें भी है। इन के छंदों और भाषा में भावों का संगीत स्पष्ट गूँज रहा है। हिंदी के नवोत्थित कवियों ने जिस

उच्छृंखलता के कारण अपनी कविता को सर्वप्रियता से दूर रक्खा है वह 'कुमार' जी में तनिक भी नहीं है, इस लिये 'अंजलि' ऐसी रचना का स्थान आधुनिक हिंदी-कविता में महत्त्वपूर्ण है।

* * *

'उद्धव-शतक' में कवि ने एक ऐसे विषय को हाथ मे लिया है जिस पर बहुत अधिक रचना हो चुकी थी; इसलिये आशा यह की जा रही थी कि वह कुछ नवीनता के साथ, सूरदास, नंददास आदि से कुछ विशेषता रखते हुए, उपस्थित होगा। और 'शतक' के प्रथम छंद के पढ़ने पर इस आशा को बहुत कुछ प्रोत्साहन मिला। कितना सुंदर प्रारंभ है—

न्हात जमुना मैं जलजात एक देख्यौ जात
जाकौ अध-ऊरध अधिक मुरझायौ है।
कहै 'रतनाकर' उमहि गहि स्याम ताहि
बास-बासना सौं नैंकु नासिका लगायौ है॥
त्योंहीं कछु घूमि झूमि बेसुध भए कै हाय
पाय परे उखरि अभाय मुख छायौ है।
पाए घरी द्वैक में जगाइ ल्याइ ऊधौ तीर
राधा नाम कीर जब औचक सुनायौ है॥

किंतु यह आशा दूसरे ही छंद में घटने लगती है और तीसरे चौथे तक पहुँचते पहुँचते बहुत कुछ क्षीण हो जाती है। जितना ही हम आगे बढ़ते हैं हमे ऐसा ज्ञात होता है कि कभी पढ़ी हुई बाते ही घुमा फिरा कर हमारे सामने रक्खी जा रही हैं। छंद बड़े सुडौल हैं, प्रबंध भी कहीं शिथिल नहीं है, भाषा तो बड़ी ही सुव्यवस्थित है, अलंकारों का भी बाहुल्य है—विशेषतः रूपक बड़े पूरे उतरे हैं—शैली भी प्रशंसनीय है, अथवा संक्षेप में यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि कविता के बाह्य-स्वरूप को कवि ने बड़ी सफलतापूर्वक रक्खा है। किंतु, वह बहुत कुछ निर्जीव सी है, कवि की अभिव्यंजना के लिये जिस विकलता की आवश्यकता होती है उस का प्रायः अभाव है, और कुल छंदों को एक बार पढ जाने पर हमें ऐसा जान पड़ता है कि मानो हिंदी के रीति-कालीन कविता-

दीप की यह अंतिम आभा है, और इस कारण हमें बड़ी निराशा होने लगती है। सूरदास ने एक स्थान पर कहा है—

'सूर मूर अक्रूर लै गये ब्याज निबेरत ऊधो।'

'उद्धवशतक' के एक छंद में आता है—

'लै गयौ अक्रूरक्रूर तब सुख-मूर कान्ह।
आए तुम आज प्रान-ब्याज उगाहन लौं॥'

और, इस प्रकार के उदाहरण हमें कई स्थलों पर मिलते हैं। कुछ छंदों को पढ़ने पर तो ऐसी धारणा होती है मानो उन की रचना केवल शाब्दिक चमत्कार के लिये की गई हो (उदाहरणार्थ छंद २९, ७८), कुछ ऐसे हैं जिन की रचना केवल रूपक-चमत्कार के लिए की गई लगती है (उदाहरणार्थ ११७), कुछ छंद केवल कल्पना-चमत्कार के उद्देश्य से रचे हुए से लगते है (उदाहरणार्थ ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२ जिन में क्रम से गोपिकाओं की विरह-दशा, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत तथा शिशिर के सांग रूपकों द्वारा वर्णित की गई है), इन कुल उदाहरणों मे कवि की अनुभूति ने कदाचित् पीछा छुड़ाया है, फिर भी अन्यत्र उस का अभाव नहीं है (उदाहरणार्थ, छंद ४, २०, ६५, ९५, ९७, १०९, ११२)। इन्हीं मे से नीचे का छंद है जो कृष्ण के पास गोकुल से लौट कर उद्धव के पहुँचने पर उन से प्रश्न किए जाने पर उत्तर मे कहा गया है—

आँसुनि की धार औ उभार कौं उसाँसनि के
तार हिचकीन के तनक टरि लेन देहु।
कहै 'रत्नाकर' फुरन देहु बात रंच
भावनि के विषम प्रपंच सरि लेन देहु॥
आतुर ह्वै और हू न कातर बनावौ नाथ
नैंसुक निहारि पीर धीर धरि लेन देहु।
कहत अबै हैं कहि आवत जहाँ लौं सबै
नैंकु थिर कढ़त करेजौ करि लेन देहु॥

कितनी तीव्र अनुभूति है!

इस 'शतक' की इस विषय में असफलता का कारण उस के द्वारा भ्रमरोपालंभ का बहिष्कार है। सूरदास ने 'सूरसागर' में एक 'दूसरी भ्रमरगीत लीला' रची है और उस में भी इस उपालंभ का अभाव है और इस कारण वह और भी शुष्क है, क्योंकि उस में कविता की अन्य विशेषताएँ भी न्यून मात्रा में हैं। इस के अतिरिक्त, विरह की विभिन्न परिस्थितियों का भी चित्रण न होने से हमें 'उद्धवशतक' में रस की बड़ी कमी ज्ञात होती है।

ग्रंथ के प्रारंभ में श्री रामशंकर शुक्ल 'रसाल' लिखित ८२ पृष्ठों का एक प्राक्कथन है। जिस में 'प्रस्तुत काव्य की मार्मिक और सूक्ष्म आलोचना अपने सुयोग्य और सहृदय पाठकों के संमुख उपस्थित करने का प्रयत्न' किया गया है। इतना ऊँचा उद्देश्य रखते हुए कदाचित् कुछ और सावधानी के साथ प्राक्कथन लिखा गया होता तो पाठकों का विशेष लाभ होता। एक स्थान पर कहा गया है—"यद्यपि नंददास आदि दूसरे भक्त-कवियों ने भी इसी प्रकार लिखा है तथापि इस में किसी प्रकार भी उन का भावापहरण नहीं हो सका वरन सर्वत्रैव मंजुल मौलिकता का ही प्राधान्य तथा प्राबल्य प्राप्त होता है।" यहाँ पर नंददास के 'भ्रमरगीत' तथा सूरदास के 'भ्रमरगीतादि' से तुलना करने का स्थान नहीं है फिर भी कुछ संकेत इस विषय में ऊपर कर दिया गया है। एक स्थान पर कहा गया है—"गोपियों के द्वारा भागवत में प्रेम और भक्ति की ज्ञान और योग के सम्मुख विशेष महत्ता दिखलाई गई है।" किंतु भागवत में लगभग ठीक इस का उलटा है। उस में कृष्ण गोपिकाओं के पास उद्धव को भेजते हैं—उद्धव उन्हें आत्मा तथा ब्रह्म का आध्यात्मिक उपदेश तथा कृष्ण के ध्यान-योग का संदेश देते हैं—गोपिकायें दो एक बार इस बीच विरह से कातर होती हैं किंतु उन्हें उद्धव के उपदेशों से शांति मिलती है—उद्धव छः महीने ब्रज में रहते हैं और तदनंतर कृष्ण के पास लौट कर अपने सफल दूतत्व पर प्रसन्नता प्रकट करते हैं। इसी प्रकार एक स्थान पर कहा गया है कि 'उद्धवशतक' के 'दार्शनिक विचार मौलिक हैं' किंतु इस का निर्णय सूरदास तथा नंददास के 'भ्रमरगीत' को पढ़ कर पाठक स्वयं कर सकते हैं। मेरा विचार है कि ऐसे उल्लेखों से समालोचना का ध्येय कदाचित् पूरा नहीं हो सकता

नाटक

चंद्रगुप्त—लेखक, श्री जयशंकर 'प्रसाद'। प्रकाशक, भारती-भंडार, काशी। संवत् १९८८। साइज २०×३० सोलहपेजी। पृष्ठ ५१+२१८+१८। मूल्य २॥)। सजिल्द।

नीच—लेखक, श्री नरेंद्र। प्रकाशक, चाँद कार्यालय, इलाहाबाद। १९३१। साइज २०×३० सोलहपेजी। पृष्ठ १४८। मूल्य १)।

सन्यासी—लेखक, श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र। प्रकाशक, साहित्य-भवन लिमिटेड, प्रयाग। साइज २०×३० सोलहपेजी। पृष्ठ १६५। मूल्य १॥)। सजिल्द।

राक्षस का मंदिर—लेखक, श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र। प्रकाशक, साहित्य-भवन लिमिटेड, प्रयाग। पृष्ठ १५०। मूल्य १॥)। सजिल्द।

'चंद्रगुप्त' 'प्रसाद' जी का सब से नवीन नाटक है। इस के प्रकाशित होने के अनंतर से अब तक कई समालोचनाएँ विभिन्न पत्रों में प्रकाशित हो चुकी हैं अतः यहाँ संक्षेप में विवेचन कदाचित् पर्याप्त होगा।

'प्रसाद' जी का यह नाटक 'राज्यश्री' के अतिरिक्त संभवतः सर्वोत्कृष्ट है। क्या कथावस्तु, क्या चरित्र-चित्रण, और क्या कथोपकथन सभी दृष्टियों से इस कृति का उन के नाटकों मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'मुद्राराक्षस' तथा बंगला 'चंद्रगुप्त' ऐसी सफल रचनाओं के होते हुए भी 'प्रसाद' जी की इस कृति का एक महत्त्व है।

'चंद्रगुप्त' की कथावस्तु ऐतिहासिक है और इस ऐतिहासिकता की रक्षा 'प्रसाद' जी ने एक अपूर्व ढंग से की है। पूरे नाटक को पढ़ने पर स्वतः यह धारणा होती है कि किसी पुरातत्व-वेत्ता ने इस ग्रंथ का निर्माण किया होगा। विश्व-विजेता सिकंदर के आक्रमण से ले कर मौर्य साम्राज्य के स्थापन तक की जटिल राजनीतिक परिस्थितियों, कुटिल घटना-चक्रों और भयानक षड़यंत्रो का कौशल के साथ एक समावेश किया गया है, कदाचित् इतनी जटिल कथावस्तु को सफलतापूर्वक नाटक में प्रस्तुत करने के उदाहरण अधिक न मिल सकेंगे।

किंतु 'चंद्रगुप्त' की सब से बड़ी विशेषता उस के चरित्रों का निर्माण है। नाटक का पहला दृश्य बड़ा ही प्रभावशाली है 'प्रसाद' जी के अधिकतर नाटकों का प्रथम दृश्य केवल [illegible] होता है किंतु 'चंद्रगुप्त' अपना

यह कार्य तो करता ही है साथ ही नाटक की प्रकृति का भी सम्यक् बोध कराता है। पात्र यहाँ पर दार्शनिक नहीं है, वे कर्मण्यता की मूर्ति हैं। चाणक्य के चरित्र की जिस दृढ़ता, दूरदर्शिता न्यायप्रियता, आत्माभिमान, और दुर्दमनीय उद्यम-शीलता का आभास हमें इस के पहिले दृश्य से मिलता है वह नाटक के अंत तक मिलता जाता है। 'मुद्राराक्षस' के चाणक्य से घटनाएँ मानो पहिले ही से चाणक्य को सूचना दे कर उपस्थित होती हैं और इसीलिये नाटक में बहुत कृत्रिमता आ गई है, और चाणक्य एक अमानवीय व्यक्ति सा ज्ञात होने लगता है, किंतु 'चंद्रगुप्त' में यहाँ पर वह केवल परिस्थितियों को दूर तक समझने वाला एक बड़ा प्रौढ़ राजनीतिज्ञ है जिस के आगे बड़े बड़े पाश्चात्य कुचक्रियों का स्थान नीचा लगने लगता है। उस में क्रूरता भी है। वह चंद्रगुप्त की रक्षा के लिए मालविका का बलिदान होने में नहीं हिचकता, कल्याणी के आत्मघात करने पर चंद्रगुप्त से कहता है 'आज तुम निष्कंटक हुए।' किंतु कभी एक कोमल और प्रसुप्त वासना जाग्रत हो कर उसे विकल कर देती है, यद्यपि उसकी दृढ़ता वहाँ भी विजयिनी होती है। कितनी सुंदरता के साथ नीचे की पंक्तियाँ उस का पूरा चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करती हैं—

"मै—अविश्वास, कूट-चक्र और छलनाओं का कंकाल; कठोरताओं का केंद्र! आह! तो इस विश्व में मेरा कोई सुहृद नहीं? है, मेरा संकल्प; अब मेरा आत्माभिमान ही मेरा मित्र है। और भी एक क्षीण रेखा, वह जीवन-पट से धुल चली है। धुल जाने दूँ? सुवासिनी! न न न, वह कोई नहीं। मै अपनी प्रतिज्ञा पर आसक्त हूँ। बड़ी सुंदरी है! भयानक रमणीयता है। आज उस प्रतिज्ञा में जन्मभूमि के प्रति कर्तव्य का भी यौवन चमक रहा है। तृण-शैया पर आधे पेट खा कर सो रहने वाले के सिर पर दिव्य यश का स्वर्ण-मुकुट! और सामने सफलता का स्मृति सौध……।"

'मुद्राराक्षस' के कुचक्री चाणक्य तथा राय बाबू के विक्षिप्त से चाणक्य से 'प्रसाद' का चाणक्य कितना महान् है!

चाणक्य के अतिरिक्त प्रमुख पुरुष-चरित्र चंद्रगुप्त तथा सिंहरक हैं। चंद्रगुप्त एक आदर्श नायक है, वह वीर, गंभीर, दृढ़प्रतिज्ञ, , देश-

भक्त और यथार्थ ही चाणक्य का शिष्य होने के योग्य है। किंतु उस में कोई जटिलता नहीं है—वीरता के साथ प्रेम के लिए कोमलता, कठोर वक्षस्थल के नीचे सुकुमार हृदय की भाँति उस के संपूर्ण जीवन को सुंदर बना देती है। सिंहरण में भी वे ही गुण हैं जो चंद्रगुप्त में। बड़ा दुर्दमनीय साहस, अनुपम निर्भीकता और ज्वलंत राष्ट्रीयता उस के नस नस में भरी हुई हैं, किंतु अलका के लिये हृदय का एक कोमल कोना भी है। 'चंद्रगुप्त' का उपनायक नंद भी पात्रों में एक विशेष स्थान रखता है। मानव अपने सर्वनाश के लिये स्वयं उत्तरदायी है इस का एक ज्वलंत उदाहरण नंद है। विलासिता, मिथ्याभिमान, क्रूरता, और नृशंसता के साधनों से किसी चरित्र के पतन के साथ विश्व का वातावरण कितना क्षुब्ध हो सकता है यह नाटक का तत्कालीन नंद ऊँचे स्वर से बताता है।

'चंद्रगुप्त' के स्त्री-पात्र भी बड़ी सुकुमार तूलिका से चित्रित किए गए हैं—अलका, सुवासिनी, कल्याणी, मालविका तथा कार्नीलिया, सभी सुंदर हैं। किंतु, कदाचित् सुवासिनी के चित्रण में सब से अधिक कुशलता का परिचय मिलता है। शकटार की कन्या जिस का पूरा परिवार भूगर्भ में बंदी-जीवन यापन कर रहा है मगध-नरेश की नर्तकी है। शैशव के साहचर्य से चाणक्य के हृदय में उस के लिये एक उत्कट प्रेम है, राक्षस के हृदय में है उस के लिये एक उत्कट वासना, किंतु उस ने अपना स्त्रीत्व नहीं बेचा है। राक्षस से एक स्थान पर वह कहती है—

"अमात्य! मैं अनाथ थी; जीविका के लिये मैं ने चाहे कुछ भी किया हो; पर, स्त्रीत्व नहीं बेचा। तुम्हारे लिए मगध में कुल-कन्याओं की कमी न होगी।"

किंतु वह उस से प्रेम करती है। चतुर्थ अंक, आठवें दृश्य में सुवासिनी चाणक्य को मिलती है। चाणक्य कहता है कि क्या वह यवन सेनानी राक्षस से परिणय कर सकेगी। उस की देश-भक्ति जाग्रत होती है और वह कहती है 'नहीं' कहता है

सुवासिनी—निष्ठुर ! निर्दय !!

किंतु वह राष्ट्र के कल्याण के लिये इस परिणय को अपनाती है।

अलका सिंहरक की सहचरी है और उस में भी सिंहरक के सभी गुण एकत्र हैं। कल्याणी प्रेम की प्रतिमा है।

मालविका करुणा और त्याग की मूर्ति है। प्रियतम के कल्याण के लिये रमणी के आत्मोत्सर्ग और बलिदान का चित्रण बहुत सुंदर हुआ है। यवन कन्या कार्नीलिया में भारत के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है और वह इसी अनुराग के कारण ही एक बड़े भयानक युद्ध को टाल कर चंद्रगुप्त की परिणीता बनती है।

'प्रसाद' जी के पहिले के अधिकतर नाटकों में पात्र-युग्म मिलते हैं उदाहरणार्थ, अजातशत्रु में एक ओर छलना, अजातशत्रु, महामाया, विरुद्धक, देवदत्त और मागंधी हैं। दूसरी ओर वासवी, विंबसार, पद्मावती, गौतम और मल्लिका किंतु 'चंद्रगुप्त' में यह युग्म-प्रणाली नहीं और इस विषय में 'चंद्रगुप्त' उन का सब से अधिक विकसित नाटक है।

कथोपकथन की कला में तो 'प्रसाद' जी की कुशलता प्रसिद्ध ही है, 'चंद्रगुप्त' का प्रथम दृश्य इस विषय में भी अतीव उत्कृष्ट है।

किंतु इस नाटक की प्रमुख विशेषता मुझे उस के कर्तृत्व-प्रधान होने में जान पड़ती है। जहाँ एक ओर 'प्रसाद' जी का 'अजातशत्रु' भावना-प्रधान है और कर्मण्यता-रहित सा है दूसरी ओर 'चंद्रगुप्त' इसी कर्तृत्व से भरा है। 'प्रसाद' जी के शब्दों में ओज और चमत्कार है। चाणक्य, चंद्रगुप्त और सिंहरक तथा अलका की सी उद्योग-वीरता के उदाहरण इतिहास में कम मिलेंगे। एक बार नाटक पढ़ने पर यह अनुभव होने लगता है कि संसार का कोई भी कार्य असंभव नहीं है, और यहीं पर नाटककार की सफलता का रहस्य छिपा हुआ है।

अभिनय की दृष्टि से यद्यपि 'प्रसाद' जी के इस नाटक में भी कई त्रुटियां हैं किंतु मेरा ध्यान है कि जब तक हिंदी रंग-मंच का नये सिरे से निर्माण न हो ले तब तक हमारे साहित्यिक नाटकों का विवेचन उस दृष्टि से करना

स्थान न केवल हिंदी साहित्य मे वरन् आधुनिक-भारतीय-साहित्य में भी मान-नीय होगा।

* * *

'नीच' एक भाव-प्रधान सामाजिक प्रश्न-रूपक है जिस में लेखक ने समाज के कतिपय "ऊँचे" कहलाने वाले महापुरुषों (?) द्वारा "नीच" कह-लाए जाने वाले व्यक्तियों के ऊपर किए गए अत्याचारों का चित्रण करने की चेष्टा की है।

लेखक ने कथा-वस्तु उत्पाद्य अर्थात कल्पना-प्रसूत रक्खी है इस लिये उसे यथेच्छा विस्तार-संकोच का पर्याप्त अवसर मिला है किंतु 'चित्रण' के प्रतिबंध ने उसे बहुत कुछ संयत रक्खा है। फिर भी कहीं कहीं कुछ बाते खटक जाती हैं, उदाहरणार्थ मालती वेश्या शांतिकुमार के केवल इस एक वाक्य से कि 'वह शरीर के साथ आत्मा भी बेचती है' अपना पूरा जीवन बदल देती है, किंतु कदाचित् कुछ समय और कुछ परिस्थितियों की आवश्यकता के बीच यदि यह परिवर्तन होता तो अधिक यथातथ्य होता। इसी प्रकार भीमराज द्वारा तारा के सताए जाने के समय विनय का उपस्थित हो जाना, शांति के जेल में पीटे जाते समय एकायक मैजिस्ट्रेट का उपस्थित हो जाना, भूठा वारंट दिखा कर तारा को ले जाते हुए तुरंत विनय का मैजिस्ट्रेट साहब के पत्र के साथ पहुँचना आदि ऐसी घटनाएँ हैं जो अधिक आकस्मिक लगती है। इसी प्रकार दो दो व्यक्तियों का नदी में बहते हुए मरण-प्राय निकाल कर जीवित किया जाना भी कुछ खटकता है। तारा एक भंगिन की लड़की का पिस्तौल चलाना भी अस्वा-भाविक लगता है। मालती पिस्तौल से आत्म हत्या करती है और शांतिकुमार भी, किंतु जिन परिस्थितियों में वे थे उन्हें पिस्तौल कहाँ से मिली होगी यह आश्चर्य होता है। मेरा ध्यान है कि पिस्तौल का ऐसा बहु-प्रयोग क्रांतिकारी-दल के चित्रण तक ही सीमित रक्खा जाय तो विशेष अच्छा हो, अभी भारत मे पिस्तौल घर घर नहीं रहती, यह देश इंगलैंड या फ्रांस नहीं है। किंतु इन छोटी मोटी त्रुटियों के होते हुए भी वस्तु-संगठन शिथिल नहीं है। यदि तारा का भी कोई परिणाम दिखाया गया होता तो नाटक अधिक पूर्ण होता

'नीच' के प्रधान पात्र शांतिकुमार और मालती हैं जिन के विषय में लेखक ने लिखा है कि इन का चरित्र उस के लिये इतना जटिल हो गया था कि कई बार वह लिखते लिखते घबरा उठा था। मालती के विषय में तो यह स्पष्ट है किंतु श्यामकुमार के चरित्र में यह जटिलता बहुत कम ज्ञात होती है। मेरे ध्यान से विनय के चित्रण में नाटककार ने कहीं अधिक कौशल का परिचय दिया है और इसी प्रकार उस की माँ मोहिनी का चित्रण भी कम कौशलपूर्ण नही है। मेरा ध्यान है कि मालती, मोहिनी और विनय के चरित्र सुंदर कला के परिचायक है।

रस तथा मानव प्रकृति-चित्रण में भी लेखक को सफलता मिली है। नाटक यद्यपि दुखांत है किंतु यह दुखांत स्वाभाविक है। मालती जिन परिस्थितियों में आत्महत्या करती है उन से वही परिणाम अनिवार्य था। कुल नाटक के पढ़ने पर 'नीच' कहे जाने वाले और समझे जाने वाले समाज के अंश के साथ हमारी सहानुभूति अवश्य हो जाती है और इसी में नाटक कार की सफलता का रहस्य छिपा हुआ है।

इन दृष्टियों से 'नीच' एक सफल नाटक है। इस के लेखक की यह पहिली कृति है अतएव दो चार स्थानों पर त्रुटियाँ मिलनी आश्चर्य-जनक नही है, जैसे पृष्ठ ८५ पर दृश्य अवश्य बदलेगा क्योंकि कथा विनय के घर से भीमराज की वाटिका-वाले घर को तुरंत प्रस्थान करती है, किंतु दृश्य नहीं बदला है। किंतु, आशा है कि आगे चल कर नाटक-कार इस प्रकार की रचनाओं में बड़ी सफलता प्राप्त करेगा।

❦ ❦ ❦

'सन्यासी' तथा 'राक्षस का मंदिर' दोनो ही श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र की रचनाएँ हैं और लगभग एक सी प्रकृति की है। 'राक्षस का मंदिर' दोनों में पीछे की रचना है अत: उसी का आश्रय ले कर यहाँ विवेचन करना कदाचित् पर्याप्त होगा।

राक्षस के मंदिर मे लेखक की कला ने बड़ी उच्छृंखलता का परिचय दिया है, प्रस्तुत का उद्देश्य क्या है यह मैं अभी तक नहीं समझ

सका। यदि इस का उद्देश्य भयानकता का तांडव ही उपस्थित करना है, संसार के प्रति नैराश्य ही उत्पन्न करना है और उत्पन्न करना है मानव-मात्र में अविश्वास तो यह नाटक भलीभाँति सफल हुआ है, किंतु कदाचित् कला का यह ध्येय नहीं है। संसार में कोमलता भी है, पवित्रता भी है, सुंदरता भी है और विश्वास भी है किंतु लेखक के संसार में ये कहाँ हैं? कदाचित् किसी भी देश के दुखांत नाटकों का ध्येय इतना भयंकर नहीं होगा। रघुनाथ अंत तक ठोकरें खाता है, दुर्गा जिस के विकास की आशा की जा रही थी वह एक ही बार उपस्थित कर छोड़ दी जाती है, ललिता एक भावुक प्रेमिका मात्र ज्ञात होती है, असगरी भी अंत में राक्षस के मंदिर की एक सदस्या होती है, और राक्षस मुनीश्वर की विजय होती है।

इसी परिणाम के लिए पुस्तक उठाना अच्छा नहीं लगता और कुछ पाठक तो समझेंगे कि लेखक उन के साथ विश्वासघात करता है। पहिले ही अंक में तीन बार वीभत्स आलिंगन के दृश्य हमारे सामने आते हैं। वाक्य कदाचित् थोड़े से ही कुल नाटक भर में पूर्ण मिलेंगे, यहाँ तक कि भूमिका में भी विंदु-रेखाओं का बाहुल्य है। नाटक को उठाने पर समझता था, उत्कट 'वासनाओं का आरंभ हो कर शांत हृदय में अवसान' होगा, किंतु निराश होना पड़ा। लेखक में क्रांतिकारी विचारों को घोर भयंकरता के साथ प्रस्तुत करने की इच्छा जान पड़ती परंतु इस युग में जब संसार में विचारों की स्वतंत्रता बहुत बढ़ गई है एक तो सचमुच क्रांतिकारी विचार उपस्थित करना इतना सहज नहीं जितना लेखक समझ रहा है। उस के विचार पाश्चात्य के विचारकों के उच्छिष्ट जान पड़ते हैं। दूसरे क्रांतिकारी विचारों को संयम से उपस्थित करने में ही उन का प्रभाव स्थापित हो सकता है। कदाचित् इस बात को लेखक बिल्कुल समझ नहीं सका है।

मा० गु०

हिंदुस्तानी एकेडेमी का वार्षिक कार्य-विवरण

(१९३१-३२)

एकेडेमी की मई १९३० से आरंभ होने वाली तिसाला अवधि का दूसरा वर्ष खतम होने को आ रहा है। इस साल के कार्य का विवरण मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ।

यह साल हमारे लिए आर्थिक संकट का साल रहा है। सारी दुनिया में यह आर्थिक संकट बड़े घोर रूप में व्याप्त है और हमारे देश तथा हमारे प्रांत पर भी इस का बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। सरकार की आमदनी में घटी होने का नतीजा यह हुआ है कि सभी तरफ़ उसे ख़र्च में काट-छाँट करनी पड़ी है। दुर्भाग्यवश एकेडेमी को मिलने वाले रुपये में जो काट हुई है उस का औसत अन्य संस्थाओं की काट के औसत से बहुत ज्यादः है। हमारी आय इस साल ५०,०००) से घटा कर ३०,०००) कर दी गई है अर्थात् ४० फी सदी की कमी इस में हुई है।

यह बात स्पष्ट है कि ३०,०००) की तादाद हिंदी और उर्दू दो भाषाओं के प्रोत्साहन के लिये काफ़ी नहीं है। हमें अपना कार्यक्रम बहुत कुछ नियंत्रित करना पड़ा है और मुझे इस बात का भय है कि इस काट के कारण आने वाले सालों में भी एकेडेमी के कार्य के विस्तार पर बुरा असर पड़ेगा।

मेरी केवल यही आशा है कि आर्थिक दशा शीघ्र ही सुधरेगी और हमारी कठिनाइयाँ केवल थोड़े दिन की साबित होंगी।

हमारे कार्य-क्रम का सब से मुख्य अंग भिन्न भिन्न विषयों पर दोनों भाषाओं में पुस्तकों का प्रकाशित करना है।

इस साल में हम ने नीचे लिखे विषयों पर पुस्तकें प्रकाशित की हैं—

नाटक २

कविता ४

साहित्यिक जीवन-चरित्र २

इतिहास २

ज्योतिः शास्त्र १

जीव-विज्ञान २

खेती १

पाँच और किताबें, नीचे लिखे विषयों पर छप रही हैं और हमें आशा है कि हम उन्हें बहुत शीघ्र प्रकाशित कर सकेंगे।

ऐतिहासिक जीवन चरित्र ३

भूगोल १

अर्थशास्त्र १

उन्नीस पुस्तकों की हस्तलिखित प्रतियाँ छापने के लिये स्वीकार की जा चुकी हैं और छपने वाली हैं। ये नीचे लिखे विषयों पर हैं—

नाटक ९

भाषा विज्ञान १

साहित्यिक जीवन-चरित्र १

कविता २

इतिहास १

ऐतिहासिक जीवन-चरित्र १

दर्शन ३

विज्ञान ३

बाग़बानी १

इन के अतिरिक्त हमारे लिए २६ पुस्तकें और लिखी जा रही हैं। उन के लिए लेखक नियुक्त हो चुके हैं। इन में साहित्यिक और वैज्ञानिक दोनों प्रकार के बहुत से विषय आ गए हैं।

प्रकाशन के कार्य के संबंध में हमें जनवरी १९३१ से प्रकाशित हिंदी और उर्दू दोनों ही भाषाओं के तिमाही 'हिंदुस्तानी' की चर्चा करनी शेष रह जाती है। इन का पहिला साल समाप्त हो चुका है। यह अभी नहीं कहा जा सकता कि इन्हें सफलता मिली या नहीं और [illegible] लिए इन के संबंध में राय देना असंभव है।

इस में संदेह नहीं कि इन की कुछ बातों पर विवाद खड़े हुए हैं, परंतु मेरा विश्वास है कि सब कुछ देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इन पत्रिकाओं की विद्वानों ने प्रशंसा की है और इन्हों ने अपने लिये हमारे प्रांत के पत्रों में आदरणीय स्थान प्राप्त कर लिया है।

व्याख्यान

इस साल के व्याख्यान देने वालों में एक तो डाक्टर ज़ाकिर हुसैन, पी-एच्० डी०, दिल्ली की जामिया-मिल्लिया के प्रिंसिपल हैं। आप के व्याख्यान का विषय 'अर्थशास्त्र' है।

पंडित पद्मसिंह शर्मा, जो अपना व्याख्यान पिछले वर्ष कुछ घरेलू कारणों से नहीं दे पाए थे, इस साल 'हिंदी-उर्दू या हिंदुस्तानी' विषय पर देंगे।

दुर्भाग्य से मिस्टर एन्० सी मेहता साहब जिन्हों ने 'भारतीय कला' पर व्याख्यान देना स्वीकार किया था इस वर्ष व्याख्यान न दे सकेंगे।

पुरस्कार

इस साल के पुरस्कार पाने वाले यह हैं—

पंडित रामचंद्र शुक्ल। आप का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' साहित्य-समालोचना विषय की सब से मूल्यवान पुस्तक समझी गई।

डाक्टर मकुंदस्वरूप वर्मा। आप की 'मानव शरीर रहस्य' नामक शरीर-विज्ञान-संबंधी पुस्तक विज्ञान की पुस्तकों में सब से अच्छी मानी गई।

मिस्टर आफ़्ताब उमर की 'सदाए बर्क़' बेतार के तार विषय पर उर्दू में विज्ञान की पुस्तकों में पुरस्कार के योग्य समझी गई।

इन के अतिरिक्त विद्यार्थियों को उत्साहित करने के लिए जो पुरस्कार दिए गए हैं वह यह हैं—

(१) मिस्टर मक़बूल हुसैन, (इलाहाबाद यूनिवर्सिटी) को एकांकी नाटक पर।

(२) मिस्टर अज़ीमुल हक़, (क्राइस्ट चर्च कालिज, कानपुर) को साहित्य समालोचना संबंधी निबंध पर।

३ श्रीयुत तुलसीराम शर्मा यूनिवर्सिटी को कहानी के लिए

(४) श्रीयुत माताप्रसाद गुप्त (इलाहाबाद यूनिवर्सिटी) को साहित्य-समालोचना-संबंधी निबंध पर।

(५) श्रीयुत उमाशंकर बाजपेई (लखनऊ यूनिवर्सिटी) को कविता पर।

विद्यार्थियों की प्रतियोगिता के निर्णायक हमारे प्रांत की पाँचो यूनिवर्सिटियों के एक-एक प्रतिनिधि थे। इलाहाबाद में ही सब ने मिल कर अपना अंतिम निर्णय किया था।

स्कालरों और संपादकों के साहित्यिक कार्य

उर्दू स्कालर ने उर्दू कविता की एंथालोजी (संग्रह) का कार्य पिछले साल में ही समाप्त कर लिया था। यह संग्रह ६ भागों में ख़तम हुआ है। निम्न-लिखित सज्जनों की एक कमिटी इसलिये नियुक्त हुई थी कि वह इस संग्रह की जाँच करे और इस में क्या क्या सुधार हो सकते हैं इस पर राय दे।

(१) मौलवी सैयद सुलैमान साहब नदवी।

(२) डाक्टर ए० एस० सिद्दीक़ी।

(३) मौलवी मिर्ज़ा मोहम्मद असकरी साहब।

(४) ख़ाँ बहादुर सैयद जाफ़र अली ख़ाँ साहब 'असर'।

(५) मौलवी मसूदहसन साहब रिज़्वी।

(६) मौलाना मुहम्मद नईमुर्रहमान साहब।

कमिटी के सदस्यों ने अपना बड़ा मूल्यवान समय ख़र्च कर के संग्रह के दुहराने का कार्य किया है। कुछ जिल्दें तो हमारे पास देख कर आ गई हैं, और भी शीघ्र आने वाली हैं।

इस बीच में स्कालर ने एंथालोजी की भूमिका लिख ली है। इस में विस्तार से संग्रह के उसूलों का, प्रत्येक समय की भाषा और कविता की विशेषताओं का तथा उर्दू-कविता के विकास का वर्णन है।

यह लाइब्रेरी के उर्दू-विभाग का निरीक्षण भी करते रहे हैं।

हिंदी स्कालर ने हिंदी कविता की एंथालोजी के कार्य में बहुत कुछ उन्नति की है यह हमारी साहित्यिक एडवाइज़री कमिटी की सलाह से काम कर रहे हैं

रायसाहब बाबू श्यामसुंदरदास ने वीर-गाथा काल के अर्थात् पहिले भाग के संग्रह को पढ़ने की कृपा की और संग्रह के संबंध में तथा उस की समाप्ति के विषय में बहुत मूल्यवान् सम्मति दी है। उन्ही की राय के अनुसार वीरगाथा काव्य पर हस्तलिखित पुस्तकों और उन की नकलों को प्राप्त करने का प्रबंध हुआ और हो रहा है।

संत-काव्य वाला भाग भी अब समाप्त हो गया है।

हिंदी स्कालर के निरीक्षण में लाइब्रेरी का हिंदी-विभाग है।

उर्दू संपादक उर्दू 'हिंदुस्तानी' का संपादन करते हैं। इस के अतिरिक्त उन्हें एकेडेमी में आई हुई पुस्तकों की हस्तलिखित प्रतियाँ पढ़ना तथा उन पर राय देना पड़ता है। और इसी के आधार पर एक्ज़िक्यूटिव कमिटी यह निर्णय करती है कि उन पर और विचार होना चाहिए या नहीं। प्रकाशनार्थ स्वीकृत पुस्तकों में से कुछ के दुहराने का कार्य भी आप के सुपुर्द है। यह एक अस्थायी सहकारी की सहायता से हिंदी से उर्दू में अनुवाद भी कर रहे हैं।

हिंदी संपादक के सुपुर्द हिंदी 'हिंदुस्तानी' पत्रिका का संपादन, मैनुस्क्रप्टों पर राय देना, उन का सुधारना और पुस्तकों के प्रकाशन का प्रबंध करना है।

दफ़्तर के सुपरिंटेंडेंट को, अपने अन्य कार्यों के साथ कुछ पुस्तकों का संपादन और हिंदी मैनुस्क्रप्टों के दुहराने का काम सुपुर्द है। पारिभाषिक शब्दकोष के संबंध में भी यह कुछ प्रारंभिक कार्य कर रहे हैं। इस शब्द-कोष का आधार उन शब्दों का इकट्ठा करना होगा जो हिंदुस्तानी कारीगरों और पेशावरों द्वारा उन की चीज़ों, औज़ारों और क्रियाओं के लिये व्यवहृत होते हैं।

एकेडेमी की कौंसिल ने पिछले वर्ष हिंदी और उर्दू को सरल बनाने के प्रश्न पर विचार करने के लिये एक कमिटी बनाई थी। इस विषय पर कुछ लोगों के बीच में कुछ ग़लत धारणाएं फैली हुई हैं। कुछ लोगों को ऐसा भय है कि एकेडेमी या उस के कुछ सदस्य हिंदी और उर्दू को ऐसी दिशाओं में ले जाना चाहते हैं जो उन के लिये कल्याणकर नहीं। यह बात तो स्पष्ट ही है कि किसी भाषा या साहित्य का विकास व्यक्तिगत कल्पनाओं के अधीन नहीं है, वह कई बातों पर आश्रित है जिन में से निश्चय-पूर्वक और जानबूझ कर किया गया उद्योग केवल एक है। यदि इस उद्योग की सहायक जनता की सम्मति नहीं होती, या यह समय की गति के साथ साथ

नहीं चलता और समाज की प्रेरणा करनेवाले बलों की सहानुभूति नहीं प्राप्त करता तो यह अवश्य असफल होगा।

इस प्रस्ताव को प्रस्तुत करने वालों की केवल यही इच्छा है कि बिना किसी को अपनी स्वाभाविक शैली के छोड़ने पर विवश किए हुए इस प्रश्न पर विचार हो कि हिंदी को अति संस्कृत-युक्त और उर्दू को अति अरबी-युक्त होने के दोष से बचाना संभव है या नहीं। इस में कदापि हानि नहीं कि इस बात का उद्योग हो कि हिंदी और उर्दू विचारों को प्रकट करने की माध्यम होते हुए अपने ही पैरों के बल पर खड़ी हों और दूसरी भाषाओं का वह चाहे जीवित हों या मृत और चाहे जितनी समृद्धिशाली या बलशाली हों, सहारा न लें। और न इन दोनों भाषाओं—जिन्हें भाषा-वैज्ञानिक वास्तव में एक बताते हैं—के बीच जो भेद-भाव है उन्हें कम करने के प्रयत्न के मार्ग निकालने में ही कोई हानि की संभावना है। इस का परिणाम एकमात्र भला ही हो सकता है।

जैसा भी हो, स्थिति यह है कि इस विषय पर विचार करने के लिए जो कमिटी बैठी थी उस ने अपनी एक रिपोर्ट तैयार की है जो कौंसिल के सामने पेश होगी। यह काम कौंसिल का होगा कि इस के प्रस्तावों को स्वीकार करे, उन में कुछ तब्दीली करे या उन्हें बिल्कुल नामंज़ूर करे। जब तक उस का निश्चय न प्रकाशित हो जाय तब तक यह कहना किसी के लिये भी उचित न होगा कि एकेडेमी ने एक विशेष नीति ग्रहण की है। यदि इस बात के विरोध की आवश्यकता हो तो एकेडेमी द्वारा प्रकाशित पुस्तकें हमारी बात को प्रमाणित करेंगी।

पुस्तकालय

हमारा पुस्तकालय धीरे धीरे बढ़ रहा है। उस में इस समय हिंदी और उर्दू दोनों विभागों में तीन तीन हज़ार पुस्तकें हैं।

हमारी यह इच्छा रही है कि एकेडेमी का पुस्तकालय तथा वाचनालय जनता के लिये खुल जाय परंतु एकेडेमी की निज की कोई संतोषप्रद इमारत न होने की वजह से हम ऐसा नहीं कर सके हैं। तो भी अब हम ने जनता के लिये अपनी पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाओं के अध्ययन का अवसर प्रस्तुत किया है। नित्य शाम के वक्त दो घंटे के लिये हमारा जनता के लिए खुला रहता है

अंत में मैं कार्यकारिणी समिति के सदस्यों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ कि उन्हों ने अपनी बहुमूल्य सहायता से एकेडेमी के कार्यों को सफल बनाया है।

मैं सर शाह मुहम्मद सुलैमान को पुनः धन्यवाद दूँगा जिन्हों ने अपना क़ीमती समय एकेडेमी के कार्यों के लिये सदा बिना संकोच दिया है। मैं निजी रूप से उन का बहुत अनुगृहीत हूँ क्योंकि मैं ने उन की कृपा और मित्रता से बराबर लाभ उठाया है।

एकेडेमी के सभापति सर तेजबहादुर सप्रू का मैं अत्यंत उपकार मानता हूँ। अन्य आवश्यकीय कार्यों में लगे रहते हुए भी वह एकेडेमी के लिये सदा समय देते रहे हैं।

ताराचंद
जेनरल सेक्रेटरी
हिंदुस्तानी एकेडेमी यू० पी०
इलाहाबाद

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग २ } जुलाई १९३२ { अंक ३

'मूल गोसाईंचरित' की ऐतिहासिकता पर कुछ विचार

[लेखक—श्रीयुत माताप्रसाद गुप्त, एम० ए०]

'मूल गोसाईंचरित' में जिन प्रमुख साहित्यिक तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों के संबंध में उल्लेख आए हैं वे इस प्रकार हैं :—

साहित्यिक—हितहरिवंश, सूरदास, गोकुलनाथ, मीराबाई, रसखान, केशवदास, नाभादास, नंददास, मलूकदास तथा गंग।

ऐतिहासिक—उदयसिंह, दिल्लीपति, टोडर जमीनदार, रहीम, जहाँगीर तथा बीरबल।

प्रस्तुत निबंध में साहित्यिक व्यक्तियों में से अंतिम दो तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों में अंतिम, अर्थात् मलूकदास, गंग तथा बीरबल को छोड़कर सब पर विचार किया गया है

का उल्ले- 'मूल ' में इस प्रकार आता है

दोहा—देव मुरारी भेंट मिलि, सहित मलूका दास ।

पहुँचे काशी में ऋषय, किये अखंड निवास ॥ ८३ ॥

और यह घटना उक्त ग्रंथ के अनुसार १६५५-५६ वि० की ज्ञात होती है। बालक विनायकराव जी ने देवमुरारी जी को मलूकदास का गुरु माना है।[1] यद्यपि यह उक्त उद्धरण से स्पष्ट नहीं होता; किंतु साहित्य के इतिहासों से इस विषय पर प्रकाश नहीं पड़ता। मलूकदास का जन्म १६३१ वि० में हुआ था और इस समय उन की अवस्था २४-२५ वर्ष की रही होगी, अतएव, यदि वे देवमुरारी के शिष्य रहे हों तभी गोस्वामी जी ऐसे १०० वर्ष के वृद्ध महात्मा का उन से भी भेंट कर लेना अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता है, किंतु इस विषय पर दृढ़तापूर्वक कुछ न कहे जा सकने के कारण प्रस्तुत निबंध में इन पर विचार नहीं किया गया है।

इसी प्रकार, गंग की मृत्यु १६६९ वि० में होने का उल्लेख 'मूल गोसाईं-चरित' (दो० ९१, ९२) में होता है और उस मे यह भी लिखा है कि गोस्वामी जी को दुर्वचन कहने के कारण मार्ग में उसे एक हाथी ने मार डाला। किंतु गंग की मृत्यु का निश्चित समय न ज्ञात हो सकने के कारण इस विषय में ठीक कहा नहीं जा सकता; कम से कम गोस्वामी जी को दुर्वचन कहने के कारण उस की ऐसी दुर्गति हुई यह भी कहीं अन्यत्र नहीं आया है।

बीरबल के विषय मे 'मूल गोसाईंचरित' में इस भाँति उल्लेख आया है :—

बिरबल की चरचा चली, जो पटु वाग विलास।

बुद्धि पाइ नहिं हरि भजे, सुनि किय क्षोभ प्रकाश ॥ ९८ ॥

यह घटना १६७० की समाप्ति पर जहाँगीर के आने पर हुई है और बीरबल १५८६ ई० (सं० १६४२ वि०) को[2] ही वीरगति को प्राप्त हो चुके

---

[1] 'श्रीमद्गोस्वामि चरितम्', पृ० ३६।

[2] 'हिंदुस्तानी,' जनवरी १९३१, पृ० १५

थे, फिर भी उपर्युक्त उल्लेख में काल का आशय स्पष्ट न हो सकने के कारण विचार नहीं किया जा सकता।

यहाँ पर विचार करने में पुस्तक के उल्लेखों का क्रम रक्खा गया है।

हितहरिवंश

वेणीमाधवदास हितहरिवंश जी के विषय में इस प्रकार उल्लेख करते हैं—

वृंदाबन ते हरिवंस हितू।
प्रियदास नवल निज सिष्य भृतू॥
पठये तिन आइ जोहार किए।
गुरुदत्त सुपोथि सप्रेम दिए॥
जमुनाष्टक राधा सुधा निधि जू।
अरु राधिका तंत्र महा विधि जू॥
अरु पाति दई हित हाथ लिखी।
सोरह सै नव जन्माष्टमि की॥
तेहि माहिं लिखी बिनती बहुरी।
सोइ बात सुखागर सों कहुरी॥
रजनी महारासि की आवत जू।
चित मोर सदय ललचावत जू॥
रसिकै रस मों तनु त्याग चहौं।
मोहिं आशिष देइय कुंज लहौं॥

सोरठा—सुनि बिनती मुनिनाथ, एवमस्तु इति भाषेऊ।
तनु तजि भए सनाथ, नित्य निकुंज प्रवेस करि॥ ८॥

अतः यह स्पष्ट है कि 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार हितहरिवंश जी ने

(क) १६०९ वि० के पूर्व ही 'यमुनाष्टक', 'राधासुधानिधि', तथा 'राधिकातंत्र' की रचना समाप्त की थी। और,

(ख) उन्होंने १६०९ वि० की महारास रजनी अर्थात् कार्तिकी पूर्णिमा को शरीर त्याग किया।

ग्रंथों के विषय में ठीक तिथियों का अनुसंधान कदाचित् अभी तक नहीं हुआ है, किंतु 'हित जी का रचनाकाल १६०० से १६४० वि० तक माना जाता है।'[1]

हित जी की मृत्यु के निश्चित संवत् के विषय में संभव है कोई मत-भेद हो किंतु इतना निश्चित है कि उन का देहांत १६०९ वि० में नहीं हुआ क्योंकि 'ओरछा नरेश महाराज मधुकर साह के राजगुरु श्री हरिराम व्यास जी सं० १६२२ के लगभग आप के शिष्य हुए थे।'[2]

सूरदास तथा गोकुलनाथ

वेणीमाधवदास लिखते हैं—

दोहा—सोरह सै सोरह लगै, कामद गिरि ढिग बास।
सुभ एकांत प्रदेस महँ, आए सूर सु दास ॥ २९ ॥
पठये गोकुलनाथ जी, कृष्ण रंग में बोरि।
दृग फेरत चित चातुरी, लीन गोसाईं छोरि ॥ ३० ॥

कवि सूर दिखायउ सागर को।
सुचि प्रेम कथा नट नागर को ॥
पद द्वय पुनि गाय सुनाय रहे।
पद पंकज पै सिर नाय रहे ॥
अस आसिस देहु स्याम ढरै।
यहि कीरति मोरि दिगंत चरै ॥
सुनि कोमल बैन सुदादि दिए।
पद-पोथि उठाइ लगाइ हिए ॥
कहै स्याम सदा रस चाखत हैं।
रुचि सेवक की हरि राखत हैं ॥

---

[1] 'हिंदी साहित्य का इतिहास,' पृ० १७७।

[2] वही, पृ० १०६।

तनिको नहिं संशय है यहि माँ।
श्रुति शेष बखानत हैं महिमा ॥
दिन सात रहै सतसंग पगै।
पद कंज गहै जब जान लगै ॥
गहि बाँह गोसाईं प्रबोध किये।
पुनि गोकुलनाथ को पत्र दिये ॥
लै पाति गए जब सूर कबी।
उर में पधराय कै स्याम छबी ॥

दो०—तब आयो मेवाड़ ते विप्र नाम सुखपाल''' ॥ ३१ ॥

अतएव, 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार सूरदास गोस्वामी जी के पास १६१६ वि० में आए। अभी तक सूरदास की मृत्यु की तिथि निश्चित नहीं हो सकी है, किंतु अनुमान यही किया जाता है कि उन का देहांत १६१७-२० वि० के बीच या कुछ ही पीछे हुआ होगा। फिर भी उन के समय का जो अनुमान विद्वान् करते आए हैं उस के अनुसार १६१६ वि० में सूरदास की अवस्था लगभग ७६ वर्ष की रही होगी और ऊपर का विवरण ऐसे वृद्ध महात्मा के लिये कम प्रामाणिक जँचता है।

संभव है सूरदास जी से गोसाईं जी से भेंट हुई हो, किंतु यह कदापि नहीं माना जा सकता कि १६१६ वि० में उन्हें 'गोकुलनाथ जी ने कृष्ण रंग मे डुबो कर भेजा' होगा। यहीं तक नहीं गोस्वामी जी ने सूरदास के हाथ उन के नाम एक पत्र भी दिया। गोकुलनाथ का समय १६०८ से १६९८ वि० माना जाता है। अतएव, यह नितांत असंभव प्रतीत होता है कि उन्हों ने सूरदास को कृष्ण रंग मे डुबो कर गोस्वामी जी के पास भेजा होगा और गोस्वामी जी ने भी उन के नाम पत्र दिया होगा।

मीराबाई और उन का पत्र

वेणीमाधवदास लिखते हैं:—

लै पाति गए जब सूर कबी।
उर में पधराय कै स्याम छबी ॥

दोहा—तब आयो मेवाड़ ते, विप्र नाम सुख पाल।
मीराबाई पत्रिका, लायो प्रेम प्रवाल॥ ३१॥
पढ़ि पाती उत्तर लिखे, गीत कवित्त बनाय।
सब तजि हरि भजिबो भलो, कहि दिय विप्र पठाय॥ ३२॥

जिस से यह ज्ञात होता है कि मीराबाई ने १६१६ वि० में गोस्वामी जी को पत्र भेजा था। इस पत्र के विषय में विचार करने के लिये मीरा के दोनों कुलों के इतिहास से कुछ परिचित होना पड़ेगा। इसलिए पहिले दोनों राजवंशों का उपयोगी विस्तार नीचे दिया जाता है।

मेड़ता राजवंश

दूदाजी (मेड़ता)
- १ वीरम जी — जयमल
- (२)
- (३)
- ४ रत्नसिंह — मीरा

मेवाड़ राजवंश

राणा साँगा
- भोजराज
- कर्ण
- रत्नसिंह
- विक्रमाजीत
- उदयसिंह
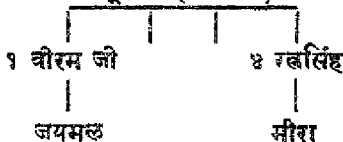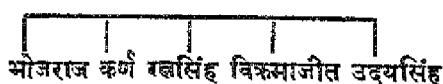
मीरा के पितृकुल तथा श्वसुरकुल का संबंध १५७३ वि० में[१] उन का कुँवर भोजराज के साथ विवाह होने पर स्थापित हुआ। भोजराज की मृत्यु १५८३ वि० के पूर्व ही हो चुकी थी। १५८५ वि० में राणा सांगा की भी मृत्यु हो गई। उन की मृत्यु के पीछे दो वर्षों में दो राजकुमार कर्ण तथा रत्नसिंह गद्दी पर बैठे और फिर १५८७ वि० में विक्रमाजीत गद्दी पर बैठे और १५९४ तक उस पर स्थित रहे, जब बनवीर ने उन से गद्दी छीन ली। विक्रमाजीत ही वे राणा थे जो मीरा को कष्ट देते थे अतएव, यदि मीरा ने गोस्वामी जी को अपने पीड़ित होने का कोई पत्र लिखा होगा तो वह १५८७ से १५९४ के बीच होगा, न कि उस से २२ वर्ष पीछे। राजस्थान के इतिहासकार तो १६०३ ही

[१] 'महिलामृदुवाणी,' पृ० ५९ से 'हिंदुस्तानी' जनवरी ३१ के 'मीराँबाई' लेख में उद्धृत।

में मीरा की मृत्यु भी मानते हैं। इस दशा में मीराबाई ने १६१६ में गोस्वामी जी को पत्र लिखा होगा यह असंभव ज्ञात होता है।

रसखान

वेणीमाधवदास लिखते हैं कि जब 'मानस' १६३३ वि० के मार्गशीर्ष मे अयोध्या में समाप्त हुआ तो सब से पहिले उसे वहीं मिथिला के रूपारुण स्वामी ने सुना[1], उन के पीछे संडीला-निवासी[2]।

स्वामि नंद सुलाल को सिष्य पुनी।
तिसु नाम दयालु सुदास गुनी॥
लिखि कै स्वइ पोथी स्वठाम गयो।
गुरु के ढिग जाय सुनाय दयो॥
यमुना तट पै त्रय वत्सर लौं।
रस खानहिं जाइ सुनावत भो॥ ६६॥

जिस से यह स्पष्ट ज्ञात होता है १६३४-३७ में रसखान ने संडीले के दयालदास से यमुनातट पर 'मानस' सुना।

'२५२ वैष्णवन की वार्ता' में २१८ वीं वार्ता का विषय है—

"गोसाईं जी के सेवक रसखान पठान दिल्ली में रहेते हते तिन की वार्ता।" उक्त वार्ता में यह भी लिखा है कि ये एक साहूकार के लड़के पर बुरी तरह से मुग्ध थे। एक बार चार वैष्णव जा रहे थे तो आपस में उन्हो ने यह चर्चा की कि यदि कोई प्रेम करे तो रसखान की भाँति। रसखान का ध्यान जब उन की ओर आकर्षित हुआ तो उन्हों ने श्रीनाथ जी का चित्र दिखाया जिस से रसखान का मन उस लड़के से हट कर श्रीनाथ जी में लग गया। वे अब वृन्दावन आए और गोसाईं विट्ठलनाथ जी के सेवक हुए। 'तब ते रसखान ने अनेक कीर्तन और कवित्त, और दोहा बहोत प्रकार के बनाए।'

रसखान ने 'प्रेमवाटिका' की रचना १६७१ में की। 'विट्ठलेश जी का

---

[1] 'मूल गोसाईंचरित', दोहा ६६।

[2] वही, दो० २८

मरण-काल १६४३ है सो इन का १६४० के लगभग उन का शिष्य होना जान पड़ता है। अतः इन का जन्म-काल १६१५ के लगभग समझते हैं।'[1] इस दशा में रसखान ने १६३४-३७ में 'मानस' सुना होगा—सो भी ३ वर्ष तक लगातार—विश्वासयोग्य नहीं ज्ञात होता। उस समय वे कदाचित् साहू-कार के लड़के की कथा पर 'मानस' की अपेक्षा अधिक ध्यान देते रहे होंगे।

केशवदास तथा रामचंद्रिका

वेणीमाधवदास लिखते हैं कि मीन की सनीचरी के उतरते ही (मीन की सनीचरी का अंत १६४२ के ज्येष्ठ में हुआ) काशीपुरी में मरी का प्रकोप हुआ किंतु उसे गोसाईं जी ने भगवान से विनय कर के भगा दिया।[2] मरी के पीछे ही

> कवि केशवदास बड़े रसिया।
> घनश्याम सुकुल नभ के बसिया॥
> कवि जानि के दर्शन हेतु गए।
> रहि बाहर सूचन भेजि दिए॥
> सुनि कै जु गोसाईं कहै इतनो।
> कवि प्राकृत केशव आवन दो॥
> फिरि गे झट केशव सो सुनि कै।
> निज तुच्छता आपुइ ते गुनि कै॥
> जब सेवक टेरेउ गे कहि कै।
> हौं भेटिहौं काल्हि विनय गहि कै॥
> घनश्याम रहै घासीराम रहै।
> बलभद्र रहै बिसराम लहै॥
> रचि राम सुचंद्रिका रातहि में।
> जुरै केशव जू असि घाटिहि में॥ ५८॥

---

[1] 'मिश्रबंधुविनोद,' पृ० ३३८ [सं० १९८३]।

[2] 'मूल गोसाईंचरित,' दो० ५७।

जिस से यह स्पष्ट है कि 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार 'रामचंद्रिका' की रचना १६४३ के लगभग की है, किंतु यह नितांत अशुद्ध है क्योंकि उक्त ग्रंथ के आदि में ही स्पष्ट शब्दों में लिखा हुआ है कि उस की रचना १६५८ में हुई। 'इस ग्रंथ को केशवदास ने सं० १६५८ वि० कार्तिक सुदी १२ बुधवार को समाप्त किया। इसे इंद्रजीत सिंह ने बनवाया था।'[1] अतएव, 'मूल गोसाईं-चरित' का उल्लेख कितना भ्रमपूर्ण है!

इसी प्रकार, वेणीमाधवदास आगे चल कर सं० १६५३-५४ के लगभग केशवदास के प्रेत का उल्लेख करते हैं जिस से यह स्पष्ट ही है कि उन के अनुसार केशव का देहांत १६५३ के पूर्व हो चुका होगा। वे लिखते हैं—

सोरठा—उड़छे केशवदास, प्रेत हते घेरे मुनिहिं।
उबरे बिनहिं प्रयास, चढ़ि विमान स्वर्गहिं गए॥ १९॥

किंतु १६५३-५४ तक तो 'रामचंद्रिका' की भी रचना न हो पाई थी और इस में संदेह नहीं कि यदि उस समय या उस से पूर्व ही केशवदास की मृत्यु हो गई होती तो हिंदी साहित्य को एक महाकवि और आचार्य खोना पड़ता। यह अवश्य है कि हमें केशवदास की मृत्यु की निश्चित तिथि का यथार्थ ज्ञान नहीं है। फिर भी, वे १६५३-५४ के कम से कम १५ वर्ष पीछे तक जीवित रहे यह निस्संदेह है, क्योंकि १६५८ में उन्हों ने 'कविप्रिया' तथा 'रामचंद्रिका', १६६४ में 'वीरसिंहदेवचरित', १६६७ में 'विज्ञानगीता' और १६६९ में 'जहाँगीरजसचंद्रिका' नामक ग्रंथों की समाप्ति की। अतएव, वेणीमाधवदास का यह प्रेत विषयक उल्लेख भी नितांत भ्रमपूर्ण है।

नाभादास

वेणीमाधवदास के अनुसार १६४९ के मार्गशीर्ष में गोसाईं जी वृंदाबन पहुँचे और वहाँ नाभा जी से भेंट हुई। उस के पश्चात् मदनमोहन के दर्शन को उन के साथ गए—

---

[1] 'हिंदीनवरत्न,' पृ० ४६६।

दोहा—विप्र संत नाभा सहित हरि दर्शन के हेत।
गए गोसाईं मुदित मन मोहन मदन निकेत ॥ ७३ ॥
राम उपासक जानि प्रभु तुरत धरे धनु बान।
दर्शन दिए सनाथ किय भक्त बछल भगवान ॥ ७४ ॥

यहाँ पर नाभा जी को 'विप्र संत' कहा गया है, किंतु नाभा जी डोम कहे जाते हैं। कुछ लोग डोम का आशय क्षत्री तथा कुछ मारवाड़ आदि की एक गायक जाति से लेते हैं किंतु उन्हें 'विप्र संत' कदाचित् अन्य कोई नहीं कहता। इस के अतिरिक्त, ऊपर जिस कथा का वर्णन है '२५२ वैष्णवन की वार्ता' में नंददास जी के साथ श्रीनाथ जी का दर्शन करते हुए उसी कथा का उल्लेख हुआ है। अतएव 'मूल गोसाईंचरित' के इस विवरण पर भी सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता।

नंददास

वेणीमाधवदास ने १६४९-५० मे ही वृंदावन मे नंददास से भी भेंट कराई है।[1] किंतु '२५२ वार्ता' मे नंददास की वार्ता मे यह भी लिखा है कि वे गोस्वामी जी को गोसाईं विट्ठलनाथ जी के पास लिवा गए थे। गोसाईं जी का देहांत १६४३ में हुआ अतएव, नंददास से वृंदावन मे इस से भी पहले भेंट हुई होगी न कि १६४९-५० में। अतएव, 'मूल गोसाईंचरित' का यह उल्लेख भी कदाचित् शुद्ध नहीं जँचता है।

यहाँ तक हम ने 'मूल गोसाईंचरित' के साहित्यिक व्यक्तियों तथा उन से संबंध रखने वाली घटनाओं के उल्लेखों पर विचार किया है आगे हम उस में आने वाले ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा उन से संबंध रखने वाली घटनाओं पर विचार करेंगे।

उदयसिंह और शाही सभाओं में उन का सम्मान

वेणीमाधवदास लिखते हैं—

---

[1] 'मूल गोसाईंचरित, दो० ७५।

दोहा—जेहि दिन साहि सभान में उदय लह्यो सन्मान।
तेहि दिन पहुँचे अवध में श्री गोसाइँ भगवान ॥ ३७ ॥
युग वत्सर बीते न बृत्ति ढर्‌यो।
इकतीस को संवत आन लग्यो ॥ ३८ ॥

जिस से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि उदयसिंह को १६२९ वि० में शाही सभाओं में सम्मान मिला होगा। किंतु इतिहास-लेखकों का मत है कि सम्मान न उदयसिंह को मिला और न प्रतापसिंह को ही; वह अमरसिंह तथा कर्ण को मिला और वह भी जहाँगीर द्वारा प्रतापसिंह की मृत्यु के अनंतर। इस के अतिरिक्त, २३ फरवरी १५६८ ई० को अकबर ने चित्तौर गढ़ पर विजय पाई और इस के चार ही वर्ष पीछे[1] अर्थात् १६२८ वि० में उदयसिंह की मृत्यु हो गई तब उन्हें १६२९ में शाही सभाओं में किस भाँति सम्मान मिला होगा यह समझना कठिन है।

दिल्लीपति और दिल्ली में उस से भेंट

वेणीमाधवदास ने १६५३-५४ के लगभग गोस्वामी की दिल्लीपति से भेंट लिखी है। बादशाह के बुलाने पर गोस्वामी जी दिल्ली के लिए चल पड़े। मार्ग में केशवदास का वह प्रेत मिला, जिस का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। गोस्वामी जी ने इसी बीच एक स्त्री को 'मानस' के नवाह्निक पाठ से पुरुष बना दिया और दिल्ली पहुँचे।[2] यहाँ पर भी बड़ा कौतुक हुआ—

दोहा—दिल्लीपति बिनती करी, दिखरावहु करमात।
मुकरि गये बंदी किए, कीन्हें कपि उत्पात ॥ ८० ॥
बेगम को पट फारेऊ नगन भई सब बाम।
हाहाकार महल मच्यो पटको नृपहिं धड़ाम ॥ ८१ ॥
मुनिहिं मुक्त ततछन किए क्षमापराध कराय।
बिदा कीन्ह सन्मान युत पीनस पै पधराय ॥८२॥

---

[1] स्मिथ, 'अकबर दी ग्रेट मोगल,' पृ० ८८ तथा ९२।

[2] 'मूल गोसाईंचरित,' दो० ७८ ७९

इस प्रसंग में दिल्लीपति का आशय बालक विनायकराव जी ने जहाँगीर से लिया है और बा० श्यामसुंदर दास ने भी वही लिया है।[1] किंतु यह इतिहास की एक बहुत ही साधारण बात है कि जहाँगीर १६६२ वि० में गद्दी पर बैठा और १६५३-५४ वि० में अकबर दिल्लीश्वर था। अकबर के समय का पूरा और प्रामाणिक इतिहास हमें उपलब्ध है किंतु कदाचित् कहीं भी उस में इस घटना ही नहीं ऐसी किसी घटना का संकेत भी नहीं मिलता। अतः यहाँ भी 'मूल गोसाईंचरित' का उल्लेख भ्रमपूर्ण ज्ञात होता है।

टोडर के उत्तराधिकारी

वेणीमाधवदास लिखते हैं—

दोहा—सोरह सै उनहत्तरो, माधव सित तिथि धीर।
पूरन आयू पाइ कै, टोडर तजै सरीर ॥ ८७ ॥
पाँच मास बीते परे, तेरस सुदी कुआर।
युग सुत टोडर बीच मुनि, बाँट दिये घर वार ॥ ८९ ॥

जिस से यह स्पष्ट आशय निकलता है कि टोडर के घरबार का बँटवारा उन के दो लड़कों के बीच हुआ।

वह पंचनामा जिस में बँटवारा सविस्तर अंकित किया गया था सौभाग्यवश अब तक है, किंतु उस में दोनों पक्षों का नाम इस प्रकार आया है—

"आनंदराम बिन टोडर, बिन देवराय, व
कँधई बिन रामभद्र बिन टोडर मज़कूर—"

---

[1] गोस्वामी तुलसीदास पृ० १३५ ३९

अर्थात्
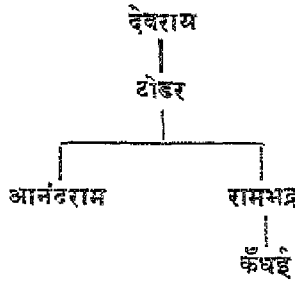
इस प्रकार यह नितांत स्पष्ट है कि बँटवारा आनंदराम और कँधई के बीच हुआ जो भाई भाई नहीं वरन् चचा भतीजे थे। आनंदराम टोडर का पुत्र अवश्य था किंतु कँधई टोडर का पौत्र था। अतएव, 'मूल गोसाईंचरित' का यह उल्लेख भी नितांत भ्रमपूर्ण है।

रहीम तथा उन के 'बरवै' की रचना

सं० १६६९ को घटनाओं का उल्लेख करते हुए वेणीमाधवदास लिखते हैं—

> दोहा—कवि रहीम बरवै रचै, पठये मुनिवर पास।
> लखि तेइ सुंदर छंद में, रचना कियउ प्रकास॥ ९२॥

जिस से यह ज्ञात होता है कि रहीम ने 'बरवै' १६६९ में रच कर गोसाईं जी के पास भेजा।

रहीम ने बरवै छंद में एक 'नायिकाभेद' की तथा कुछ स्फुट रचना की है किंतु अभी तक इन रचनाओं का समय नहीं निर्धारित हो सका है। फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि इन की रचना १६५१-५४ के लगभग की गई होगी।

रहीम के जीवन का सब से महत्त्वपूर्ण संवत् १६५७ है। १६५७ में अहमदनगर के पतन के साथ ही रहीम के भाग्यचक्र ने पलटा खाया। यद्यपि विजय अधिकांश में रहीम के प्रयत्नों से हुई कही जाती है और यह भी सुना जाता है कि उन्हों ने इस के उपलक्ष में ७५ लाख रुपये लुटा डाले किंतु यश मुराद को मिला इन्हीं दिनों उन की स्त्री का भी देहांत हो

गया। जहाँगीर के राजकाल में उन्हें और भी दुख रहा। आँखों के सामने ही दो जवान पुत्रों ने परमधाम की यात्रा की। अपनी पुत्री से शाहजहाँ का विवाह करने के कारण उत्तराधिकार के झगड़ों में स्वभावतः भाग लेना पड़ा और फलतः नूरजहाँ की क्रूरनीति का लक्ष्य बनना ही पड़ा। जहाँगीर ने भी इतने योग्य व्यक्ति का उचित सम्मान न किया और इसलिए भी रहीम के जीवन के अंतिम ३० वर्ष दुर्गति के थे और अंत में १६८६ वि० में उन्हों ने शरीर-त्याग किया।

ऐसी दशा में यह असंभव ज्ञात होता है कि १६५७ से ले कर १६८६ के बीच किसी समय 'बरवै' की रचना हुई होगी—बरवै की सरसता और भी यही पुष्ट करती है—अतएव, 'मूल गोसाईंचरित' का यह उल्लेख भी कम भ्रमपूर्ण नहीं लगता।

जहाँगीर तथा उस का काशी आगमन

बेणीमाधवदास लिखते हैं—

दोहा—जहाँगीर आयो तहाँ सत्तर संवत बीत।
धन धरती दीबो चहै गहै न गुनि बिपरीत॥ ९७॥

अर्थात् १६७० की समाप्ति पर जहाँगीर काशी आया उस ने गोस्वामी जी को धन धरती देना चाहा किंतु गोस्वामी जी ने उसे अपने सिद्धांत के विपरीत समझ कर ग्रहण नहीं किया।

जहाँगीर ने अपना जीवन वृत्त स्वयं 'तुज़ुक जहाँगीरी' नाम से लिखा है, उस में कहीं इस घटना की ओर संकेत भी नहीं है। 'स्वयं जहाँगीर के लेख से मालूम होता है कि वह १६६९ से १६७३ तक पूर्व की ओर आया ही नहीं।'[1] अतएव, ऐसी दशा में 'मूल गोसाईंचरित' का यह उल्लेख भी अशुद्ध ज्ञात होता है।

ऊपर हम ने 'मूल गोसाईंचरित' में आने वाले सभी प्रमुख साहित्यिक तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा उन से संबंध रखने वाली घटनाओं पर एक

---

[1] „ , 'गोस्वामी तुलसीदास' पृ० ११८

ऐतिहासिक के दृष्टि-कोण से विचार करने का प्रयत्न किया है। किंतु हम ने लगभग प्रत्येक स्थल पर देखा है कि उस के उल्लेख नितांत भ्रम-पूर्ण हैं। ऐसी दशा में उस में कितनी ऐतिहासिकता होगी इस का अनुमान सहज में किया जा सकता है और उस के कथन की कदाचित् आवश्यकता भी नहीं है।

नोट—यह निबंध हिंदुस्तानी एकेडेमी के तीसरे साहित्य सम्मेलन के अवसर पर पढ़ा गया था। सं०

अवधी की कुछ पहेलियाँ

[लेखक—श्रीयुत रामाज्ञा द्विवेदी, एम० ए०]

सभी साहित्यों मे पहेलियों का प्रचार है। हिंदी में तो अमीर खुसरो की पहेलियाँ बहुत ही प्रसिद्ध हैं, संस्कृत तथा फारसी मे भी पहेलियों की संख्या कुछ कम नहीं है। हाँ, संस्कृत के आचार्यों ने 'प्रहेलिका' को क्लिष्टता के कारण रस के परिपाक में सहायक न समझ कर ऊँचा स्थान नहीं दिया है। तथापि संस्कृत में अनेक सुंदर पहेलियाँ प्रचलित हैं जिन में क्लिष्टता के स्थान मे सुगमता तथा श्लेष की छटा मिलती है। देखिये, साधारण घड़े के ऊपर यह कैसी सुंदर पहेली है—

"तरुण्यालिंगितः कण्ठे नितम्बस्थलमाश्रितः।
गुरूणां सन्निधानेऽपि कः कूजति मुहुर्मुहुः ?"

ऊपर से देखने पर तो ऐसा आभास होता है कि मानों कोई धृष्ट नायक है जो गुरुजनों के निकट भी अपनी उद्दंडता से बाज़ नहीं आता है। एक दूसरी पहेली पत्र के ऊपर है जो सर्वथा स्पष्ट है परंतु तो भी सुंदरता में कम नहीं—

"अपदो दूरगामी च साक्षरो न च पंडितः।
अमुखः स्फुटवक्ता च यो जानाति स पंडितः॥"

अर्थात् उस के पैर नहीं हैं, पर दूर तक जाता है, साक्षर है पर विद्वान नहीं और यद्यपि मुखहीन है पर स्पष्ट बातें कह देने वाला है।

"सुभाषितरत्नभांडागार" में ऐसी पहेलियों का अच्छा संग्रह है। परंतु इन से भी अधिक सुंदर तथा असंख्य देहात की पहेलियाँ हैं जिन का अभी तक संग्रह हुआ ही नहीं। आज हम पाठकों को अवधी भाषा की कुछ चुनी पहेलियों का रसास्वादन कराएँगे। अभी तक गाँवों में जब सायंकाल

लोग चौपाल पर या जाड़े के अलाव पर बैठते हैं तो इन पहेलियों से बड़े बूढ़ों तथा बच्चों और जवानों सभी का मनोरंजन हो जाता है। पहले हम सबलसिंह के नाम से प्रचलित कुछ पहेलियाँ सुनाते हैं। ये सबलसिंह अयोध्या के पास के अरोड़ा स्थान के राज्यवंश में हुए हैं और इन की पहेलियाँ आस पास में बहुत प्रचलित हैं। पगडंडी (रास्ते) के ऊपर एक छोटी सी उक्ति है—

"सावन टेढ़ि[1] चैत माँ सरहरि[2],
कहैं सबलसिंह बूझौ नरहरि।"

अर्थात् वह कौनसी चीज़ है जो सावन में टेढ़ी-मेढ़ी और चैत में सीधी हो जाती है। देहात वालों को ज्ञात ही है कि चैत में खेतों की फ़सल कट जाने पर रास्ते सीधे हो जाते हैं और बरसात में इधर-उधर पानी भर जाने से फिर टेढ़े बन जाते हैं।

देहात में भिखमंगे सारंगी की तरह का एक छोटा सा बाजा बजा कर भीख माँगते फिरते हैं जिसे अवधी में "चिकारा" कहते हैं। चिकारे के ऊपर सबलसिंह की दूसरी पहेली है—

"भीतर पेट बहर[3] है आँती[4] कान्हें[5] दाँत जमाये हैं।
कहैं सबलसिंह खूब बना, तर[6] ऊपर हाथ लगाये हैं।"

अर्थात् पेट तो भीतर है पर अँतड़ियाँ बाहर हैं और कंधे मे दाँत हैं। ये अतड़ियाँ चिकारे के तार हैं और ऊपर लगी हुई छोटी-छोटी खूँटियाँ दाँत सी लगती हैं। ऊपर-नीचे हाथ लगा कर तो यह बजता ही है।

कहते हैं सबलसिंह से और एक पड़ोस की स्त्री से पहेलियों की लाग-डाँट रहती थी और वे एक दूसरे को गूढ़ से गूढ़ पहेलियाँ भेजते थे। एक बार की भेजी हुई पहेली यह थी—

"छः महीना क बिटिया[7] बरिस[8] दिन कै पेट[9]"

---

[1] टेढ़ी। [2] सीधी। [3] बाहर। [4] अँतड़ी।
[5] कन्धे पर [6] नीचे [7] बेटी [8] बरस [9] गर्भ

अर्थात् लड़की तो है छ: महीने की और उस को गर्भ है साल भर का !! इस का उत्तर है गुझिया, क्योंकि गुझियाँ गेहूँ के आटे की बनती हैं और उस के भीतर शक्कर रहती है। गेहूँ तो छः महीने मे होता है और गन्ना साल भर मे तैयार होता है।

पाठक देखेंगे कि इन पहेलियों में सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का परिचय है और देहात के जीवन का विवरण। शहर के रहे हुए लोगों को इन्हें समझने मे बड़ी कठिनाई होगी। सबलसिंह तो तब भी ऊँचे कुल के शिक्षित व्यक्ति थे। अब हम देहात के निरक्षर लेखकों की कृतियों के कुछ नमूने सुनाते हैं। देहात में यदि आप चैत वैशाख में जायँ तो महुए के ढेर के ढेर पड़े मिलेंगे जो दूर से देखने पर छोटे-छोटे अंडों से जान पड़ते हैं। इसी दृश्य पर एक पहेली है—

"एक चिरैया लेदी बेदी[1] साँझै से पिरवाई[2]
वोकर[3] अंडा उज्जर-उज्जर[4] झउआ[5] की उठवाई।"

अर्थात् शाम से ही एक चिड़िया को अंडे देने की पीड़ा उठ रही है और उस के अंडे इतने होते है कि टोकरियों मे भर भर कर उठाये जाते हैं। सचमुच यदि महुए के बाग़ में शाम को जायँ तो बड़े बड़े सफ़ेद महुए लटके रहते हैं मानो अभी गिर पड़ेंगे, पर ये सब आधी रात के बाद टपकते हैं। इन के टपकने की आवाज़ भी बड़ी सुहावनी होती है। गिरे हुए महुए के स्थान में एक छोटी सी खूँटी पेड़ में ही रह जाती है और उसी पर दूसरी उक्ति है—

"बिल उखरि[6] गई खूँटा खड़ा है !"

अर्थात् जिस छेद में खूँटा गड़ा था वह तो अलग भग गया पर खूँटा स्वयं खड़ा है ! वास्तव में महुए का फूल इसी छोटी खूँटी के सहारे पेड़ में लगा रहता है और इसी लिए उस में आरपार एक छेद होता है। महुए के ही ऊपर एक और पहेली है—

---

[1] गर्भिणी। [2] पीड़ा है। [3] उसका। [4] सफ़ेद। [5] टोकरा।
[6] उखड़।

"जोइ[1] बाप क नाम सोइ[2] पूत[3] क,नाम
नाती का नाम कुछ औरै।"[4]

अर्थात् बाप तथा बेटे के नाम एक ही हैं पर नाती का नाम और ही कुछ है। बात यह है कि अवधी में महुए के पेड़ को भी महुआ कहते हैं और उस के फूल को भी महुआ परंतु उस का फल "कोइना" कहलाता है। यह कोइना पकने पर खाया जाता है और उस के भीतर की गुठली से अच्छा तेल निकाला जाता है। इस तेल को महुए का तेल नहीं वल्कि कोइना का तेल कहते हैं। इसी बात पर पहेली गढ़ी गई है।

फलों तथा फूलों पर एकाध और पहेलियाँ हैं। कटहल को भी चिड़िया का रूपक दे कर यह पहेली कही जाती है—

"एक चिरैया[5] अट्ट[6], वोकरि[7] आँखि पट्ट।[8]
वोकर खलरा[9] खींचि लेव, माँसु[10] बड़ी मीठि।"[11]

अर्थात् चिड़िया बड़ी वेढव है पर आँख नहीं है। खाल उतारने पर भीतर का मांस वास्तव में मीठा होता है। पाठकों को शायद ज्ञात होगा कि तराई के देहात में प्रायः कटहल पेड़ की जड़ में जमीन के भीतर भी फलता है और पकने पर जब जमीन फट जाती है तब फल का पता चलता है। आँख बंद रहने से इसी बात की ओर इशारा है। बबूल के ऊपर एक पहेली यों है—

"सावन फूलै अगहन बतियाय[12]। ताकर फल बैसाखै जाय"

बात बिलकुल ठीक है, क्योंकि बबूल में फूल तो बरसात में ही निकलते हैं, पर फल चार महीने बाद लगते और जाकर कहीं बैसाख मे पकते हैं। पान के बीड़े का भी रूपक बाँध कर एक पहेली कही गई है—

"सुआ[13] पंख महोख[14] रँग तित्तिर[15] की अनुहारि[16]
बगुला[17] पंख मिलाय कै पठै देउ ब्रजनारि।"

---

[1] जो। [2] सो। [3] पुत्र। [4] दूसरा। [5] चिड़िया। [6] वेढब। [7] उसकी। [8] बंद। [9] खाल। [10] मांस। [11] मीठी। [12] छोटे फल लगते हैं। [13] तोता। [14] कत्थई रंग की एक चिड़िया। [15] तीतर [16] तरह [17] एक सफ़ेद पक्षी

इस में पान के पत्तो का हरा रंग तोते के हरे रंग से मिलाया गया है और इसी प्रकार कत्थे का रंग महोख से, सुपारी का तीतर से तथा चूने का सफेद बगले से। विशेषतः सुपारी के मिले हुए रंग की तीतर से उपमा तो बहुत ही गठी हुई तथा निरीक्षण-पूर्ण है। लाल मिर्चों पर एक छोटी सी उक्ति बड़ी सरल स्वभावोक्ति से भरी है—

"पतकाल लाल पतगोल गोल, खात की दाईं[1] सी-सी।"

अर्थात् देखने में तो लाल लाल और गोल गोल है पर खाने पर सी-सी करना पड़ता है (रोना पड़ता है)। यह तो हुई उन फल फूलों की बात जो साहित्य में कोई स्थान नहीं रखते, पर एक पहेली कमल ऐसी साहित्य-प्रसिद्ध वस्तु पर भी है—

"जहाँ पवन की गम[2] नहीं रवि ससि उदय न होयँ।
जो फल ब्रह्मा नहि रचा, अबला माँगै सोय।"

ठीक है, कमल पानी के भीतर होता है जहाँ पवन अथवा सूर्य चंद्र की गति नहीं। पर इस से भी अधिक सूक्ष्म की बात तो यह है कि कमल की सृष्टि ब्रह्मा के पहले की है, इसे ब्रह्मा ने नही बनाया, क्योंकि वे तो स्वयं कमल से उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार एक पहेली भ्रमर पर भी है—

"गरे[3] गरउआ[4] माथे टीका, खर[5] के आगे रोवै।
तेकरे ऊपर किरिया[6] राखी बिन बूझे जो सोवै।"

दूसरी पंक्ति में तो केवल शपथ रख दी गई है कि बिना इस पहेली को हल किए सोना हराम है, क्योंकि प्रायः पहेलियाँ रात को ही कही जाती हैं। पर पहली पंक्ति में कुछ सूक्ष्मता है, वह इसलिए कि पहले दो विशेषणों से जान पड़ता है कि गले में रस्सी लिए और मत्थे में टीकावाला कोई बछड़ा है जो तिनके को चरता नहीं बल्कि उस के आगे खड़ा रो रहा है। भौंरा भी गाता या

---

[1] समय। [2] गति। [3] गले में। [4] धारी या रस्सी। [5] तिनका।
[6] क़सम

रोता है और उस के गले में रंगीन निशान धारी सा पड़ा होता है और सामने टीका सा रहता है।

पानी में ही होने वाले घोंघे के ऊपर एक दूसरी पहेली है जिस में उस चलते-फिरते जीव के ऊपर हास्यपूर्ण कटाक्ष करके उसे "तिवारी" अथवा त्रिपाठी की उपाधि दी गई है—

"एक ताल माँ बसैं तिवारी, बिन कुंजी के खोलैं किवारी"

अर्थात् एक तिवारी जो तालाब के भीतर रहते हैं और बिना ताली के ही अपनी कोठरी खोल लिया करते हैं। घोंघे के भीतर का जानवर सचमुच जब चाहता है मुँह बाहर निकाल देता है और फिर अपने को भीतर बंद कर लेता है। पानी में रहने वाली झींगा मछली पर दूसरी छोटी सी पहेली है जिस में पहेली हल करने वाले को हलकी गाली देकर ललकारा गया है—

"टेढ़-मेढ दुइयै[1] बार[2]। जे न बूझै सगौ[3] सार[4]"

अर्थात् वह टेढ़ी-मेढ़ी होती है और उस में दोही बाल रहते हैं। जो इसे न बूझे वह सगा साला है! झींगा मछली सचमुच ज़रासी दो बालों वाली होती है, पर यकायक पहेली सुन कर किसी का ध्यान उस पर नहीं जा सकता।

अब हम कुछ ऐसी पहेलियाँ देंगे जो रोज़मर्रा देखने या काम में आने वाली वस्तुओं पर कही गई हैं, पर उन के कहने के ढंग में चमत्कार अवश्य है। एक पंक्ति की छोटी सी पहेली कुँए के ऊपर है—

बूँची[5] गगरिया[6] न तोसैं[7] उठै न तोरे बाप से"

अर्थात् एक अधंकटा बूँचा घड़ा ऐसा है जो किसी से उठता ही नहीं। कुँए का रूपक देकर मधुमक्खी के छत्ते पर दूसरी पहेली है जिस में कुछ विलक्षण बात कहने की कोशिश की गई है। वह यों है—

"एक ईंट माँ लाख इनारा[8]
घाट-घाट छेंके[9] पनिहारा[10]"

---

[1]दो ही। [2]बाल। [3]सगा। [4]साला। [5]बेसिर की। [6]घड़ा।
[7]तुमसे [8]कुँआ [9]रोके हुए [10]पानी वाले

अर्थात् एक ईंट में हज़ारों कुँए बने हैं और उन के प्रत्येक घाट पर पानी भर ने वालों की भीड़ लगी है। छत्ते की उपमा ईंट से देना और मधुमक्खियों को 'पनिहारा' कहना सर्वथा उपयुक्त ही है।

नायिका का रूप दे कर घुन के संबंध मे एक पहेली कही गई है—

"पुरुब[3] देस से आई तिरिया[4]
अन्न खायँ पानी कै किरिया[5]।"

"पुरुब देस" तो यों ही कह दिया है, पर घुनों का अन्न खाना और पानी न पीना तो सब लोग जानते ही हैं। वैसे तो चींटी-चींटे भी पानी नहीं पाते, पर घुन तो इन की तरह पानी के पास या ठंडक में रहना भी पसंद नहीं करते।

कुम्हार की बनाई हुई गगरी उस से कहती है—

"जब लग रह्यौं मैं बारि कुवारि[6] तब लग मारेउ[7] मोहीं
बियहि कै[8] मारौ मोहीं तौ मरद बखानौं तोहीं।"

अर्थात् 'जब तक मैं कुँवारी थी तब तक तो तुम ने मुझे खूब मारा पीटा पर अब ब्याह हो जाने पर मुझे मारो तो अलबत्ता तुम्हारी बहादुरी देखूँ।' मिट्टी जब तक गीली रहती और बर्तन बनते रहते हैं तब तक तो कुम्हार उन्हे खूब पीटता रहता है, पर जब वे पक या सूख जाते हैं तो फिर उन्हे पीटना तो कुम्हार की रोजी ही ले लेना है। बर्तनों को रँग कर पकाना उन का विवाह कर देना है इस भाव में कुछ कम रस नहीं है। इसी प्रकार कोई स्त्री अपनी ढोल पर पहेली कह रही है—

"मारी[9] तौ मरि जात है, जियाई[10] तौ जी जात है,
ऐ सखी मैं तो सें पूँछौं; मुरदा रोटी खात है!"

अर्थात् मारने से मर जाता है, जिलाने से जी जाता है और मुरदा हो कर भी रोटी खाता है। यह अद्भुत जानवर है। ढोल का मरना और जीना उस

---

[1]बैठ कर। [2]मलाती है। [3]पूर्व। [4]स्त्री।
[5]क़सम। [6]कुँवारी। [7]मारा। [8]ब्याह करके।
[9]मारूँ। [10]जिलाऊँ।

का चुप रहना तथा आवाज करना है और रोटी खाने का अर्थ यह है कि जब कभी ढोल ठीक बजती नहीं तो उस के चमड़े मे गीला आटा लगा दिया करते हैं।

ग़रीबों के देहात में फटे कपड़े पर पैवंद लगे ही रहते हैं, उसी पैवंद पर एक हसरत भरी पहेली है—

"लागै त लाज लागै बिना लागे बनत नायँ[1] ।
धन्य है वन[2] जीवन कॉं जेकरे[3] लागत नायँ ॥"

अर्थात् यदि लगा लेते हैं तो लज्जा लगती है, नहीं लगाते तो काम नहीं चलता धन्य हैं वे लोग जिन्हे उस के लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती (जिन के कपड़े सदा नये रहते हैं)।

हुक्का भी देहात की सभ्यता का एक बड़ा प्रधान अंग है और उस पर पहेली की रचना होना सर्वथा स्वाभाविक ही है। हुक्के की आवाज की तरह इस पहेली के शब्द भी हैं—

"तर[4] लोटा ऊपर सोंटा[5] ।
तर धमकै[6] ऊपर चमकै ॥"

कैसा सुंदर तथा सीधा-सादा चित्र हुक्के का खींचा गया है—नीचे लोटा, उस के ऊपर डंडा; नीचे धमक होती है—गुड़बुड़ की आवाज—और ऊपर चिलम की आग चमकती है। न जाने कैसे पहेली-लेखक हुक्के के धुएँ का उल्लेख करना भूल गया। पर धुएँ के ऊपर एक दूसरी ही पहेली है—

"हाथ न गोड़[7] पहाड़ चढ़ा जात है।
बूझै तौ बरखंडी बाबा कौन जनारव[8] जात है॥"

अर्थात् उस के हाथ पैर नहीं है पर पहाड़ पर चढ़ जाता है। वर्ण-विपर्यय से देहात वाले 'जानवर' को 'जनारव' कर डालते हैं।

---

[1] नहीं। [2] जन। [3] जिनके। [4] नीचे।
[5] छड़ी। [6] धमकता है। [7] पैर। [8] जानवर।

एक और बढ़िया पहेली सुना कर हम यह लेख समाप्त करते हैं। यह पहेली भी एक रोजमर्रा के काम की चीज पर है, जरा सुनिये—

"छः गोड़[1] दुइ बाहाँ।

पिठिया[2] पर पूँछि[3] लौटे ई[4] तमासा कहाँ ?"

अर्थात् यह अद्भुत जानवर ऐसा है जिस के छः पैर हैं और दो ही बाँह। और भी अजीब बात यह है कि उस की दुम पीठ पर रहती है। पाठक ध्यान से देखें तो यह तराजू है जिस में छः रस्सियाँ पैर का काम करती हैं और डंडी के ऊपर दुम की तरह एक फूलदार रस्सी होती है। पता नहीं यह पहेली फ़ारसी की पहेली का अनुवाद है या फारसी में देहाती बुद्धिमत्ता का रूपांतर किया गया है, पर ठीक इसी भाव की निम्नलिखित पहेली फ़ारसी में कही जाती है—

"इके हैवाँ अजब दीदम कि शश पावो दो सुम दारद।

अजायबतर अज़ीं दीदम मियाने पुश्त दुम दारद॥"

हाँ, फ़ारसी रूपांतर में अधिक चुस्ती है क्योंकि पैरों के नीचे खुर की कल्पना की गई है जो सर्वथा युक्तिसंगत है और देहाती लेखक ने हाथ पैर का जोड़ा बाँधा है जो जानवर के लिए अनुपयुक्त है।

पर इन छोटी बातों को छोड़ कर देहात की अधिकांश पहेलियों में चतुरता है, सूक्ष्म दृष्टि है और रसात्मक अनुभूति है। हम अपने देहाती पाठकों और सहृदय विद्वानों से अनुरोध करते हैं कि देहात के इन लुप्त-प्राय रत्नों की रक्षा कर के उन का संग्रह करें और देश के इन अज्ञात लेखकों तथा कवियों की कीर्ति नष्ट न होने दें।

---

[1] पैर। [2] पीठ [3] दुम [4] यह।

भारतीय नाट्यगृह

[लेखिका—कुमारी गोदावरी केतकर]

इहादिर्नाट्ययोगस्य नाट्यमण्डप एव हि[1]

आरंभ मे ही जिस श्लोक का अर्द्धचरण उद्धृत किया गया है उस से यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि नाटक करने के लिये एक विशिष्ट प्रकार के नाट्यगृह की आवश्यकता है। अब प्रश्न केवल इतना ही रह जाता है कि यदि नाट्यगृह की आवश्यकता है, तो वह किस प्रकार के नाट्यगृह की, और नाट्य-शास्त्र में नाट्यगृह को आद्यस्थान देने का क्या प्रयोजन ? यदि नाटक शास्त्र-शुद्ध लिखा गया हो, उस मे शृंगार और दूसरे रसों का परिपोष किया गया हो, उन रसों का सुंदर मिश्रण हो, नायक और नायिका का स्वभाव-चित्रण अत्यंत कुशलतापूर्वक हुआ हो, नटवर्ग अभिनय मे चतुर हों, इतनी सब सामग्री यदि किसी नाटक में हो तब साधारणतः यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि यदि उस का अभिनय किसी देवालय या मैदान में किया जावे तो वह उतना ही सुंदर और हृदयस्पर्शी होना चाहिए। इस प्रकार देवालय या किसी सभामंडप मे होने वाले नाटक का प्रभाव रसिक प्रेक्षकवर्ग पर उसी प्रकार होना चाहिए जैसा कि नाट्यगृह में होने वाले नाट्यप्रयोग का। यदि वैसा आनंद इस प्रकार सभामंडप में खेले हुए नाटक से नहीं आता है तो उस का क्या कारण हो सकता है ? नाटक उत्तम होने के लिये, नटवर्ग चतुर, अभिनय-कला मे कुशल और नाट्यग्रंथ शृंगारादि रसों से परिप्लुत होना चाहिये, फिर नाट्यगृह-संबंधी बंधन और किस लिये रख दिये हैं ? नाटक से और नाट्यगृह से क्या संबंध है ? केवल नाटक अच्छा होने पर,

---

[1] भा० ना० (भारतीय नाट्यशास्त्र) २,२।

उस का प्रयोग चाहे जिस स्थान पर क्यों न किया जाय वह आनंददायक होना ही चाहिए। परंतु नहीं, इस प्रकार कभी नहीं होता। खुले मैदान में होने वाले नाट्यप्रयोग की अपेक्षा नाट्यगृह में होने वाले नाटक का प्रभाव प्रेक्षकों पर अधिक होता है, यही एक बात है जिस से यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि नाटक और नाट्यगृह का अत्यत निकट संबंध है।

यदि ऊपर निर्दिष्ट सर्वांग-परिपूर्ण नाटक का प्रयोग किसी मैदान में, अथवा छोटे से देवालय में किया जाय और दृष्टयभिनय पर अवलंबित रहने वाले अभिनय रागद्वेषादि भाव भी यदि नटवर्ग अपनी चतुराई से प्रकट करने में समर्थ हों, फिर भी, सब प्रेक्षक उन्हे न देख पावेंगे जब अभिनय ही न देख सकेंगे, तब आनंद और नाटक से समरस होने की बात तो कोसों दूर रही। नाटक के रस से ही यदि वह वंचित रह जाएँ तब नाटक से मिलने वाला रसास्वाद और आनंद उन्हें क्यों कर प्राप्त हो सकेगा? इसी प्रकार यदि एक नाटक जिस में समर प्रसंग और इसी प्रकार दूसरे प्रसंग अनेक हों और उस का प्रयोग छोटे से दालान में किया जाए, तो प्रेक्षकों की क्या दशा होगी? किसी को कुछ भी न सुनाई देगा और न पूर्णतया प्रेक्षक नाटक को देख ही सकेंगे। प्रेक्षक तो यही चाहेगा कि मैं कब यहाँ से बाहर जाऊँ, और उस की यह इच्छा स्वाभाविक भी है।

नाटक यह एक दृश्य और श्रव्य काव्य है। जिस प्रकार उपन्यास अथवा कोई काव्य पढ़ते समय हम उस से समरस होते हैं और आनंद का उपभोग करते हैं उस प्रकार नाटक का आनंद केवल पढ़ने से ही प्राप्त नहीं हो सकता। इस का कारण यह है कि उपन्यासकार अथवा कवि, रस-परिपोष करने के लिये चाहे जितनी स्वतंत्रता अपने उपन्यास या कविता में ले सकता है, इतनी स्वतंत्रता नाटककार नहीं ले सकता। नाटककार कवियों के समान निरंकुश नहीं होता। उस का क्षेत्र मर्यादित होता है। वह अपने भाव केवल पात्रों के मुख से अथवा नाटक में, दृश्यों की सहायता से ही प्रकट कर सकता है। इसीलिये नाटक में जितना महत्त्व भाषाशैली का होता है, उतना ही महत्त्व परिस्थिति का भी होता है। अभिनय का महत्त्व सब से अधिक होता

है। इसीलिये नाटककार को नाटक निर्माण करने समय तत्कालीन परिस्थिति, अभिनय, वेषभाषा, और जिस जगह नाटक होने वाला हो उस नाट्यगृह की रचना इन सब बातों का विचार करना अत्यंत आवश्यक होता है। प्राचीन नाटक, अथवा जिस देश का नाट्यगृह अपने देश के नाट्यगृह से भिन्न होता है, उस देश का नाटक जब हम पढ़ते हैं उस समय जो नाट्य सूचनाएँ मध्य में दी जाती है, वह केवल हमें निरर्थक ही नहीं परंतु नीरस भी प्रतीत होती है। नाट्यसूचनाएँ पढ़ते-पढ़ते जी ऊबता जाता है और रसभंग होता है, इस का कारण केवल यही है कि हम उन देशों के नाट्यगृहों से अनभिज्ञ होते हैं। यदि पहिले ही से हम उन देशों के नाट्यगृहों के संबंध मे कुछ ज्ञान प्राप्त कर लें तो इस प्रकार रसभंग और उदासीनता कभी न हो।

उदाहरणार्थ प्राचीन[1] ग्रीक नाटकों में स्थल और सुंदर दृश्यों का कोई उल्लेख नहीं है। प्रवेश और प्रसंग इतने धीरे धीरे दिखाने का क्या प्रयोजन ? अभिनय के बारे में सूचनाएँ नही दी गई ? इस प्रकार को स्वाभाविकत: शंकाएँ उत्पन्न होती हैं। परंतु यदि उस समय के ग्रीक लोगों का रंगपीठ (Stage) किस प्रकार का था, यह जान लें तो इन सब शंकाओं का निरसन हो जाता है। उस समय ग्रीक लोगों का रंगपीठ अत्यंत छोटा होता था, नटवर्गों की पोशाकें भी बेतुकी होती थीं, नट जिसकी भूमिका करता था, उसी अनुसार अपने चेहरे पर मिट्टी का चेहरा चढ़ा लेता था नाट्यगृह भी इतना विस्तृत होता था, कि उस मे बीस पचीस हजार प्रेक्षक बैठ कर देख सकें, इत्यादि, इसीलिये जब तक हम ग्रीक देश के नाट्यगृह की व्यवस्था न समझ लें तब तक अनेकों स्वाभाविक शंकायें उत्पन्न होती हैं। जिस समय हम ग्रीक नाट्यगृहों और नाट्यदर्शनरीति को समझ लेते हैं ऐसी शंकाओं का निरसन अपने आप होता है। उसी प्रकार[2] शेक्सपियर के समय मे नाट्यगृहों में cover curtain अथवा ड्रापसीन नहीं हुआ करता था। जब तक यह हम न समझ लें तब तक पोलोनिअस को मारने के पश्चात् "Exit Hamlet

---

[1] हेग 'एंटिक थिएटर'। [2] हडसन, 'शेक्सपियर'।

tugging, Polonius" इस प्रकार सूचना करना अथवा व्हेरोना के राजा का "Bear hence this body" अथवा Cromwell का "Throw this slave upon the dunghill, का कुछ भी प्रयोजन ध्यान में नहीं आ सकता। आजकल रंगपीठ पर ड्रापसीन होने के कारण इस प्रकार सूचनाएँ करने का प्रयोजन कुछ भी नही रहता है यह एक माननीय बात है।

उसी प्रकार यदि आजकल नाटकों में कोई प्रवेश नीरस हो तो उसे नाटककार ड्रापसीन की सहायता से पूर्ण कर सकता है। परंतु पुराने समय मे ड्रापसीन न होने के कारण नीरस प्रवेश क्रमशः ही नटों के भाषण के साथ समाप्त करना पड़ता था। यकायक बिना कुछ कहे पात्र (Actor) नही जा सकता था। इन सब बातों का विचार करने से यह स्पष्टतया ज्ञात होगा कि नाटक और नाट्यगृह का अन्यान्य संबंध कितने महत्त्व का है। इसीलिये नाटककार को उस का नाटक किस नाट्यगृह मे खेलने के लिये है यह जानना और नाटक पढ़ने वालों को भली प्रकार नाटक समझने के लिये, वह नाटक जिस नाट्यगृह में खेलने के लिये लिखा गया है, उस नाट्यगृह का ज्ञान पहिले से ही प्राप्त करना बड़ा आवश्यक है। नाट्यगृह के इसी महत्त्व को ध्यान मे रखकर भरत ने 'इहादिर्नाट्य योगस्य नाट्यमंडप एवहि' इस श्लोकार्द्ध में ही नाट्यमंडप—नाट्यगृह—रंगमच को नाट्यशास्त्र में आद्य स्थान दिया है।

इस प्रकार नाट्यगृह का महत्त्व समझने के पश्चात् स्वभावतः यह इच्छा होती है कि प्राचीन समय में भारतीय नाट्यगृह किस प्रकार का था? इसी का विचार इस लेख में किया गया है। साधन, सामग्री अत्यंत मर्यादित होने के कारण यह इच्छा किस अंश तक तृप्त होती है यही अब देखना है।

प्राचीन समय में हमारे ग्रंथकारों को किसी भी बात का ऐतिहासिक महत्त्व देखने की जिज्ञासा कभी भी नहीं हुई यह अत्यंत शोक और दुःख की बात है। इसीलिये जब कभी प्राचीन पुस्तक निर्माण करने के समय का प्रश्न उपस्थित होता है तब हमें, नेत्रविहीन मनुष्य की तरह अंधेरे में टटोलना पड़ता है। एक, समय की बात तो जाने दीजिये, ग्रंथकर्ता कौन है इस बात का भी पता चलाना कठिन होता है भास ऐसे प्रख्यात अपने नाटक

के न तो प्रारंभ में न अंत ही मे अपने नाम तक का उल्लेख करते हैं यह वास्तव में अत्यंत आश्चर्य की बात है। फिर न जाने उन्हों ने "कालोऽह्ययं निरवधिर्विपुलाच पृथ्वी" ऐसा समझ कर इस अनंत और इतने कालरूपी प्रभाव में यह एक कण क्या रह सकता है उन्हों ने अपना नाम गुप्त रक्खा। अथवा भारतीयों के निवृत्तिवाद ने उन को प्रभावित किया और इसलिये उन्हों ने, अपना नाम तक प्रकट नहीं किया, या और कोई दूसरा कारण हो वह एक परमेश्वर ही जान सकता है। अस्तु! कोई भी कारण क्यों न हो परंतु इस से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि प्राचीन कवि, नाटककार अपने ग्रंथों के काल का महत्त्व कम समझते थे। यही कारण है, हम निश्चित रूप से नाट्यशास्त्र का समय स्थित करने में असमर्थ हैं, उसी प्रकार नाट्यगृहो का भी समय निश्चित रूप से स्थित नहीं हो सकता। फिर भी जो कुछ साधन उपलब्ध है उन्हीं के आधार से प्राचीन नाट्यगृहों के संबंध में विचार करने मे कोई हानि नहीं है।

अनेक[1] विद्वानों का मत इस विषय में यह है कि भारतवर्ष में नाट्य-गृह की कल्पना ग्रीक नाट्यगृहों से ली गई है। इन विद्वानों का कहना है कि प्राचीन समय में भारतवर्ष में केवल नाट्यप्रयोग करने के लिये नाट्यगृह नहीं बनाये जाते थे। संस्कृत नाटकों के आरंभ में जो लेख लिखे गए हैं, उस पर से नाटक केवल देवताओं के उत्सव प्रसंगों पर अथवा राजा महाराजाओं के मनोरंजनार्थ ही खेले जाते थे। इन लोगों का यह भी कहना है कि इस प्रकार नाटक किसी देवालय मे विशेष लोगों के लिये हो, जैसे, राजे महाराजे, राज-घराने की स्त्रियाँ, सरदार और बड़े बड़े अधिकारी इन के लिये ही खेला जाता था। परंतु भरत के नाट्यशास्त्र में नाट्यमंडप—नाट्यगृह इत्यादि शब्द है, और उस मे नाट्य-मंडपो के प्रकार, उन्हे किस प्रकार बनाना चाहिये इन सब बातों का वर्णन आया है। इसी आधार पर हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते है कि भरत के पूर्व, स्थायी नाट्यगृह थे, और वे अनेकों प्रकार के थे। अब

---

[1] " , 'हिस्ट्री अव् संस्कृत लिट्रेचर' पृष्ठ ३५२, ३५३

भरत-काल अभी निश्चित रूप से स्थिर नहीं है, फिर भी अनेकों विद्वानों का मत यह है कि भरत का समय ईसवी सन् के पूर्व दो शतकों से लेकर ईसवी सन् के पश्चात दो शतकों में ही भरत का समय होना चाहिए नाट्य-शास्त्र का समय यद्यपि अनिश्चित है तथापि पतंजलि का समय अब निश्चित रूप से ईसा के पूर्व १५० साल ठहर चुका है। पतंजलि ने अपने महा-भाष्य में 'नटस्य शृणोति'। 'ग्रंथिकस्य शृणोति' 'महारंभका[1] रंग गच्छंति नटस्य श्रोष्यामः, 'ग्रंथिकस्य श्रोष्यामः' इस प्रकार उल्लेख किया है। इन सब बातों के आधार पर ईसवी सन् के पूर्व १५० वर्ष ही नटवर्ग के लिये और ग्रंथिकों के लिये किसी प्रकार के विशिष्ट नाट्यमंडप होना चाहिए ऐसा अनु-मान हो सकता है।

यहाँ एक शंका अवश्य उत्पन्न होती है, कि केवल पतंजलि के एक शब्द पर ऐसा अनुमान करना यह बाल की खाल खींचने के समान ही है। परंतु अब इस पतंजलि के शब्दों का ही केवल आधार नही है। ईसवी सन् के पूर्व दूसरे ही शतक की बात तो दूर है, परंतु तीसरे शतक मे भी इस प्रकार के नाट्यगृह थे यह भी सिद्ध हो चुका है। सिरगुजा स्टेट मे लक्ष्मनपुर एक ज़िला है, उस ज़िले में राजगढ़ के पहाड़ो मे सीताबेंगा नामक एक गुफा है। इस का आकार अर्द्धवर्तुलाकार (Semi-circular) है। इस के अंदर घुसने ही कई सीढ़ियाँ हैं। इस की रचना, और इसी के पास की जोगिमारा नामक जो गुहा है, उस के शिलालेखों से डाक्टर ब्लाक ने यह अनुमान निकाला है कि यह स्थान प्राचीन समय में काव्यगायन, गीतगायन अथवा नाट्यदर्शन के लिये बनाई हुई है। वे कहते हैं—"हम इस परिणाम को पहुँचते हैं कि यह एक ऐसा स्थल था जहाँ पर कविता-पाठ होता था, प्रेम के गीत गाए जाते थे और नाटकीय अभिनय होते थे। संक्षेप में हम इसे ईसा से पूर्व तीसरी सदी का भारतीय नाट्यगृह कह सकते है।"[2]

---

[1] 'पातंजलि-महाभाष्य,' १-४-२९।

[2] 'आर्कियालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट' १९०३ ०४, पृ० १२६

इस अनुमान के लिये जोगिमारा में जो शिलालेख है उस मे 'लूपदखे' यह शब्द अत्यंत महत्व का है। और इसी शब्द पर यह अनुमान निर्भर है।

परंतु इस शब्द का अर्थ बॉयर के अनुसार 'शिल्पकला मे सिद्धहस्त' अथवा डा० ब्लाक के अनुसार 'चित्रकला मे सिद्धहस्त' करने की अपेक्षा यदि उस का अर्थ 'नाट्यकला मे सिद्धहस्त' किया जाय तो वह यथार्थ होगा। 'लूपदखे' यह शब्द संस्कृत रूपदक्ष शब्द का प्राकृत स्वरूप है और रूप इस शब्द का अर्थ शिल्पकला अथवा चित्रकला की अपेक्षा नाट्य-कर्म ही अधिक प्रचलित है। डा० ब्लाक ने एक दूसरा अनुमान इस प्रकार किया है, कि भारतीयों ने नाट्यगृह बनाने की कल्पना ग्रीक नाट्यगृहों से ली है परंतु डा० कीथ[1] ने इस मत का खंडन, भली प्रकार किया है। डा० कीथ ने इस बात का खंडन किस आधार पर किया है, यह देखने के पूर्व उस समय में ग्रीक नाट्यगृह किस प्रकार के थे यह देखना अप्रासंगिक न होगा।

ग्रीक नाट्यगृह[2] बहुतायत से किसी पहाड़ी के पास ही बनाये जाते थे। उन मे बीस या पचीस हजार प्रेक्षकों के लिये सुभीता रखने के लिये वह विस्तृत और खुले हुए ही हुआ करते थे। उन की रचना अवश्य अर्द्धवर्तुलाकार हुआ करती थी। उस में रंगपीठ लंबाई में अधिक हो कर उस की चौड़ाई कम हुआ करती थी। रंगपीठ की ओर मुख कर के गायन वादन करने वाले गायक और नटवर्ग खड़े ही रहते थे। प्रेक्षकों के बैठने के लिये पत्थरों की सीढ़ियाँ ही हुआ करती थीं। उन के बीच में कहीं कहीं आने जाने के लिये खुली हुई जगह भी रख छोड़ते थे। प्रेक्षकगण उसी खुले हुए मैदान मे प्रातःकाल से संध्यासमय तक नाटक का प्रयोग देखते रहते थे। इन नाट्यगृहों में और सीताबेंगा गुहा के नाट्यगृह में यदि कुछ साम्य है तो वह इतना ही कि जिस प्रकार ग्रीक नाट्यगृह किसी पहाड़ी के पास होते थे उसी प्रकार यह गुहा भी एक पहाड़ी के अंदर है। इस की रचना भी अर्द्ध-

---

[1] कीथ, 'संस्कृत ड्रामा', पृष्ठ ६७।

[2] हेग, 'ऐटिक थिएटर', २

वर्तुलाकार है, और उसी प्रकार यहाँ भी प्रेक्षकगण के लिये बैठने की व्यवस्था है। इतना ही साम्य ग्रीक नाट्यगृहों और सीताबेंगा गुहा मे है। परंतु इन दोनों मे विरोध भी अधिक है।

नाट्यगृह के विस्तार का ही यदि प्रश्न लिया जाए तो सीताबेंगा की गुहा पहाड़ के अंदर है, और न वह इतनी विस्तृत ही है। इस के अतिरिक्त ग्रीक प्रेक्षागृह खुली हुई जगहों में हैं, जो इस सीताबेंगा गुहा की बात नहीं है। इस के अतिरिक्त गायकों और वादकों के बैठने के स्थान मे तो इन दोनों नाट्य-गृहों में लेशमात्र भी साम्य नहीं है। इन सब बातों का जब हम विचार करते हैं तब यह निश्चयपूर्वक स्थित करना कि सीताबेंगा गुहा की कल्पना ग्रीक नाट्यगृहों के आधार पर ही की गई है कठिन हो जाता है। और साथ ही साथ यह भी संभव हो सकता है कि कदाचित् उसी कल्पना के आधार पर यह गुहा निर्माण की गई हो। चाहे ग्रीक नाट्यगृहों का असर भारतवर्ष के नाट्यगृहों पर हुआ हो या न हो, परंतु इतना अवश्य है कि भारतवर्ष मे ईसवी सन के पूर्व तीसरे शतक में इस प्रकार के स्थल विद्यमान थे।

सीताबेंगा गुहा में जो प्रेक्षागृह है उस की रचना अर्द्धवर्तुलाकार होने के कारण यदि ऐसा मान लिया जाय कि भारतीय नाट्यगृहों पर ग्रीक नाट्यगृहों का प्रभाव हुआ है तो उसी प्रकार हम यह भी दिखा सकते हैं कि भारतीय नाट्यगृहों का परिणाम ग्रीक नाट्यगृहों पर हुआ था। हेग ने अपनी 'एंटिक थिएटर नामक पुस्तक मे नाट्यगृहों का वर्णन करते समय दो नाट्यगृहों का वर्णन किया है जो विशिष्ट प्रकार के हैं। उन मे से पहिला नाट्यगृह[1] मेगालोपोलिस (Megalopolis) का है। इस का निर्माण समय ईसवी सन् के पूर्व दो शतक है। सामान्य ग्रीक नाट्यगृहों मे और इस नाट्य-गृह मे बहुत कुछ विरोध है। पहिली बात जो इस नाट्यगृह में है वह यह है कि इस के रंगपीठ की चौड़ाई ग्रीक रंगपीठ की अपेक्षा कहीं अधिक यानी २४ फीट और ऊँचाई २६ फीट थी। दूसरी बात जो इस में थी वह यह कि

[1] हेग, 'एंटिक थिएटर', पृष्ठ १२७-१४०।

इस नाट्यगृह में पत्थर के काम की अपेक्षा लकड़ी का ही काम अधिक था। इस नाट्यगृह का पीठ भी चौकोना था। इस नाट्यगृह की रचना इस विशिष्ट प्रकार से क्यों की गई इस का समर्थन हेग महाशय भली प्रकार नहीं कर पाए। उन्हों ने केवल यही कहा है कि रंगपीठ की चौड़ाई अधिक होने का कारण यही हो सकता है कि इस से दृश्यदर्शन में अधिक सुगमता हो। परंतु जिन विशिष्ट बातों का उल्लेख है, जैसे कि रंगपीठ की चौड़ाई अधिक होना, अथवा लकड़ी कम होना और अन्य विशेषताएँ यह सब बातें भारतीय नाट्यगृहों में सामान्य हैं। इसलिए यदि यह अनुमान किया जाय कि भारतीय नाट्यगृह देखने के पश्चात् भारतीय नाट्यगृहों के सुभीते अवलोकन कर उसी प्रकार का नाट्यगृह मेगालोपोलिस में निर्माण करवाया, यही तर्क अधिक शुद्ध है। इस प्रकार का अनुमान करते समय हमें काल की भी अनुकूलता प्राप्त होती है। ग्रीक लोगों का भारतीयों से विशेष संबंध और परिचय अलेक्जेंडर के समय से यानी ४ शताब्दी ई० पू० से ही हुआ यह निर्विवाद है। कुछ भी क्यों न हो यह सिद्ध है कि इस प्रकार के नाट्यगृह भारतवर्ष में ईसवी सन् के पूर्व तीसरे शतक में अवश्य थे। इस सीताबेंगा गुहा के आधार पर हम यदि यह अनुमान निकालें कि उस के पूर्व सौ, डेढ़ सौ वर्ष, यानी ईसा से पूर्व चौथी सदी में भी यहाँ नाट्यगृह थे तो अनुचित न होगा। और न यह बात असंभव ही हो सकती है।

इसी बात के समर्थन के लिये दूसरा आधार नाट्यशास्त्र का भी दिया जा सकता है। यद्यपि नाट्यशास्त्र का रचना काल निश्चित नहीं है, तथापि, उस का समय दूसरी सदी ईसा से पूर्व से लगा कर दूसरी सदी ईस्वी के मध्य मे ही होना चाहिये। इस नाट्यशास्त्र में, रंगभूमि और नाट्यगृहों का विस्तृत वर्णन किया गया है, इन नाट्यगृहों के जो तीन प्रकार, और उन्हें निर्माण करने के संबंध में जो सूचनाएँ दी हुई हैं, उन से यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि भरत ने जिन नाट्यगृहों के संबंध में लिखा है वह स्थायी रूप में ही हुआ करते थे। परंतु कीथ[1] ने नाट्य-शास्त्र के नाट्यगृह और सीताबेंगा गुहा

---

[1] कीथ 'संस्कृत ड्रामा,' पृष्ठ ५६, ५७

का वर्णन करने पर भी यह और अनुमान किया है कि भारतवर्ष में स्थायी नाट्यगृह निर्माण नहीं होते थे। महाशय कीथ का नहीं मालूम यह अनुमान किस आधार पर है। भरत ने नटवर्ग का वर्णन करते समय सूत्रधार को एक प्रमुख नट बतलाया है, परंतु भरत ने इस प्रमुख नट के संबंध मे वर्णन करते समय यह कहा है कि जो सूत्रज्ञ[1] वही सूत्रधार है। कीथ महाशय ने जो अर्थ सूत्रज्ञ शब्द का किया है वह उस प्रकार न हो कर उस का अर्थ यह है कि जो नटसूत्रों का ज्ञाता है वही सूत्रज्ञ है। इस के अतिरिक्त यदि नाट्यगृह स्थायी न होते तो भरत ने नाटकमंडली में आवश्यक मुकुटाभरणकार,[2] माल्यकार, कारुक, शिल्पज्ञ, रंजक, वेशकार इत्यादि लोगो के साथ 'नाट्यस्थपति' का भी समावेश किया होता। परंतु जब इस प्रकार से नहीं किया गया है, उस से यही प्रतीत होता है कि यह कार्य नाट्यमंडली के लिये नहीं था। इसीलिये यही मानना पड़ेगा कि नाट्यगृह स्थायी रूप से ही निर्माण किए गए थे।

भरत ने इतने सुंदर और अनेकों प्रकार के नाट्यगृहों का जो वर्णन किया है वह सर्वथैव कल्पनाशक्ति पर निर्भर रह कर नहीं किया है, परंतु उस के समय में नाना प्रकार के नाट्यगृह अस्तित्व मे थे यही मानना अधिक न्यायसंगत और तर्कशुद्ध होगा। उसी प्रकार भरत के पूर्व यानी चौथी सदी ईसा से पूर्व में भी नाट्यगृह निर्माण करने की कल्पना थी इस का भी हमे अनुमान करने में कठिनाई नहीं हो सकती। किसी भी बात में सुधार उसी समय होता है जब कि उस बात को, अथवा उस वस्तु को प्रत्यक्ष में हम उपयोग में ला कर उस के गुण-दोष समझ लेते हैं। यदि वह वस्तु नित्य ही काम में आनेवाली हो तो उस में सुधार शीघ्र होते हैं, अन्यथा सुधार मे भी विलंब होता है। इस दृष्टि से यदि देखा जाए तो, यद्यपि नाटक लोगों के मनोरंजनार्थ खेले जाते थे तथापि वह प्रतिदिन तो खेले ही नहीं जाते थे, कभी

---

[1] 'भारतीय नाट्यशास्त्र,' पृ० ३५-४० ।

[2] वही पृ० ३५, और २१ २२

कभी जब राजा या अन्य बड़े सर्दारों की इच्छा होती थी तभी उन का प्रयोग किया जाता था। जब भरत के समय में नाट्यगृहो में इतने सुधार हो गए थे, तब इसी बात से यह सिद्ध होता है कि भरत के पूर्व कई वर्षों से नाट्यगृह चाहे वे किसी रूप में क्यों न हों अस्तित्व में अवश्य थे।

अब हमें यह देखना है कि भरत के वर्णन किये हुए नाट्यगृहों के अनेकों प्रकार और उन के निर्माण करने की रीति क्या थी। भरत ने[1] नाट्यगृहों के तीन प्रकार बतलाए हैं। पहिला विकृष्ट नाट्यगृह दूसरा चतुरस्र नाट्यगृह और तीसरा प्रकार त्र्यस्र नाट्यगृह। इन तीन प्रकार के नाट्यगृहों में प्रत्येक के ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ ऐसे तीन भेद बतलाये हैं, उन के संबंध में—

देवानां तु भवेज्ज्येष्ठं नृपाणां मध्यमं भवेत्।
शेषाणां प्रकृतीनां तु कनीयः संविधीयते॥[2]

इस प्रकार कहा है। यदि इस श्लोक का सरल अर्थ किया जाय तो वह इस प्रकार होगा कि देवों (सुरों) के लिये ज्येष्ठ नाट्यगृह राजा के लिये मध्यम और साधारण जनता के लिये कनिष्ठ नाट्यगृह, परंतु यदि इस श्लोक का इसी प्रकार सरल ही अर्थ लिया जाय तो फिर एक शंका उत्पन्न होती है कि मनुष्यों के नाट्यगृहो के वर्णन में देवों के नाट्यगृहों का वर्णन क्योंकर किया गया? इस के अतिरिक्त

"क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्।
न वेद व्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्र जातिषु॥
तस्मात् सृजापरं वेदं पंचमं सार्ववर्णिकम्॥[3]

इस प्रकार प्रस्तावना करने के पश्चात् सार्ववर्णिक नाट्यशास्त्र में राजाओं में और साधारण जनता में भेदभाव क्यों किया गया? इसी शंका समाधानार्थ इस श्लोक का अर्थ अभिनवगुप्त ने जिस प्रकार किया है वही अधिक

---

[1] 'भारतीय नाट्यशास्त्र,' २-१।

[2] वही २-१२।

[3] वही १ ११, १२

तर्कशुद्ध प्रतीत होता है। उस ने 'देवानां.... 'संविधीयते' इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है 'समविकार नाटक के समान और जो नाटक हों, जिन मे सुर असुरों की लड़ाइयाँ और कलह इत्यादि दिखाने हों अथवा अन्य नाटक जिन में लड़ाइयाँ और झगड़े दिखाने हों उन नाटकों के लिये ज्येष्ठ नाट्यगृह का उपयोग करना चाहिये,'[1] ठीक ही है, इस प्रकार प्रसंग के लिये रंगपीठ भी विस्तृत होना चाहिये। नाटक, प्रकरण, नाटिका इत्यादि जिन प्रयोगों मे विशेष रूप से लड़ाइयाँ नही होती हैं उन का प्रयोग मध्यम नाट्यगृहों मे करना चाहिये। और भाण के समान जिस में एक ही पात्र की आवश्यकता होती है ऐसे रूपक के लिये कनिष्ठ नाट्यगृह की योजना करनी चाहिये। भरत ने इस प्रकार जिन नौ नाट्यगृहों का वर्णन किया है उन में से विकृष्ट, चतुरस्त्र और त्र्यस्त्र नाट्यगृहों के प्रत्येक भेद का पृथक् पृथक् वर्णन भी किया है।

भरत ने उल्लेख किए हुए विकृष्ट जाति के नाट्यगृह की पूर्व से पश्चिम तक लम्बाई चौसठ हाथ और दक्षिणोत्तर चौड़ाई बत्तीस हाथ होती थी।[2] इस के चारों कोनों में चार खंभे गाड़े जाते थे।[3] यह चारों खंभे आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य और ईशान दिशाओं में अनुक्रम से गाड़े जाते थे। उन की स्थापना करते समय भी शुभ्र, रक्त, पीत और नील वर्ण के पदार्थों का ही उपयोग किया जाता था। नाट्यशास्त्र में भी इन स्तंभों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र स्तंभ कहा गया है। नाट्यशास्त्र में इन स्तंभों के नामाभिधान से और उन के रंगों से अनेकों पाश्चात्य विद्वान उलझन मे पड़ गए है, और इसी उलझन को सुलझाने के लिये उन्हों ने जो अनुमान किए हैं वह तर्कशुद्ध और न्यायसंगत नहीं प्रतीत होते। प्रकांड पंडित और प्रसिद्ध 'संस्कृत ड्रामा' के लेखक कीथ महाशय भी इन स्तंभों के नाम और उन के रंगों के कारण उलझन मे पड़ गए हैं। वह इन रंगों का और

---

[1] अभिनवगुप्त 'नाट्यवेदविवृत्ति,' २-१२ टी०।

[2] 'भारतीय नाट्यशास्त्र' ३-२०।

[3] वही २-४८, ५१

स्तंभों के नामों का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि इन स्तंभों की योजना जाति-विभाग के ही आधार पर की गई है; और इसीलिए प्रत्येक जाति के लिये विशिष्ट प्रकार के रंगों का उपयोग किया गया है।[1] परंतु उन की यह कल्पना ठीक नहीं है। पश्चिमीय विद्वानों को इस प्रकार दिशाभूल होने का मुख्य कारण केवल यही है कि हमारे जाति भेद के संबंध में उन को कुछ विचित्र धारणाएँ हो गई हैं। जहाँ 'भूतयक्षपिशाचाश्च गुह्यकाश्च महाबलाः'[2] इन सब लोगों ने आकर सुरों को नाट्यमंडप की रक्षा करने में सहायता दी, ऐसे सार्ववर्णिक नाट्य में जाति भेद का होना संभव नहीं है। नाट्य-शास्त्र में ब्राह्मणों को अधिक महत्त्व कहीं पर भी नहीं दिया गया है। नाटक की परीक्षा करने वाले परीक्षक और उसी प्रकार प्रेक्षक किस प्रकार के होना चाहिये इस का वर्णन करते समय शास्त्रकारों ने गुणों पर ही अधिक लक्ष दिया है, उन्हों ने कहीं भी इस प्रकार नहीं कहा है कि प्राश्निक ब्राह्मण ही होना चाहिए। इन बातों से यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि पाश्चात्य ग्रंथकारों ने जो अनुमान निकाले हैं वह केवल उन की जाति भेद के संबंध में जो दूषित दृष्टि होगई उसी के परिणाम है। इस के अतिरिक्त कीथ ने इस के बारे में लिखते हुए यह कहा है कि, 'आगे एक सफेद स्तंभ ब्राह्मणों के आसन बताता था' इस से कीथ की दृढ धारणा यह हो गई है कि जातिभेद के ही आधार पर इस प्रकार बैठने की व्यवस्था की गई थी। और इसीलिये उस के अनुसार रंगपीठ के सन्मुख प्रथम ब्राह्मण, उन के सीधे हाथ की ओर क्षत्रिय, क्षत्रियों के पीछे वायव्य-कोण में वैश्य और वैश्यों के बायें हाथ को, यानी ब्राह्मणों के पीछे ईशान कोण में शूद्र बैठते थे। कीथ की कल्पनानुसार यदि हम देखें तो यह मानना पड़ेगा कि नाट्यगृह उत्तराभिमुख था परंतु नाट्य-शास्त्र में स्पष्ट रूप से यह लिखा है कि वादकों को पूर्वाभिमुख बैठना

---

[1] 'कीथ', 'संस्कृत ड्रामा', पृ० ३५।

[2] 'भारतीय ,' १ ५७

चाहिए। [1]इसी से अभिनवगुप्त ने प्रेक्षागृह के दरवाजे के संबंध में लिखते समय 'अन्यत्तुद्वाराममिमुख्येन पूर्वस्यांदिशि कुर्यात्' [2]ऐसा कहा है। इस पर से और 'यतोमुखं भवेद्भाण्डद्वारं नेपथ्यकस्य च। सा मन्तव्या तु दिक्-पूर्वा' [3]ऐसा कहा है। इन बातों से नाट्यगृह उत्तराभिमुख न होते हुए पूर्वाभिमुख ही था यह स्पष्ट है। जब यह पूर्वाभिमुख था तब ब्राह्मणों का स्तंभ प्रेक्षागृह के अंत में, पीठ के पास दाहिनी ओर क्षत्रियों का स्तंभ, पीठ की बाईं ओर वैश्यों का स्तंभ और वैश्य-स्तंभ के पीछे शूद्र-स्तंभ होगा। इस से पीठ के समीप क्षत्रिय और वैश्य आकर ब्राह्मण और शूद्र बिलकुल पीछे चले जाते हैं और फिर कीथ के कथनानुसार 'आगे' (in front) का अर्थ ठीक नहीं होता, उसी प्रकार कीथ ने जो यह कहा है कि स्तंभों को पहिचानने के लिये जो विशिष्ट प्रकार का रंग दिया जाता था वह भी निराधार है। नाट्य-शास्त्र पढ़ते समय दृश्य किस प्रकार दिखाने चाहिए, रंग किस प्रकार करना चाहिए, कौन सा रंग किस किस को देना चाहिए, और अन्य बातें सुंदर और स्वाभाविक किस प्रकार करनी चाहिए, इन सब बातों के होते हुए, इतनी सौंदर्यदृष्टि रखने वाले रसिक, मंडप में चार रंग के चार स्तंभ, जो एक दूसरों से विसंगत हों, बीच ही में खड़े करदें, यह उन की रसिकता का समर्थन नहीं करता और इसीलिये ये, सौंदर्यप्रेमी इस प्रकार करते होंगे, यह भी अनुमान हम नहीं कर सकते। इस के अतिरिक्त इस कथन का, कि यह स्तंभ प्रेक्षागृह में ही होते थे, कोई भी आधार नहीं है।

नाट्य-शास्त्र में विकृष्ट गृह का वर्णन करते समय यह बतलाया गया है, कि भूमि कितनी होनी चाहिये, उस के कितने भाग करना चाहिये, और इस के पश्चात् नींव खोदने के संबंध में कहा गया है। नींव भर जाने के पश्चात् 'भित्तिकर्मणि निर्वृत्ते स्तंभानां स्थापनं ततः' इस प्रकार स्तंभो के संबंध में कहा

---

[1] 'भारतीय नाट्य-शास्त्र,' २४-११८।

[2] अभिनवगुप्त 'नाट्यवेदविवृति,' २—८५ टी०।

[3] 'भारतीय ,' १२, १०

गया है। इस के पश्चात्, मत्तवारिणी, शीर्ष और पीठ का विशेष वर्णन किया गया है, इस श्लोक के पश्चात् या पूर्व कहीं भी प्रेक्षागृह का वर्णन नहीं किया गया है। इतना होते हुए इन स्तंभों का संबंध प्रेक्षागृह से किस प्रकार हो सकता है?

नाट्यगृह के क्षेत्रसंबंधी वर्णन करते समय नींव भरने के पश्चात् उसी क्षेत्र के चारों कोनों में इन स्तंभों को गाड़ना चाहिए ऐसा ही अर्थ अधिक उपयुक्त होता है, इस के अतिरिक्त उन के नामाभिधान की शंका भी नाट्यशास्त्र के आधार से दूर हो जाती है। नाट्यशास्त्र के पहिले अध्याय में विश्वकर्मा निर्मित नाट्यगृह के रक्षणार्थ देव, यक्ष, राक्षस, पन्नग, भूत, पिशाच, गुह्यक इत्यादि की योजना किस किस स्थान पर करना चाहिये इस के संबंध में कहते हुए यह कहा है कि "वर्णाश्चत्वार एवास्य स्तंभेषु विनियोजिता:,[1] पहिले अध्याय में ये स्तंभ प्रेक्षागृह के हैं, इस का कोई भी आधार नहीं है। नाट्यगृह का सामान्य वर्णन करते समय इन चारों स्तंभों का वर्णन किया गया है, इसलिये ये स्तंभ क्षेत्र के चारों कोनों में होने चाहिये, और उन का जो नामाभिधान किया गया है वह, उस स्थान पर जो देवता कल्पित किया गया है, उसी के अनुसार उन देवताओं को जो रंग प्रिय है, उसी का उपयोग बतलाया गया है, यही अधिक तर्कशुद्ध है।

इस विकृष्ट नाट्यगृह की लंबाई चौसठ हाथ और चौड़ाई बत्तीस हाथ होती थी। इस सारे क्षेत्र के पूर्व और पश्चिम इस प्रकार दो भाग किये जाते थे। इस प्रकार करने से बत्तीस हाथ के जो दो चतुष्कोण बन जाते थे[2], उन में पूर्व की ओर के चतुष्कोण में प्रेक्षकों के लिए प्रेक्षागृह बनाते थे।

अब पश्चिम की ओर जो चतुष्कोण रह जाता था, उस के भी मध्य से दो भाग किया करते थे। इस के अंत में, यानी पश्चिम की ओर नेपथ्यगृह होता था, जहाँ पर पात्र और नटवर्ग वेषभूषा किया करते थे। नेपथ्यभूमि और प्रेक्षागृह इस के मध्य में जो जगह रहती थी उस के भी दो समान भाग

---

[1] 'भारतीय नाट्यशास्त्र,' १-५२।

[2] वही २ ३६ ३७

विकृष्ट नाट्यगृह
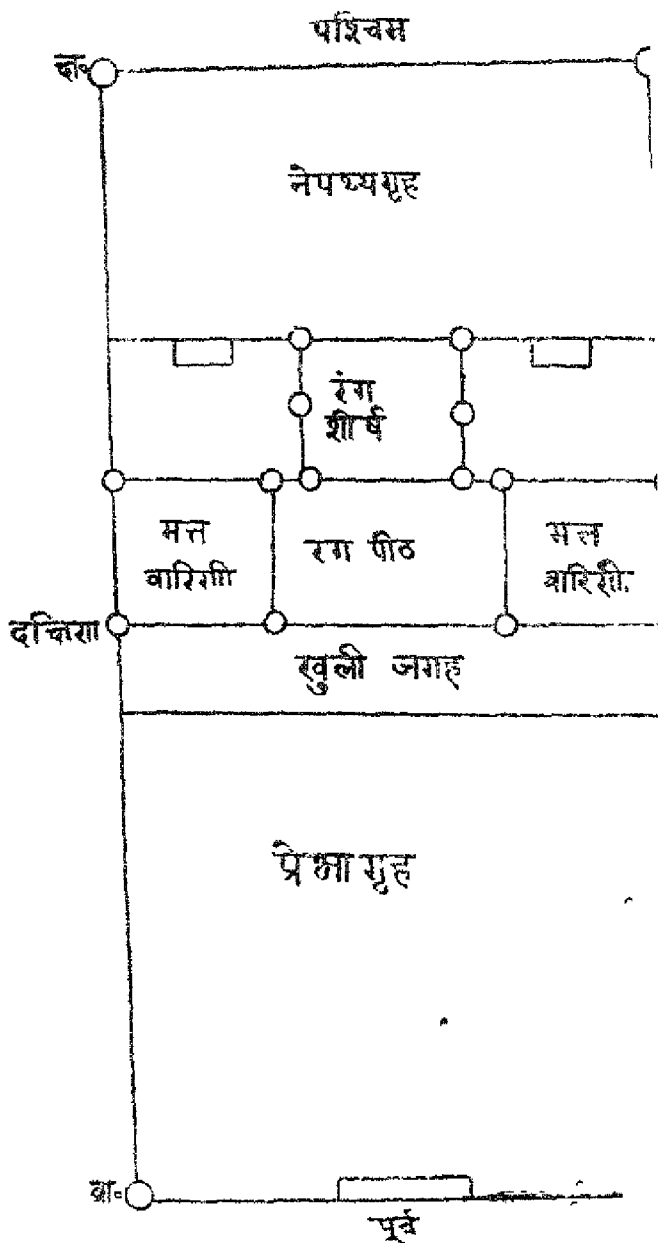
किए जाते थे। इस में से प्रेक्षागृह के समीप के भाग में दोनों ओर आठ हाथ चौकोर जगह छोड़ के मध्य में जो १६×८ स्थान रहता था उसे रंग पीठ कहते थे नेपथ्यभूमि के समीप जो भाग रहता था, उस के ठीक मध्य में आठ हाथ चौकोर जगह लेकर वहाँ पर रंगशीर्ष हुआ करता था। यह रंगशीर्ष और रंग पीठ, नटवर्ग के लिये प्रयोग दिखाने के लिये हुआ करते थे। रंग पीठ के दोनों ओर जो आठ हाथ चौकोर जगह बच रहती थी, उस के चारों कोने में चार स्तंभ खड़े करते थे, और उन्हीं स्तंभों के ऊपर अंबारी के समान बनाने थे इन्हीं को मत्तवारिणी[1] कहा है। और इन्हीं के नीचे के भाग का उपयोग कक्षा करने के लिये किया जाता था। कतिपय विद्वानों ने मत्तवारिणी शब्द का अर्थ कुछ और ही किया है, जैसे कि प्रोफ़ेसर भानु ने नाट्यशास्त्र के मराठी अनुवाद में, यह कहा है कि उन्मत्त लोगों के लिये, कि यह अंदर न जाये इसलिये जो मेंढ बाँधी जाती थी वही मत्तवारिणी है।[2]

कीथ ने तो 'A veranda in front of the stage[3] यह बताया है। परंतु अभिनवगुप्त 'नाट्यवेदनिवृत्ति' से ये दोनों अर्थ ठीक नहीं हैं। पीठ के दोनों ओर चार स्तंभों पर बनाया हुआ मीनार यही उस का वास्तविक अर्थ है।[4] इन दोनों मत्तवारिणियों को आधारभूमि और रंगपीठ उस के आगे की जमीन से डेढ़ हाथ ऊँचे होते थे।[5]

नेपथ्यगृह और रंगपीठ इन दोनों के मध्य में 'रंगशीर्ष' नामक जो भाग होता था उस में लकड़ी के छ स्तंभ हुआ करते थे। इन स्तंभों के संबंध में लिखते समय अभिनवगुप्त ने कहा है, 'नैपथ्यगृह भित्तिलग्नौ स्तंभौ अष्ट हस्तांतरा चन्योन्यं निवेश्य तयोस्समुखं तदपेक्षया चतुर्हस्तांतरं स्तंभद्वयं तेषा

---

[1] 'भारतीय नाट्यशास्त्र,' २-५२।

[2] भानु, 'नाट्यशास्त्र का मराठी अनुवाद,' पृ० ११।

[3] कीथ, 'संस्कृत ड्रामा,' पृ० ३५।

[4] अभिनवगुप्त. 'नाट्यवेद निवृत्ति,' १-५६ टी०।

[5] वही २-५८ टी०।

मधस्तन कार्यं स्तंभद्वयमितिषट'[1] यानी रंगशीर्ष के चारों कोनों में चार स्तंभ हो कर, दोनों के ठीक मध्य में दोनों ओर एक एक स्तंभ और होता था। यह मध्य में कहे हुए स्तंभ और नेपथ्यभूमि के समीप स्तंभों के ही आधार से 'मृच्छ-कटिक' मे वर्णन किया हुआ छत, अथवा 'रत्नावली' में कहा हुआ प्रासाद दिखाते होंगे। उसी प्रकार यह भाग नेपथ्यभूमि के समीप होने के कारण प्रसंग वश यही पर एक और परदा छोड़ कर विभिन्न विभिन्न भाग एक ही समय मे दिखाते होंगे। इस रंगशीर्ष की भूमि और भूमि से थोड़ी ऊँची होने के कारण वेबर ने यह कल्पना की है कि नेपथ्य यह शब्द नि-पथ इस शब्द से निकला हुआ है, और यह स्थान रंगशीर्ष से थोड़ा नीचा होना चाहिये, यह कहा है और उस की यह कल्पना बिलकुल ठीक है; परंतु उसी के विरुद्ध कीथ ने[2] रंगावतरण यानी रंगमंच पर उतरना, कह कर वेबर की कल्पना ठीक नहीं है, ऐसा दिखाने का प्रयत्न किया है। और साथ ही साथ यह भी कहा है कि भारतीय नाट्यगृह स्थायीरूप मे न होने के कारण नेपथ्य और अवतरण ये दोनों शब्द विशेष अर्थ में प्रचलित नही हैं। परंतु नाट्यशास्त्र को पढ़ने से यह स्पष्ट होता है कि इन शब्दों का विशिष्ट अर्थ था। भारतीय नाट्यगृहों में पीठ और शीर्ष ये दोनों भिन्न भिन्न भाग थे, इस बात को कीथ ने कुछ भी महत्त्व नहीं दिया, और इसी कारण यह बात उस की ध्यान मे भी आई दिखाई नहीं देती, परंतु यह बात उन के ऊपर निर्दिष्ट वर्णन से स्पष्ट है। उसी प्रकार रंगशीर्ष के संबंध में लिखते समय 'समुन्नतं समं चैव रंगशीर्षं तु कारयेत' और 'विकृष्टेऽन्नतं कार्यं चतुरस्रं समं तथा'[3] ऐसा कह कर इस के अतिरिक्त 'पूरेण मृत्तिका चात्र कृष्णा देया प्रयत्नतः' इतना कह कर वह मिट्टी कैसी होनी चाहिये, उस को डालने वाले मनुष्य किस प्रकार होने चाहिये, उन की टोकरियाँ कैसी होनी चाहिये, इन सब बातों

---

[1] अभिनवगुप्त, 'नाट्यवेदविवृत्ति,' २-५७ टी०।

[2] कीथ, 'संस्कृत ड्रामा,' पृ० ३६०

[3] 'भारतीय ' २-८८,८९।

का भी सविस्तर वर्णन किया है[१]। इन सब बातों से रंगशीर्ष दूसरे भागों से कुछ ऊँचाई पर था यह अवश्य सिद्ध होता है। जब यह सिद्ध हो जाता है तब नेपथ्य भूमि और रंगपीठ ये दोनों उस से नीचे थे यह, अपने आप ही सिद्ध है, और फिर रंगावतरण यानी रंग पर उतरना व नेपथ्यभूमि, ये दोनों ही शब्द शीर्ष की दृष्टि से ठीक दिखाई देते हैं।

अभिनवगुप्त ने नेपथ्यगृह और रंगशीर्ष के बीच में जो दीवार बतलाई है उस दीवार में दो दरवाजे हुआ करते थे[२] इन दो दरवाजों के मध्य में गायक और वादक बैठा करते थे।[३] इन दो दरवाजों के अतिरिक्त रंगशीर्ष के उत्तर और दक्षिण दिशा में भी एक एक दरवाजा हुआ करता था,[४] पात्र प्रथम नेपथ्य गृह में वेषभूषा करता था, उस के पश्चात् नेपथ्य गृह के दरवाजे से बाहर आकर रंगशीर्ष की बाईं और दाहिनी ओर के दरवाजों से रंगशीर्ष पर आता था। इन प्रवेश के भी नियम थे।[५] ग्रीक नाट्यगृह में जिस प्रकार समीप का पात्र दाहिनी ओर से आता था, और दूर का पात्र बाईं ओर से आता था, उसी प्रकार भारतीय नाट्यगृह में अवंती और दक्षिणात्य प्रवृति के लोग उत्तर द्वार से प्रवेश कर, दक्षिण द्वार से बाहर जाते थे और पांचाली और मगधी प्रवृति के लोग दक्षिणद्वार से प्रवेश करते थे और उत्तर द्वार से बाहर जाते थे[६]। चीनी[७] नाट्यगृह में भी पात्र इसी प्रकार एक दरवाजे से प्रवेश करने के पश्चात् दूसरे दरवाजे से बाहर जाते थे। इन चार दरवाजों के अतिरिक्त रंगपीठ के सम्मुख

---

[१] 'भारतीय नाट्यशास्त्र,' २—५८—६०।

[२] वही २—५८।

[३] वही १३—२।

[४] वही २—५८।

[५] हेग, 'एंटिक थिएटर,' पृ० १९४—५।

[६] 'भारतीय नाट्यशास्त्र,' १३—४१।

[७] त्जिवे, 'कुमास,' पृ० २७१।

पूर्व की ओर प्रेक्षाओं के लिये एक दरवाजा होता था।[1] इस प्रकार भारतीय नाट्यगृह के पाँच दरवाजे हुआ करते थे।

रंगशीर्ष में जो लकड़ी का काम होता था, वह अत्यंत सुंदर होता था नाट्यशास्त्र में इस का वर्णन दिया हुआ है। इन स्तंभों पर नाना प्रकार को बेलबूटे, और नक्काशी की हुई होती थी। कतिपय स्तंभों पर कमल इत्यादि खोद कर ही बनाये जाते थे। किसी पर सर्प की आकृति हुआ करती थी। स्तंभों के ऊपर छोटी सी छत (gallery) हुआ करती थी उन में भी नाना प्रकार की खिड़कियाँ होती थीं। स्तंभ के नीचे जो चौखट और उन के ऊपर चौखटें होती थीं वह भी कई प्रकार की हुआ करती थीं। नीचे की भूमि भी स्वच्छ और चिकनी हुआ करती थी, नाट्यमंडप की दीवारों पर भी चूना लगा कर उन को चिकना बनाया जाता था। उन पर भी अनेक प्रकार की बेल-बूटियाँ काढ़ी जाती थीं, और अनेकों सुंदर स्त्री-पुरुषों के चित्र हुआ करते थे।[2] सारे नाट्यमंडप में वाद्य सुनाई दे इसलिए, हवा जोर से अंदर न आवे इस प्रकार व्यवस्था की जाती थी।[3] इस रंगशीर्ष से बारह हाथ दूर यानी रंगपीठ पर चार हाथ स्थान छोड़ कर प्रेक्षकों के लिये स्थान था।[4] यह स्थान "आदौ निम्ना ततोप्युन्नतेति क्रमेण रंगपीठात् प्रभृति द्वारपर्यंत यावन् रंगपीठोत्सेधतुल्योत्सेधा भवति" एवं 'परस्परं नाच्छादनं सामाजिकानां'[5], इस प्रकार होती थी, यानी रंगपीठ से प्रेक्षक प्रवेश द्वार तक डेढ़ हाथ ऊँचाई रहे इस प्रकार से उस की व्यवस्था थी, जिस से प्रेक्षागृह के सब प्रेक्षक बड़ी सुगमता से नाटक देख सकें।

भरत ने इस प्रकार विकृष्ट नाट्यगृह का वर्णन किया है। यह वर्णन मध्यम विकृष्ट नाट्यगृह का है। ज्येष्ठ विकृष्ट नाट्यगृह की लंबाई १०८

---

[1] 'भारतीय नाट्यशास्त्र,' पृ० २, ८५।

[2] वही पृ० २, ६४-६७।

[3] वही २—७०, ७१।

[4] वही ६७—६३।

[5] 'अभिनव गुप्त नाट्यवेद विवृत्ति,' २ ६९ टी०

हाथ और कनिष्ट की लंबाई ३२ हाथ होती थी।[1] यदि मंडप बहुत बड़ा हो तो अनेक प्रकार के दृष्टि-भेद प्रेक्षक नहीं देख सकेंगे और न गायन अथवा भाषण ही स्पष्टतया सुन सकेंगे, इसलिए—

प्रेक्षागृहाणं सर्वेषां तस्मान्मध्यममिष्यते।
यावत्पाठ्यंच गेयं च तत्र श्रव्यंतरं भवेत ॥[2]

इस श्लोक के अनुसार मध्यम प्रकार का नाट्यगृह इष्ट है, यही भरत ने कहा है और इसी लिए नाट्यगृह का वर्णन करते समय उस ने विकृष्ट प्रकार के मध्यम नाट्यगृह का वर्णन किया है।

विकृष्ट के समान ही चतुरस्र नाट्यगृह के भी तीन भेद हैं, १०८ हाथ लंबाई का ज्येष्ठ, ६४ हाथ लंबाई का मध्यम और ३२ हाथ लंबाई वाला नाट्यगृह कनिष्ठ। भरत ने इन में से केवल कनिष्ठ का ही वर्णन किया है। उन का कथन है 'बत्तीस हाथ चौकोर एक क्षेत्र ले कर, उस के चारों ओर मजबूत ईंटों की दीवार बनानी चाहिए, अंदर के भाग में रंगपीठ के आस-पास दस स्तंभ गाड़ने चाहिए, और उसके पश्चात् प्रेक्षकों के लिये, सीढ़ियाँ जो एक एक हाथ ऊँची हों बनानी चाहिए, जिस से की नाटक देखने में प्रेक्षकों के लिये सुगमता हो।[3] भरत के केवल इतने ही वर्णन करने से चतुरस्र रंगपीठ का स्पष्टतया बोध नहीं होता और यही कारण है कि कतिपय टीकाकार भरत के इस कथन का अनेकों प्रकार से अर्थ करते हैं। इन टीकाओं का उल्लेख अभिनव गुप्त ने केवल 'अन्ये' इसी शब्द से किया है और एक टीकाकार को 'वार्तिककार' कहा है। अधोलिखित वर्णन अभिनवगुप्तकृत 'अभिनवभारती' में श्री शंकुक के मतानुसार है।

श्री शंकुक जी कहते हैं, 'अष्टाभिर्भागैः सर्वतः क्षेत्रं विभज्यते येन चतुरंग फलकवत् चतुः षष्टि कोष्ठं भवति। तत्र मध्यम कोष्ठचतुष्कै रंगपीठं सर्व-

---

[1] 'भारतीय नाट्यशास्त्र,' २—११।

[2] वही २—२४।

[3] वही २ ७५ ८१।

तोऽष्टहस्तम्। तस्य पश्चिमे भागे प्राक्पश्चिममेव द्वादशहस्तं द
द्वात्रिंशत्करं क्षेत्र मवशिष्यते। यद्रंगपीठेन स्वीकृतं तद्‌द्विहस्ता
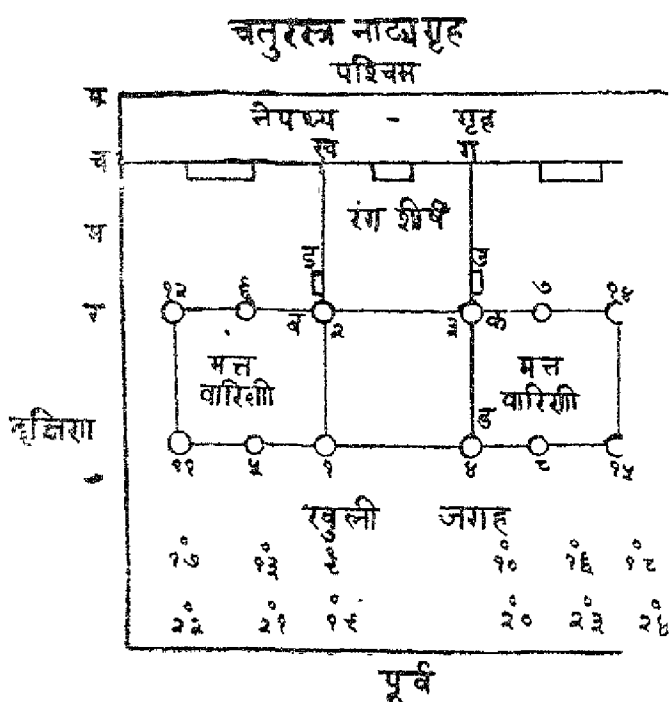
वशिष्ठं क्षेत्रं तन्मध्याद्रंगपीठनिकटगतं प्राक्पश्चिमतश्चतुर्हस्तं वि
शंत् हस्तं क्षेत्रं। तस्मात् विभज्यते तावत्प्रमाण। एवं पश्चिम भा
रंगशीर्षकसंस्थानं रंगशिरः कुर्यात्। तथोपि पश्चिमे नेपथ्य गृहम्।'
हाथ लंबा और बत्तीस हाथ चौड़ा जमीन का एक टुकड़ा ले कर
और चौड़ाई मे आठ भागों में विभाजित करना चाहिए। इस प्र
करने पर चौसठ भागों में वह विभाजित होगा अब मध्य के च
यदि हम लें तो आठ हाथ लंबाई और आठ हाथ चौड़ाई का
वही चतुरस्त्र नाट्यगृह का रंगपीठ (देखो संमिलित चित्र में अ

इस के पश्चिम में पूर्व पश्चिम　　　　चौड़ाई औ
बत्तीस हाथ लंबाई का एक भाग (य र ल व) होगा रंगपीठ

चौड़ाई आठ ही हाथ रहेगी। इस के पश्चिम के क्षेत्र से रंगपीठ के समीप ही पूर्व पश्चिम चार हाथ चौड़ाई का और दक्षिणोत्तर बत्तीस हाथ लंबाई का जो भाग (म र ल त) होगा उस में से रंगपीठ के ही बराबर आठ हाथ लंबाई का भाग ले कर (इ व क ड) उसी के पश्चिम में उसी के बराबर (ख इ उ ग) भाग ले कर इन दोनों को मिला कर जो (ख व क ग) भाग होगा उसी पर रंगशीर्ष करना चाहिये। इस (ख व क ग) भाग के भी पश्चिम में जो चार हाथ चौड़ाई और बत्तीस हाथ लंबाई का (य च छ ब) भाग रहता है उस में नेपथ्यगृह करना चाहिए। इस प्रकार व्यवस्था होने के पश्चात जो दस स्तंभ बतलाए हैं, उस के संबंध में श्री शंकुक कहते हैं "कोण चतुष्टये तावच्चत्वार:। तत्राग्नेय-स्तंभाच्चतुर्हस्तान्तरो दक्षिण: स्तंभ:। तथैव नैर्ऋत स्तंभात् द्वितीय:। एवमुदिच्यामपि स्तंभद्वयम्। पूर्वभागे आग्नेयेशानदिग्गता स्तंभ-द्वयाच्चतुर हस्तांतरं स्तंभद्वय मिति षट्। कोणगाश्चत्वार इति दश। एतद्बहि: सामाजिकानामासनानि।" यानी रंग पीठ के चारों कोनों में १, २, ३, ४ इस क्रमांक से स्तंभ होने चाहिये, इस के पश्चात आग्नेय दिशा में जो नं० १ का स्तंभ है उस से चार हाथ की दूरी पर दक्षिण दिशा की ओर नं० ५ का स्तंभ होना चाहिये। उसी प्रकार नैऋत्य में नं० २ के स्तंभ से दक्षिण की ओर चार हाथ की दूरी पर नं० ६ का स्तंभ होना चाहिए। यानी दक्षिण दिशा में नं० ५ और ६ ये दो स्तंभ हुए। ठीक इसी प्रकार वायव्य और इशान की ओर होने वाले नं० ३ और ४ के स्तंभों से चार चार हाथ की दूरी पर ७ और ८ नंबर के स्तंभ होंगे इसी प्रकार आग्नेय और ईशान इन में स्तंभ नं० १ और ४ से चार चार हाथ की दूरी पर पूर्व की ओर एक एक स्तंभ देने से उस दिशा में भी नंबर ९९ और १० के दो स्तंभ होंगे। इस प्रकार ये छ और पीठ के चारों कोने में स्थित चार स्तंभ मिल कर दस स्तंभ होंगे। इन दस स्तंभों के बाहर प्रेक्षकों के लिये स्थान करना चाहिये। इन नाट्यगृह में भी प्रेक्षकों का स्थान रंगपीठ से चार हाथ की दूरी पर है, यह बात ध्यान देने योग्य है। इन स्तंभों के पश्चात् भरत ने छ और आठ इस प्रकार चौदह स्तंभ और कहे हैं।[1] इन चौदह स्तंभों में से पहिले छे स्तंभों को

---

[1] 'भारतीय ,' २-८१ ८२

श्री शंकुक ने इस प्रकार विभाजित किया है। "रंगपीठस्य दक्षिणतो निवेशित स्तम्भद्वयाच्चतुर्हस्तांतरावन्योन्यमष्टहस्तान्तरौ द्वौ। तत्र आग्नेय स्तंभ संमुखो योन्यऽस्तु पूर्वस्तंभस्त तश्चतुर्हस्तांतरं दक्षिणस्तंभं कुर्यादेवमुत्तरत्रापि।" यानी रंगपीठ की दक्षिण के ओर स्तंभ नं० ५ व ६ से चार चार हाथ की दूरी पर परंतु आपस में आठ आठ हाथ की दूरी पर स्तंभ नं० ११ व १२ होना चाहिये। फिर आग्नेय दिशा के स्तंभ से जो पूर्व की ओर चार हाथ दूरी पर स्तंभ नं० ९ है, इस के दक्षिण दिशा में चार हाथ दूरी पर स्तंभ नं० १३ होना चाहिये। इसी प्रकार से उत्तर दिशा में भी तीन स्तंभ नं० १४,१५,१६ होना चाहिये इस प्रकार से छः स्तंभ हुए। दूसरे आठ स्तंभों के संबंध में श्री शंकुक जी का कथन है, "दक्षिण भित्तेरुदाभागे चतुर्हस्तांतरे पूर्वस्थापित स्तंभाद्भित्तेश्चैकं स्तंभं दध्यात् पूर्वम्। एवमुत्तरभित्तेर्दक्षिण दिग्भागे। ततः पूर्वभित्तेश्चतुर्हस्तांतरौ रंगभागद्वयानुसारेण। ततोऽपि चतुर्हस्तान्तरौद्वौ।" यानी दक्षिण की दीवार से उत्तर की ओर चार हाथ के अंतर पर पूर्व वर्णन किए हुए स्तंभ नं० १७ से और दीवार से चार हाथ के अंतर पर पूर्व की ओर १७ नंबर का स्तंभ होना चाहिए। इसी प्रकार उत्तरी दीवार की दक्षिण दिशा की ओर पहिले स्तंभ से व उत्तरी दीवार से चार हाथ की दूरी पर पूर्व दिशा की ओर ही स्तंभ नं० १८ होना चाहिये। इस के पश्चात् पूर्वी दीवार से चार हाथ की दूरी पर रंगमंडप के दोनों भागों से स्तंभ १९ और स्तंभ नं० २० चाहिये। और इन स्तंभों से चार हाथ की दूरी पर दोनों दिशाओं में दो दो स्तंभ यानी स्तंभ नं० २१, २२, २३, २४ खड़े करनी चाहिये। इस प्रकार सब मिला कर चौबीस स्तंभ होते हैं। संभव है कि ये इतने स्तंभ सीढ़ियों के आधारस्वरूप हों।

चतुरस्र मंडप का रंगशीर्ष पहिले ही के समान लंबाई में आठ और चौड़ाई में आठ हाथ होता था। उस में लकड़ी के स्तंभ भी उसी प्रकार होते

होता था तथापि इस में से बाहर निकलने के लिये रंगशीर्ष के दोनों ओर दो दरवाज़े व रंगशीर्ष के उत्तर और दक्षिण में रंगशीर्ष में प्रवेश करने के लिये दो दरवाज़े तथा प्रेक्षकों के अंदर आने के लिये पूर्व की ओर एक दरवाज़ा इस प्रकार पाँच द्वार विकृष्ट नाट्य मंडप के समान ही होते थे।[1] अभिनव गुप्त के मत से इस नाट्यगृह में नेपथ्यगृह से रंगपीठ की ओर आने के लिये प्रेक्षक प्रवेश द्वार के संमुख एक और द्वार होना था। इस का उपयोग सूत्रधार और नटी के प्रवेश के लिये होता था। इस प्रकार इस में सब मिला कर सात द्वार होते थे। यद्यपि इस नाट्यगृह में रंगपीठ के दोनों ओर कुछ स्तंभ थे तथापि इन स्तंभों के ऊपर ही मत्तवारिणी हुआ करती थी, और इस के भी रंगपीठ और रंगशीर्ष ये दोनों भाग और भागों की अपेक्षा ऊँचाई में कुछ अधिक होते थे।

भरत के नाट्यगृह का तीसरा प्रकार त्र्यस्र नाट्यगृह है, यह हम पहिले ही कह चुके हैं। इस में भी ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ ये तीन भेद हैं। इसी लिए भरत ने इस का वर्णन करते समय लंबाई का कोई भी प्रमाण नहीं दिया। पुनरावृत्ति का दोष न हो इसलिये उसने—

"विधिर्यश्चतुरस्रस्य भित्ति स्तंभ समाश्रयः।
सतु सर्वः प्रयोक्तव्य त्र्यस्यापि प्रयोक्तृभिः॥[2]

इस प्रकार चतुरस्र के समान ही सब विधि बतलाई हैं। चतुरस्र के समान ही समभुज त्रिभुज के प्रत्येक ओर के आठ आठ समभाग कर, उन भाग बिंदुओं से दोनों ओर समांतर रेखाएँ निकालने से उस समभुज त्रिकोणाकृति भाग के भी चौंसठ समभुज त्रिकोण बन जाते हैं। इन चौंसठ त्रिकोणों में से मध्य के चार त्रिकोणों का रंगपीठ उस के पश्चिम में पाँच त्रिकोणों का रंगशीर्ष और उस के भी पश्चिम में १६ त्रिकोणों का नेपथ्यगृह बन जाता है। इस में बैठने के स्थान भी चतुरस्र के समान होता

---

[1] 'भारतीय नाट्यशास्त्र' २-७७।

[2] वही २-९२, ९३ (पा० मे०)

था, और इस में द्वार भी होते थे। जन-प्रवेशन-द्वाररंग पीठ के संमुख पूर्व की ओर आखिरी त्रिकोण मे हुआ करता था। नेपथ्यगृह से रंगशीर्ष पर आने के लिये ठीक प्रवेशद्वार के संमुख नेपथ्यगृह में एक द्वार होता था। इस नाट्यगृह की रचना आगे दी हुई आकृति से सहज ही ध्यान में आ सकती है।
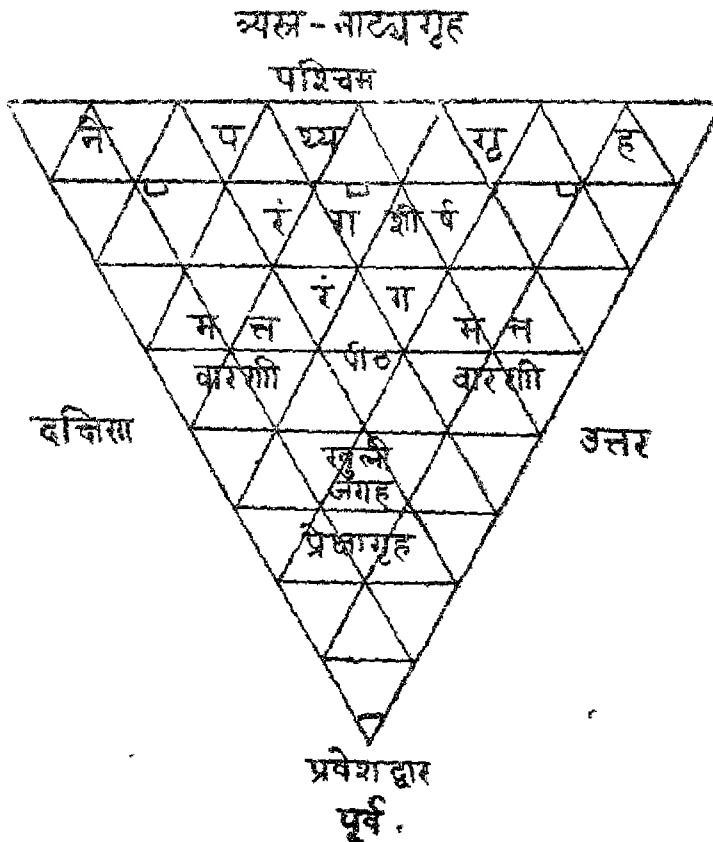
भरत ने इस प्रकार जिन तीन नाट्यगृहों का वर्णन किया है उन में ग्रीक नाट्यगृहों में न दिखाई देने वाली सामान्य बातें, यानी नेपथ्यभूमि, मत्त-वारणी और रंगशीर्ष ये हैं। इन बातों के आधार पर हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि भारतीयों की नाट्यगृह की कल्पना ग्रीक नाट्यगृहों के आधार

यहाँ उपजी हुई समझनी चाहिए। प्रथम ही नाट्यप्रयोग के समय नाट्यगृह की आवश्यकता देवताओं को हुई और उन्हों ने उसी समय विश्वकर्मा से स्थायी रूप से सुरक्षित नाट्यगृह निर्माण करवा लिया।[1] प्राचीन इतिहास से भी यही बात सिद्ध होती है।

नाट्यगृह के वर्णन पश्चात् स्वाभाविकतया यह प्रश्न हमारे संमुख उपस्थित होता है, कि इन नाट्यगृहों की अंतर्व्यवस्था किस प्रकार की थी। विशेषतः आजकल जैसे परदे उन दिनों थे अथवा नहीं थे। नाटक के परदों के लिये यवनिका शब्द होने से कोनो महाशय ने यह मत प्रतिपादन किया है कि भारतीयों ने परदों की कल्पना ग्रीक लोगों से ली है।[2] परंतु कोनो साहब के मत का कीथ ने भली प्रकार खंडन किया है। कीथ के कथन का सारांश इस प्रकार है, कि जब ग्रीक नाट्यगृहों ही में परदों की रीति नहीं थी, फिर यह कहना कहाँ तक ठीक है कि भारतीयों ने परदों की कल्पना ग्रीक नाट्यगृहों से ली होगी? यद्यपि 'यवनिका' यह शब्द बाद में परदे के अर्थ में ही रूढ़ि हो गया हो, तथापि पहिले इस का उपयोग विशेषण रूप में ही किया जाता था। यवनिका यह यवन इस नाम का विशेषण हुआ है। बहुत समय पहिले यवन यह शब्द ग्रीक लोगों के लिये था। परंतु आगे चल कर 'यवन' शब्द इजिप्ट, ग्रीस और बॉक्ट्रिआ के लोगों के लिये भी उपयोग किया जाने लगा, इसलिये यवनिका इस शब्द से केवल इतना ही कह सकते हैं—कि भारतीय परदों के लिए जिन कपड़ों का उपयोग करते थे वे संभव है ग्रीस, फारस इत्यादि पाश्चात्य देशों से आते हों।

परंतु कीथ साहब की यह कल्पना भी ठीक 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानुमती ने कुनबा जोड़ा' के प्रकार की है।

कीथ के कथनानुसार यदि ग्रीक नाट्यगृहों में परदा था ही नहीं तब 'यवनिका' यह शब्द यवन इस लोकवाचक शब्द से ही निकला इस के कहने में

---

[1] 'भारतीय नाट्यशास्त्र,' १५५-५७।

[2] कीथ, 'संस्कृत ड्रामा' पृ० ६१।

भी क्या अर्थ ? यदि वैसे देखा जाए तो यवन इस लोकवाचक शब्द से निकले हुए दूसरे किसी भी शब्द का रूप 'जादि' यानी 'ज' पहिले होना कभी नही हो सकता। उदाहरणार्थ, यवनी का अर्थ है यवन स्त्री, अथवा यवनानी यानी यवनों की लिखने की भाषा अथवा यवनीय यानी यवनों का, इन में से किसी भी शब्द का रूप 'जवनी', जवनानी अथवा जवनीय इस प्रकार नहीं हुआ है। फिर केवल यवनिका इस शब्द का ही रूप जवनिका हो गया, इस का क्या कारण है ? अर्थात् मूल शब्द जवनिका होना चाहिए और उस का अपभ्रंश यवनिका होना चाहिए ऐसा प्रतीत होता है। 'भारतीय नाट्यशास्त्र' में पाँचवे अध्याय के ग्यारहवें और बारहवें श्लोक में यह शब्द दो स्थानों पर आया हुआ है, और इन दोनों ही स्थानों पर यह शब्द 'जवनिका' ही लिखा हुआ है। हरिवंश में भी परदे के लिये 'जवनी' यानी 'जादि' यही शब्द है।[1] 'शिशुपालवध' के नीचे दिये हुए श्लोकों में भी जवनिका ही शब्द है।

समीर शिशिरः शिरः सु वसतां।
सतां जवनिका निकाम सुखिनाम्॥
बिभर्ति जनयं सुदमपा।
मपायधवला बलाहक ततीः॥[2]

इस के अतिरिक्त यवनिका यह शब्द परदे के अर्थ में किसी भी ग्रंथ में पाया नहीं जाता। शाकुंतल के एक संस्करण में अवश्य यवनी के लिये यवनिक यह पाठ भेद है।[3] इन सब बातों से यह मानने में कि मूल शुद्ध शब्द 'जवनिका' है और किसी त्रुटि के कारण 'ज' के स्थान पर 'य' आ जाने से यवनिका यह रूप बन गया हो कोई भी आपत्ति नहीं है। इतना होते हुए भी यवनिका को संस्कृत शब्द कह कर उस का प्राकृत रूप 'जवनिका' हुआ है ऐसा समझना, और इस के पश्चात भी यवनिका यह शब्द 'यवन' से बना

---

[1] 'हरिवंश,' २—८८

[2] 'शिशुपालवध,' ४—५४

[3] मोनियर विलियम्स 'डिक्शनरी' यवनिका शब्द

और यद्यपि यवनों का परदों से लेशमात्र भी संबंध न होते हुए, फिर भी यह कहना कि यवन देश से जो कपड़ा आता था उस के परदे बनते थे कहाँ तक ठीक हो सकता है ? हमारा तो कहना है कि इस मत के समर्थन के लिये कीथ महाशय ने ऐसा उलटा चक्कर क्यों लगाया ? इस को वे ही जानें। जवन का सीधा सादा अर्थ है वेगवान, यह शब्द 'जू' धातु से बना है यह कौमुदी से स्पष्ट है[1] 'जुचङ्क्रम्य दंद्रम्य सृगृधिज्वलशुचलषपतपदः। जु इति सौत्रो धातुर्गतौ वेगे च। जवनः।' और इस जवन शब्द का ही स्त्रीलिंग जवनि अथवा जवनिका यह हो सकता है, इसलिये एक दम खींचा जाने वाला परदा यही इस का अर्थ होना चाहिये। स्त्रीलिंगी विशेषण करने का कारण आगे जो उस का विशेष्य तिरस्कारिणी है यह स्त्रीलिंगी है। अमरकोश में भी 'प्रतिसीरा जवनिका स्यात्तिरस्कारिणी चसा' ऐसा 'जादि' का पाठ दिया हुआ है और इस के टीकाकार भानुजी दीक्षित, कौमुदी-लेखक भट्टोजी दिक्षित के पुत्र ने यह शब्द 'जु' धातू से ही बना है यह सिद्ध किया है। उसी स्थान पर उस ने जो दूसरा पाठ भेद दिया है वह यवनिका न हो कर 'यमनिका' है। छोटी नावों को वेग देने के लिये जो कपड़ा बाँधते हैं उसे भी जवनिका कहते हैं इस प्रकार विल्सन का कथन कोषकार मोनियर-विलियम्स ने कहा है। यह सब को प्रत्येक मान्य करेगा।

इस से यह सिद्ध होता है कि परदे लगाने की प्रथा भारतीयों ही की है, और उन्हों ने किसी से भी उसे ले कर अपनाया नहीं। अब यदि परदे लगाने की प्रथा भारतीयों ही की है, तब वे नाट्यगृह में कितने परदे लगाते थे, इस बात का अधिक महत्त्व नहीं रहता। परदों से आहार्याभिनय को किस प्रकार सहायता मिलती है यह जान लेने के पश्चात् एक के स्थान पर कई परदे लगाना यह स्वाभाविक है। परंतु इतना होते हुए भी विंडिश के जैसे पाश्चिमात्य विद्वान् ने यह कहा है कि नाट्यगृह में एक ही परदा हुआ करता था और वह नेपथ्य-

---

[1] पाणिनि ३ २ १५०।

गृह और रंगशीर्ष के बीच में हुआ करता था[1]। परंतु पहिले नाट्यगृहों का जो वर्णन हम कर आए हैं उस से यह स्पष्ट है कि नेपथ्यगृह और रंगशीर्ष के मध्य में एक दीवार होती थी इसलिये हमें उस दीवार पर परदा डालने का कुछ भी प्रयोजन दिखाई नहीं देता। मुख्य परदा रंगपीठ और रंगशीर्ष के मध्य में हुआ करता था, ऐसा अभिनवगुप्त का कथन है।[2] परंतु इस मुख्य दर्शनी परदे के अतिरिक्त भी और परदे थे, ऐसा कहने के लिये भी आधार है। 'मालविकाग्निमित्र' में दूसरे अंक का जहाँ आरंभ होता है, वहाँ नाट्य सूचना—'ततः प्रविशति संगीतरचनाया मासनस्थो राजा सवयस्यो धारिणी परिव्राजिका विभवतश्च परिवारः' इस प्रकार है। आसनस्थो राजा इस पदद्वय से आसन पर बैठा हुआ राजा दिखाई देता है, ऐसा ही मानना पड़ेगा और इसलिये रंगपीठ और रंगशीर्ष के मध्य का परदा उठा उठा कर ही यह दृश्य दिखाने होंगे। इस के आगे कंचुकी का निष्क्रमण और गणदास का आगमन रंगशीर्ष के द्वारों से होता होगा परंतु आगे राजा के मुख में यह

> नेपथ्य परिगतायाश्चक्षुर्दर्शन समुत्सकंतस्याः।
> संहर्तु मधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्कारिणीम्' ॥

श्लोक है। इस श्लोक के तिरस्कारिणी इस पद से यह स्पष्ट है कि राजा की दृष्टि में दूसरा कोई परदा होना चाहिये। इसलिये एक ही परदा था, ऐसा मानने का कोई भी कारण नहीं है। इस के अतिरिक्त, नटवर्गों को दृश्य दर्शाने के लिये जितने परदों की आवश्यकता होती थी उतने परदे लगाते थे, इस प्रकार कल्पना करने में कोई संकोच नहीं होता।

दृश्य दर्शाने का काम कक्षाओं से भी होता था। भरत ने इस शब्द का अर्थ स्पष्टतया कहीं भी नहीं बतलाया, परंतु अभिनवगुप्त ने इस का अर्थ 'निष्क्रमण प्रवेश इत्याद्युपयोगिस्थानम्'।[3] यानी पात्रों को आने और जाने के

---

[1] कीथ, 'संस्कृत ड्रामा,' पृ० ६१।

[2] अभिनवगुप्त 'नाट्यवेद निवृत्ति,' १२-२ टी०।

[3] वही १२ २ टी०

लिये जो स्थान हो वही कहा है। कोष में इस शब्द का अर्थ हर्म्य-प्रकोष्ठ है, और द्वार के दोनों ओर होने वाले छोटे कमरों के अर्थ में प्रकोष्ठ शब्द का उपयोग 'मुद्राराक्षस'[१] और 'कुमारसंभव'[२] में किया गया है। इस से रंगशीर्ष में जो दो स्तंभ बतलाये गए हैं उन्हीं दोनों ओर कक्षाएँ होना चाहिये ऐसा प्रतीत होता है। ये तीन हुआ करती थीं। आभ्यंतर, मध्यम और बाह्य।[३] नेपथ्य-गृह से लगी हुई आभ्यंतरकक्षा, रंगपीठ से लगी हुई बाह्यकक्षा और दोनों के बीच की मध्यमकक्षा। ये विभाग रंगशीर्ष में किस प्रकार दिखाते होंगे, इस का यही एक मार्ग है कि रंगशीर्ष के स्तंभों और दीवार के बीच में परदे लगाकर और उसी के अनुसार रंगशीर्ष के भाग समझना।

कक्षा विभाग करने वाले परदे इच्छानुसार बदले जा सकते थे और इन कक्षाओं की सहायता से पर्वत, द्वीप नदियाँ इत्यादि दिखाते थे।[४]

जिस समय कक्षा विभाग बदलना होता था उस समय रंगपीठ पर पात्र फिरता था, ऐसा भरत के इस श्लोक से ज्ञात होता।

कक्षाविभागो निर्देश्यो रंगपीठ परिक्रमात्।
परिक्रमेण रंगस्य ह्यन्या कक्षा भवेदिह ॥[५]

उपलब्ध नाटकों में भी जहाँ जहाँ दृश्य बदलना होता था वहाँ जो पात्र रंगभूमि पर होता था उस के लिये 'इ तिपरिक्रामति' 'इति परिक्रम्य' इस प्रकार नाट्य सूचना दी हुई है वह इसीलिये होनी चाहिये। इन परिक्रमाओं के अल्प या अधिक संख्याओं से कक्षा का देश कितना दूर अथवा समीप है यह ज्ञात होता था। दूर का देश यदि दिखाना हो तो पात्र से अधिक परिक्रमा और

---

[१] 'मुद्राराक्षस,' १।

[२] 'कुमारसंभव' ७-७०।

[३] 'भारतीय नाट्यशास्त्र' १३-११ के आगे अभिनवगुप्त का दिया हुआ श्लोकार्ध 'बाह्ये वा मध्य में वापि तथैवाभ्यंतरे स्थितः'।

[४] भा० ना० १३ ५।

[५] वही १३ ३

समीप का दिखाना हो तो कम परिक्रमा कराना चाहिये। इस प्रकार भरत ने

सैव भूमिस्तु बहुभिर्विकृष्टा स्यात् परिक्रमैः।
मध्यदासन्नकृष्टा वा तेषामेव विकल्पनाद्॥[1]

इस श्लोक में स्पष्टतया कहा है कि नाटक होते समय पात्रों को किस ओर से आना और किस ओर से जाना चाहिए। यह हम बतला चुके हैं, उसी के साथ साथ एक यह भी नियम होता था कि कंचुकी, दास-दासी, संदेश-वाहक इत्यादि पात्र जिस कक्षा से अंदर आते थे उसी कक्षा के संमुख द्वार से चले जाते थे। कार्य-निवेदन करने वाले पात्र को उत्तर द्वार से प्रवेश करना पड़ता था, और मुख्य पात्र की बाईं ओर खड़े हो कर कार्य-निवेदन करना पड़ता था। यह भी एक नियम था। मुख्य पात्र सदैव आभ्यंतर कक्षा में बैठा करते थे और गौण पात्र मध्यम कक्षा से आकर रंगशीर्ष के मध्य भाग में बैठा करते थे।[2] पृथक् पृथक् दृश्य किस प्रकार दिखाते थे इस का वर्णन हम यहाँ न करेंगे। इस स्थान पर केवल इतना ही विचार करना है कि पृथक् भूमिका लिए हुए पात्रों को किन किन स्थानों पर विराजमान होना चाहिये। देव और राजा सिंहासन पर बैठते थे, परंतु देवियों और रानियों का सिंहासन गोल होता था। अमात्य, पुरोहित और उन की स्त्रियों के लिये बेंत के बुने हुए आसन हुआ करते थे; सेनापति, युवराज मुद्रासन पर (मोढ़े) पर बैठा करते थे। ब्राह्मण लकड़ी के आसन पर यानी पटरे पर बैठते थे। राजकुमारों के लिये ऊनी गलीचों का उपयोग किया जाता था। भोगिनी स्त्रियों के लिये भी ऊनी अथवा चमड़े के आसनों का उपयोग करते थे। व्रताचरण करने वाले, ब्रह्मचारी अथवा ऋषि दर्भासन अथवा मुद्रासन या वेत्रासन लिया करते थे। और दूसरे पात्र भूमि पर ही बैठा करते थे। आसनों का यह नियम, उसी समय ध्यान में रक्खा जाता था जिस समय

---

[1] 'भारतीय नाट्यशास्त्र' १३-१२

[2] वही १३ ८९ (पा० भे० दक्षिणस्याभिवेदनम्) भ० ना०।

और पात्रों के साथ बैठने का प्रसंग होता था, अन्यथा अपने घर चाहे जिस पात्र को चाहे जिस आसन पर बैठने की स्वतंत्रता थी।

प्रेक्षकों के लिये बैठने के स्थान का प्रारंभ रंगपीठ से चार हाथ की दूरी से होता था। सब से आगे का स्थान प्राश्निकों के लिये नियमित हुआ करता था, और नाटकमंडली के गुण दोष लिखने वाले सिद्ध लेखक इन्हीं प्राश्निकों के समीप बैठा करते थे। ये सिद्ध लेखक और प्राश्निक कौन हुआ करते थे, कौन सा नाटक किस समय करते थे और प्रतिद्वंदिता कर के सब में श्रेष्ठ नाटकमंडली को विजय पताका किस प्रकार देते थे इस के संबंध में भरत ने बहुत कुछ लिखा है। इन सब बातों का समावेश नाट्यगृह में ही होने के कारण इस स्थान पर उन का विचार करना अप्रस्तुत न होगा।

भरत के अनुसार नाटक करने के लिए चार समय बतलाए गए हैं उन मे से दिन में किये जाने वाले नाटक दो समय में किए जाते थे— एक प्रातः काल और दूसरा दिन के तीसरेप्रहर में। यदि रात्रि में नाटक करना हो तो एक रात्रि के पहले प्रहर मे अन्यथा चौथेप्रहर में करते थे। इन में भी यह ठहरा हुआ था कि कौन सा नाटक किस समय करना चाहिये।

श्रुतिमनोहर और धार्मिक नाटक फिर वह शुद्ध हो अथवा विकृत हो प्रातः काल खेलते थे। जिस नाटक में प्रौढ़ भाषा और सात्विक गुणों का प्राधान्य हुआ करता था ऐसा नाटक दिन के तीसरे प्रहर में किया जाता था। शृंगाररस जिस मे मुख्य है ऐसा नाटक रात्रि के प्रथमपहर मे खेला जाता था और जिस में श्रेष्ठ पुरुषों की भूमिकाएँ हो, अथवा जिस में करुण रस अधिक हो ऐसा नाटक रात्रि के चौथे पहर में खेला जाता था। सारांश यह कि निद्रा अथवा दो पहर के भोजन में विघ्न न हो—ऐसे ही समय में नाटक खेला जाता था। नाटक खेलने के लिये यह सामान्य नियम थे।[२] अर्थात् इस का यह अर्थ नहीं था कि कभी विशेष प्रसंगों पर, देश, काल, प्रयोग, प्रेक्षक

---

[२]भा० ना० २७-८६ ७६

इत्यादि का विचार कर अथवा राजा की आज्ञा से दूसरे समय नाटक खेलते ही नहीं थे परंतु इन कारणों के लिए जिस समय चाहे नाटक खेला जाता था। नाटक कितने समय में खेला जाना चाहिए, इस की भी मर्यादा थी। नियत समय में नाटक समाप्त हो ही जाना चाहिए ऐसा प्रतिबंध था। और इसीलिए सूत्रधार ने पारिपार्श्वक के हाथ मे जर्जर देते ही, नाटक कितने समय हुआ यह जानने के लिये पानी में घटिका छोड़ते थे। इतने प्राचीन समय में भी भारतीयों को समय का कितना महत्त्व था, यह इस से स्पष्ट होता है।

नाट्य प्रयोग अच्छा हुआ अथवा नहीं हुआ इस की कसौटी बारह बातों से हुआ करती थी। इन में से दस मानुषी और दो दैवी हैं। इन्हीं को भरत ने सिद्धि यानी साध्य-योजन-सम्पत्ति कहा है।[1] मानुषी सिद्धियों में से दो शारीरिक और आठ वाङ्मयी सिद्धि हैं। यह आठ वाङ्मयी सिद्धियाँ यानी, स्मित, अर्धहास, अतिहास, साधुकार, अहोकार, कष्टकार, प्रवृद्धनाद और अवकृष्ट हैं। किंचित् हास्य उत्पन्न करने वाला अभिनय नटवर्ग के अच्छी प्रकार कर दिखाने पर स्वाभाविकतया प्रेक्षक आनंदित हो कर स्मित करते है, यह स्मित प्रेक्षकों के मुखों पर दिखने से वह अभिनय ठीक हुआ ऐसा कहते थे। इस सिद्धि को स्मितसिद्धि कहते हैं। हास्यकारक वचनों को नटवर्ग के भली प्रकार कहने से प्रेक्षकों को जो हँसी आती है उसे अर्द्धहाससिद्धि कहते है। विदूषक अपने प्रत्युत्पन्नमति भाषण मे राजा के रंग का भंग, अथवा राजा सुख मे होते हुए उसे रुलाना अथवा दुःख में होते हुए उसे हँसाना, यह करने मे समर्थ होता था उस समय प्रेक्षक भी हँस उठते थे इस सिद्धि को अतिहास्यासिद्धि कहते हैं। उसी प्रकार किसी अतिशयोक्ति पर परंतु सुंदर भाषण से प्रेक्षकों के मुख से आनंदातिरेक से साधु साधु शब्द निकलते है, इस सिद्धि को साधुसिद्धि कहते हैं। विस्मयकारक कोई बात अथवा दृश्य

---

[1] अ० ना० २७—१ टी०

[2] भा० ना० २७—४,५ पा० भे० स्मितार्धहासातीहासा साध्वहो कष्ट मेवच। । वैस्वार्थगुणि विक्षेपे

देखने से प्रेक्षक के मुख से अनायास ही 'अहो' शब्द निकलता है इसलिये इस सिद्धि को अहोसिद्धि कहते हैं।[1] अत्यंत करुणाजनक दृश्य भली प्रकार खेलने से, प्रेक्षक दयाभूत हो कर हा 'कष्टम् कष्टम्' कह उठता है इसलिये इसे कष्टसिद्धि कहते हैं। अत्यंत विस्मय जनक बात देखने से केवल 'अहो' कर के ही स्वस्थ नहीं होते परंतु प्रशंसोद्‌गार भी निकालते हैं इसलिये इस सिद्धि को प्रवृद्धनाद कहते हैं। एक पात्र जिस समय दूसरे पात्र को निंदा करता है उस समय प्रेक्षक भी दूसरे पात्र का तिरस्कार करने लगते हैं, और उस समय उन के मुख से भी निंदा व्यंजक शब्द निकलते हैं इस सिद्धि को अवक्रुष्टा अथवा साधिक्षेपा सिद्धि कहते हैं। शारिरी[2] सिद्धि दो—शरीर रोमांचित हो जाना और प्रेक्षक का ध्यान न रहने के कारण अपने स्थान पर आनंदातिरेक के कारण खड़े हो जाना, अथवा उत्तरीय या अंगुली हिलाने लगना यह दूसरी। उस मे से कुतूहल उत्पन्न करने वाली, और आवेश युक्त भाषण उत्तम प्रकार से होने से पहिली सिद्धि होती है और लड़ाई झगड़े उत्कृष्ट प्रकार से दिखाने पर प्रेक्षक जब समरस हो जाते हैं उस समय दूसरी सिद्धि होती है। सारांश यह कि प्रेक्षकों की चित्तवृत्तियाँ जो रस नट दर्शाता हो उस से समरस हो जाने से, तद्रूप हो जाने से ऐसा समझते थे नाटक ठीक हुआ।

दैवी सिद्धि के भी दो प्रकार हैं। पहिला प्रकार यह है कि नट जिस की भूमिका कर रहा हो उसके अनुसार सुंदर होना और दूसरा प्रकार यानी नाट्य प्रयोग होते समय कोई दैवी अथवा औत्पातिक आपत्तियाँ का न आना। ये आपत्तियाँ चार प्रकार से आ सकती हैं। कभी कभी नट के दोषों से, तो कभी शत्रुओं के कारण। कभी दैवी आपत्तियाँ आती हैं तो कभी आकस्मिक रीति से ही आती हैं। जब नट अयोग्य भूमिका लेता है, अथवा अपना भाषण भूल जाता है अथवा दूसरों का ही भाषण कहने लगता है अथवा आहार्य अभिनय में कहने के अनुसार कृत्रिम बातों के उपयोग से अनभिज्ञ होता है

---

[1] भा० ना० २७—१० पा० मे० (अहो कष्ट मेवच)

[2] भा० ना०

अथवा सब ठीक होने पर स्वर विचित्र ही निकालता है तब सिद्धि को ये आपत्तियाँ नटों के दोषों के कारण आई हैं ऐसा समझते हैं। नाट्यप्रयोग के समय कभी मत्सर से नटों के शत्रु दंगा और उपद्रव करते हैं, धिक्कार युक्त शब्द कहते हैं, अथवा गोबर मिट्टी के गोले, ईंटें रंगभूमि पर फेंकते हैं और इस प्रकार के नाट्यप्रयोग में आपत्तियाँ लाते हैं, इस प्रकार के घात को 'परसमुत्थ घात' कहते हैं। जब नाट्यप्रयोग के समय कोई उन्मत्त पुरुष अथवा पशु नाट्यगृह में घुस कर अनर्थ करने लगता है उसे औत्पातिक घात कहते हैं। इस के अतिरिक्त गायक और वादक जो त्रुटियाँ करते हैं वह अलग ही हैं। इस प्रकार से नाट्यप्रयोग की सिद्धि मे कई विघ्न उपस्थित होते हैं, इन सब बातों को ध्यान मे रखते हुए नाटक के गुण दोष देख कर उस पर निर्णय करना पड़ता है। इन सिद्धियों और विघ्नों के गिनने वालों को सिद्धिलेखक कहते हैं। ये सिद्धिलेखक अत्यंत चतुर और कुशल होना चाहिए। इन के गुण क्या होना चाहिए इस का वर्णन करते समय भरत ने कहा है कि इन गुणज्ञों को रसिक, सत्यशोधक और सहृदय होना चाहिए।[१] साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि यह सिद्धिलेखक समवयस्क न हो कर भिन्न भिन्न आयु के होने चाहिये। कारण स्पष्ट है, एक ही आयु वालों के अनुभव उसी प्रकार होंगे और इसीलिये वे भिन्न भिन्न भूमिकाओं से समरस न हो सकेंगे। इस प्रकार प्रत्येक नट के गुणदोष देखकर, सिद्धियों और विघ्नों को देखकर फिर यह निश्चित करना चाहिये कि कौन सी नाट्यमंडली विजय-पताका देने के योग्य है।[२]

भरत ने सिद्धिलेखकों के लिये प्रेक्षक शब्द का भी प्रयोग किया है। इस प्रेक्षक शब्द से और उन के गुणवर्णन से संभव है यह शंका उपस्थित हो कि नाटक सामान्य जन के लिए न होकर केवल इसी प्रकार के रसिक

किये हुए प्रेक्षक परीक्षा के लिए खास कर निमंत्रित किए जाते थे। यह सामान्य जन नहीं होते थे। सामान्य प्रेक्षकों के लिए कोई बंधन नहीं था। सब कोई नाटक देख सकता था। नाटक में कौन सी बातों को प्रत्यक्ष रूप में नहीं दिखाना चाहिए इस के संबंध में भरत ने इस प्रकार कहा है।

पितृपुत्रस्नुषाश्वश्रूदृश्यं यस्मात्तु नाटकम्।
तस्मादेतानि सर्वाणि वर्जनीयानि यत्नतः ॥[1]

इससे यह प्रतीत होता है कि पिता, पुत्र, सास, बहू इत्यादि सब नाटक देख सकते थे।

यदि सिद्धिलेखकों में विजय-पताका किसे दी जाय इस संबंध में एक मत न हो, तब उन के लिए प्राश्निकों का मत लेना चाहिए ऐसा कहा है। प्राश्निक लोग आज कल के पंचों के समान होते थे। प्राश्निकों के गुण भी ध्यान में रखने योग्य हैं।[2] प्राश्निक चरित्र से शुद्ध, धर्माचरण करने वाले, विद्वान, कीर्तिवान, प्रसिद्ध निर्व्यसनी, निर्लोभी, न्यायी, भिन्न भिन्न देशों की भाषा और रहन सहन के ज्ञाता, चारों प्रकार के अभिनय जानने वाले, गायन वादन समझने वाले और उसी प्रकार काव्य के गुण दोष जानने वाले होने चाहिए। सिद्धलेखकों को इन का मत लेना चाहिए, यदि इनमें भी मत भेद हो, तब राजा से पूछना चाहिए और जिसे राजा कहे, उसे ही विजयपताका देना चाहिए। यदि राजा भी निर्णय न कर पावें उस समय दोनो नाट्यमंडलियों को विजयपताका देना चाहिये।

भरत ने जिस प्रकार प्राश्निक, प्रेक्षिक इत्यादि और विजयपताका देने के सम्बंध में लिखा है उससे यह स्पष्ट होता है कि हमारे यहाँ भी ग्रीक[3] लोगों के समान नाट्यमंडलिओं की प्रतियोगिता होती थी। यह प्रतियोगिता जिन स्थानों में होती थी, उन नाट्यगृहों के भिन्न भिन्न भेद,

---

[1] 'भारतीय नाट्यशास्त्र' २२-२८३।

[2] वही २७-४७—५०।

[3] हेग, 'एंटिक थिएटर' पृ० ४४।

वहाँ के स्तंभों की रचना, दृश्य अच्छी प्रकार दिखाए जासकें इसलिये की हुई कक्षों की योजना, प्रेक्षक और प्राश्निकों के बैठने के स्थान, साधारण जनसमूह नाटक भली प्रकार देख सकें, इस, लिए उनकी बैठक इत्यादि वर्णन के पश्चात् यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि भरत ने जिन नाट्यगृहों का वर्णन किया है वह अस्थायी न होकर स्थायी रूप में ही निर्माण किए जाते थे।

महाकवि भूषण

[लेखक—श्रीयुत भगीरथ प्रसाद दीक्षित]

महाकवि भूषण के संबंध में जितनी भ्रांतियाँ फैली हुई हैं उतनी कदाचित् अन्य किसी महाकवि के विषय में नहीं पाई जातीं। शिवसिंह सेंगर ने अपने 'सरोज' की भूमिका में इस बात का उल्लेख किया है। मुझे भी अपने अन्वेषण द्वारा उन के संबंध में प्रचलित अनेक बातें भ्रमपूर्ण प्रतीत होती हैं। उन के विषय में कुछ विचारणीय प्रश्न निम्न लिखित हैं—

(१) उन का असली नाम क्या था ?

(२) उन की जन्म-भूमि कहाँ थी ?

(३) उन के सहोदर बंधु कौन कौन थे ?

(४) उन का जन्म-समय तथा कविता-काल क्या था ?

(५) 'भूषण' की उपाधि का प्रदाता कौन था ? वह कब हुआ ?

(६) भूषण के अन्य आश्रयदाता कौन कौन थे ? उन का समय क्या था ?

(७) भूषण का शिवाजी से क्या संबंध था ? उन का इतना उत्कृष्ट एवं विस्तार-पूर्वक वर्णन भूषण ने क्यों किया ?

(८) 'शिवराजभूषण' और 'शिवाबावनी' का निर्माण-काल क्या है ?

इन्हीं उपर्युक्त बातों पर इस लेख द्वारा प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

भूषण का असली नाम

महाकवि भूषण का असली नाम क्या था ? भूषण की उपाधि से पूर्व

सरोज' में भूषण के अन्य तीन भाई मतिराम, चिंतामणि और नीलकंठ या जटाशंकर बतलाए गए हैं।

इन में से मतिराम व चिंतामणि से तो हिंदी जगत भली भाँति परिचित है। नीलकंठ का भी उल्लेख नागरी-प्रचारिणी सभा की 'खोज रिपोर्ट'[1] व 'फतहप्रकाश'[2] में पाया जाता है। मिश्रबंधु महोदयों ने भी इन का उल्लेख 'विनोद'[3] में किया है। परंतु जटाशंकर के विषय में कहीं से कुछ भी पता नहीं चलता है। नीलकंठ का उपनाम जटाशंकर होता अथवा अन्य किसी कवि का यह नाम होता तो उन के समकालीन कवि अपने संग्रह में कुछ उल्लेख उस का अवश्य करते। परंतु वैसा कोई वर्णन नहीं मिलता, शिवसिंह सेंगर ने केवल सुनी सुनाई बात के आधार पर ही नीलकंठ उपनाम जटाशंकर लिखा है। इस का कोई दृढ़ प्रमाण नहीं मिलता। अतः नीलकंठ का उपनाम जटाशंकर मान लेना ठीक न होगा। उन के कुटुंबियों तथा जन्मभूमि से भी इस का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

'भूषण'[4] यह कवि का प्रारंभिक नाम नहीं है, अतः वे अवश्य दूसरे नाम से पुकारे जाते रहे होंगे। जटाशंकर के नाम की न तो कोई कविता ही मिली और न उन के नाम का कुछ पता ही चलता है। केवल भूषण के भाई की हैसियत से एक मात्र 'सरोज'[5] द्वारा उन का परिचय मिलता है, जो कि केवल किंवदंती के आधार पर ही लिया गया है। परंतु भाई की हैसियत से उन की स्थिति अनिश्चित है। क्योंकि भूषण और चिंतामणि ही सहोदर भाई थे। इन सब बातों पर भली भाँति विचार करने से मेरा यह अनुमान होता है कि ये जटाशंकर अन्य कोई नहीं हैं; हमारे महाकवि भूषण का ही यह असली

---

[1] सन् १९०० की 'खोज रिपोर्ट' नं० ४०

। चूँकि भूषण युवावस्था में बनपुर[1] से तिकवाँपुर आ बसे थे अतः बचपन के नाम का और भी लोप हो गया। और लोग भूषण के नाम न्हे संबोधन करने लगे। इस अनुमान की स्थिरता पर विद्वानों को करना चाहिए।

भूषण की जन्मभूमि व निवासस्थान

महाकवि भूषण अपना निवासस्थान इस प्रकार वर्णन करते हैं—

द्विज[2] कनौज कुल कस्यपी, रतनाकर सुत धीर।
बसत त्रिविक्रम पुर सदा, तरनि तनूजा तीर॥

महाकवि मतिराम अपने ग्रंथ 'छंदसारपिंगल' (वृत्तकौमुदी) में अपना व निवासस्थान आदि का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

तिरपाठी[3] बनपुर बसै, वत्स गोत्र मुनि गेह।
विबुध चक्रमणि पुत्र तहँ, गिरधर गिरधर देह॥
भूमि देव बलभद्र हुव, तिनहिं तनुज मुनि मान।
मंडित पंडित मंडली, मंडन मही महान॥
तिनके तनय उदार मति, विश्वनाथ हुव नाम।
द्युतिधर श्रुतिधर को अनुज, सकल गुणन को धाम॥
तासु पुत्र मतिराम कवि, निज मति के अनुसार।
सिंह स्वरूप सुजान को, बरन्यौ सुजस अपार॥
संवत[4] सत्रह सौ बरस, अट्ठावन शुभ साल।
कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी, करि विचार तिहि काल॥

मतिराम के पंती बिहारीलाल ने भी अपने निवासस्थान और पूर्वज

---

[1] 'छंदसारपिंगल', ('वृत्तकौमुदी') प्रथम सर्ग, छंद २१।

[2] 'शिवराजभूषण', छंद नं० २६।

[3] 'वृत्तकौमुदी', प्रथम सर्ग, छंद २१ २४।

[4] ' ', पृष्ठ १-५।

का वर्णन 'विक्रमसतसई' की 'रत्नचंद्रिका' नामक टीका में इस प्रकार किया है:—

> वसत[1] त्रिविक्रमपुर नगर कालिंदी के तीर।
> विरच्यौ वीर हमीर जनु, मध्य देश को हीर॥
> भूषण चिंतामणि तहाँ, कवि भूषण मतिराम।
> नृप हमीर सम्मान तें, कीन्हे निज निज धाम॥

यह टीका संवत् १८७५ वि० में रची गई थी। इन उद्धरणों पर विचार करने से विदित होता है कि 'वृत्तकौमुदी' की रचना के समय मतिराम आदि 'वनपुर' में रहते थे। उस के पश्चात् भूषण, चिंतामणि तथा मतिराम वनपुर से त्रिविक्रमपुर (तिकवाँपुर) में सं० १७५८ वि० के पश्चात् आ बसे थे, जैसा कि विहारीलाल कवि लिखते हैं। और 'शिवराज-भूषण' की रचना के समय संवत् १७६९ वि० में उक्त तीनों कवि तिकवाँपुर में ही निवास करते थे, जैसा कि आगे चलकर सिद्ध किया जायगा। अतः निश्चित है कि भूषण कवि की जन्मभूमि वनपुर थी। और निवासस्थान त्रिविक्रमपुर, जिला कानपुर था।

भूषण तीन[2] भाई प्रसिद्ध हैं। मतिराम, चिंतामणि और नीलकंठ। भूषण और मतिराम का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। मतिराम अपने को वत्सगोत्री विश्वनाथ का पुत्र कहते हैं[3] और भूषण कश्यपगोत्री रत्नाकर के पुत्र थे; अतएव भूषण और मतिराम सहोदर बंधु नहीं माने जा सकते। नीलकंठ ने अपना कोई परिचय नहीं दिया है। वनपुर से तिकवाँपुर में आ बसने वाले कवियों में नीलकंठ का नाम नहीं है। यद्यपि वे उस समय वर्तमान थे। इस प्रकार इतिहास से भूषण तथा नीलकंठ के बंधुत्व का कहीं

पता नहीं चलता, और न कोई प्रमाण ही मिलता है। अतः नीलकंठ को भूषण का भाई निश्चित रूप से मानना असंगत प्रतीत होता है। 'शिवाजी' नामक ग्रंथ के लेखक नंदकुमारदेव शर्मा ने भी अपने उक्त ग्रंथ में नीलकंठ को भूषण का भाई नहीं माना है। रहे चिंतामणि, इन्हों ने अपने 'रामायण' नामक ग्रंथ में अपना कुछ परिचय दिया है।[1] परंतु खंडित प्रति होने के कारण इस में केवल कश्यपगोत्र का उल्लेख मिलता है। अतः चारों भाइयों मे से केवल भूषण और चिंतामणि ही इस विचारधारा में सहोदर भाई ठहराए जा सकते हैं।

भूषण का जन्म और कविता-काल

'शिवसिंहसरोज' में चिंतामणि का जन्म संवत् १७२९ वि० और भूषण का संवत् १७३८ वि० लिखा है। चूँकि काँथा (शिवसिंह सेंगर की जन्म-भूमि) तिकवाँपुर से १५-२० मील के ही अंतर पर है और उन्हें भूषण संबंधी ऐतिहासिक अशुद्धियाँ बहुत खटकी थीं। इस का उन्हों ने 'सरोज' की भूमिका में स्पष्ट उल्लेख भी किया है। इसी कारण उन्हों ने 'शिवसिंहसरोज' की रचना की थी। अतः उन का यह विवरण सत्य प्रतीत होता है। उन के आश्रय-दाताओं पर विचार करने से भी यही जन्म-काल ठीक जँचता है। यहाँ पर भूषण के आश्रय-दाताओं की एक सूची उद्धृत है, जो कि निम्नलिखित है—

(१) हृदयराम सुरकी[2], संवत् १७६० वि० के लगभग।

(२) महाराजा अवधूतसिंह[3], रीवाँ-नरेश, सं० १७५७ वि० से १८१२ वि० तक।

---

[1] 'माधुरी', वैशाख, सं० १९८१ वि०।

[2] 'सुधा', वर्ष २, खंड १, संख्या ५, पृष्ठ ५२२।

[3] 'इंपीरियल गजेटियर' जिल्द २१, पृष्ठ १८२

(३) कमायूँ-नरेश ज्ञानचंद्र[1], सं० १७५७ वि० से १७६५ वि० तक।

(४) फतहशाह[2], गढ़वाल-नरेश, सं० १७४१ वि० से १७७३ त।

(५) जैपुर-नरेश सवाई जयसिंह[3], सं० १७६५ वि० से १८०० वि० तक।

(६) सितारा-नरेश साहू[4], सं० १७६५ वि० से सं० १८०५ वि० तक।

(७) बाजीराव पेशवा[5], सं० १७७७ वि० से सं० १७९७ वि० तक।

(८) चिन्तामणि (चिमना जी)[6], सं० १७९० वि० के लगभग वर्तमान।

(९) छत्रशाल बुंदेल पन्ना-नरेश[7], सं० १७२८ वि० से १७८९ वि० तक।

(१०) रावराजा बुधसिंह, बूँदी-नरेश[8], सं० १७६४ वि० से १८०५ तक।

(११) दिल्ली-नरेश जहाँदार शाह[9], सं० १७६९ वि०।

(१२) भगवंतराय खीची[10], असोथर-नरेश, सं० १७८० वि० से १७९७ क।

(१३) वसंतराय सुरकी[11] चित्रकूट-पति सं० १७८० वि० के लगभग।

---

[1] 'इंपीरियल गज़ेटियर' से कमाऊँ का इतिहास व गढ़वाल गज़ेटियर पृष्ठ १९।

[2] 'गढ़वाल गज़ेटियर' में इतिहास-भाग, पृष्ठ ११८।

[3] टाड, 'राजस्थान' भाग १, पृष्ठ २८८ व २९८।

[4] पारसनीस का इतिहास, भाग १ पृष्ठ ११७ व ३००।

[5] 'मराठा पीपिल', पृष्ठ २६२ व ग्रांट डफ़ कृत 'मराठा इतिहास' भाग १, पृष्ठ ४५६।

[6] ग्रांट डफ़, 'मराठा इतिहास' भाग १, पृष्ठ ४२७, ५०३; भाग २, पृष्ठ ७।

[7] छत्रशाल का जीवनचरित्र, साहित्य-भवन, प्रयाग से प्रकाशित।

[8] टाड, 'राजस्थान' पृष्ठ ३९०-३९४।

[9] 'माधुरी,' आषाढ़ सं० १९८१; इलियट, 'हिस्ट्री' जिल्द ७, पृष्ठ ४३२; तथा प्रचारिणी पत्रिका', भाग ६, संख्या १।

(१४) अनिरुद्ध सिंह[1] पौरच-नरेश (अज्ञात)।

इन उपर्युक्त आश्रयदाताओं में से छत्रशाल को छोड़ कर एक भी राजा शिवाजी महाराज का समकालीन नहीं है। ये महाशय भी शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् ५० वर्ष से भी अधिक काल तक जीवित रहे थे। अतएव भूषण का जन्म संवत् १७३८ वि० ही ठीक प्रतीत होता है। महाराजा छत्रशाल का अधिकांश राज्यकाल साहू के समय में ही आ पड़ता है। तभी तो भूषण ने कहा था कि "साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रशाल को।"[2] अतः निश्चित है कि भूषण का कविताकाल संवत् १७६० वि० से प्रारंभ हो कर संवत् १८०० विक्रमी तक पहुँचता है। क्योंकि उन के आश्रयदाता इसी काल में वर्तमान थे। इन आश्रयदाताओं पर भी आलोचनात्मक विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है, ताकि भूषण के समय और जीवनचरित्र पर अधिक प्रकाश डाला जा सके।

भूषण और साहू

भूषण ने अपने आश्रयदाता साहू की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। ये महानुभाव थे भी बड़े उदार और गुणग्राही। भूषण ने जो कार्य राष्ट्र के लिये किया था। वह बड़ा महत्त्वपूर्ण था। अतः साहू ने भी भूषण का यथोचित् सम्मान किया। शिवाजी का आदर्श "गौ ब्राह्मण हिताय च" ले कर भूषण ने सारे हिंदू समाज को ऐसा उद्बुद्ध कर दिया कि उस में अपूर्व नव-जीवन भर गया। सावरकर[3] महोदय ने भी अपने 'हिंदुत्व' नामक ग्रन्थ में साहू व भूषण के विषय में ये ही विचार प्रकट किये हैं।

औरंगज़ेबी अत्याचारों से जो समाज पादाक्रान्त हो रहा था उस में अपूर्व उत्साह आ गया और भूषण के जीवन-काल में ही अखिल भारत वर्ष में हिंदुओं की जागृति हुई। छत्रपति साहू ने जो सम्मान भूषण क किया वह भी वर्णनातीत था। ऐसा प्रचुर धन और सत्कार दूसरे किसी कवि

---

[1] 'सुधा', वर्ष ३, संख्या ५, पृष्ठ ५३०।

[2] " ", छंद १०।

[3] 'हिंदुत्व', पृष्ट ५२

को नसीब नहीं हुआ। भूषण ने कुल १० छंदों में साहू का प्रशंसात्मक वर्णन किया है—

'दिल्ली दुलहिन भई सहर सितारे की।'[1]
'साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को।'[2]

सारस से सूबा कर बानक से साहजादे,
सोर से मुगल मीर धीर ही धचैं नहीं।
बगुला से बंगस बलूचियु बतक ऐसे,
काबुली कुलंग याते रन में रचैं नहीं॥
भूषण जू खेलत सितारे में शिकार साहू,
संभा को सुवन जावे दुअन सँचैं नही।
बाजी सम बाज की चपेटैं चंग चारौं ओर,
तीतर, तुरुक दिल्ली भीतर बचैं नहीं॥[3]

भेजैं लिखि लग्न शुभ गनिक निजाम बेग,
इतै गुजरात उतैं गंग ज्यों पतारा की।
एक यश लेत अरि फेरा फिर गढ़ हू को,
खंडी नवखंड दिये दान ज्यों व तारा की॥
ऐसे ब्याह करत चिकट साहू साहन सों,
हद हिन्दुवान जैसे तुरक ततारा की।
आवत बरात सजे ज्वान देश दक्षिण के,
दिल्ली दुलहिन भई सहर सितारा की॥[4]

'शिवाबावनी' के ५२ छंद भूषण ने साहू के समक्ष शिकार खेलते समय अनजान में सुनाये थे। जिस पर उन्हें विपुल राशि पुरस्कार में मिली

---

[1] 'शिवाबावनी' छंद ५२ (काशी से प्रकाशित)।
[2] 'छत्रशालदसक', छंद १०।
[3] [illegible] के फुटकर छंद २९।
[4] वही, ३०

थी। इस के बहुत से छंद उसी समय के हैं।

गोविंद गिल्लाभाई ने अपने 'शिवराजशतक' (गुजराती भाषा का एक ग्रंथ) की भूमिका में लिखा है कि भूषण कमाऊँ और श्रीनगर (गढ़वाल) होते हुए तथा संपूर्ण राजपूताने में भ्रमण करने के पश्चात् दक्षिण में गए थे। सभासद बखर[1] में भी कमाऊँ से घूम कर दक्षिण जाने का उल्लेख मिलता है। अत: यह बहुत संभव है कि भूषण संवत् १७६९ वि० के लगभग दक्षिण गए थे। क्यों कि 'शिवाबावनी' की घटनाएँ संवत् १७६९ वि० तक की पाई जाती हैं। साहू ने १७६४ वि० से १८०५ वि० तक राज्य किया था।[2] इस बीच मे बालाजी विश्वनाथ तथा बाजीराव पेशवा द्वारा अनेकों युद्धों में विजय प्राप्त की जा चुकी थी। दूसरी बार संवत् १७९२ वि० के लगभग भूषण फिर दक्षिण गए थे। इस बार पूना होते हुए बाजीराव पेशवा तथा उन के छोटे भाई चिमना जी (चिंतामणि) से भी मिले थे और उन की प्रशंसा में भी कई छंद सुनाये थे।

भूषण के दूसरे आश्रयदाता

भूषण ने 'शिवराजभूषण' के छंद, २५० में अपने आश्रयदाताओं का उल्लेख किया है।[3] 'अक्षरविज्ञान' के रचयिता पं० रघुनंदन शर्मा जी[4] भी जो कि एक प्रसिद्ध इतिहासज्ञ हैं यही मानते थे। छंद यह है :—

मौरंग जाहुँ कि जाहुँ कुमाऊँ, श्रीनगरै कि कवित्त बनाये।
बाँधव जाहुँ कि जाहुँ अमेरि कि जोधपुरै कि चित्तौरहि धाये॥

---

[1] मिस्टर बी० एन्० सेन कृत सभासद बखर का अंग्रेज़ी अनुवाद पृ० १९७-२००।

[2] 'मराठा पीपुल', पृष्ठ ११७ व २००।

[3] सम्मेलन से प्रकाशित नया संस्करण।

[4] 'कान्यकुब्जों का इतिहास' पृष्ठ ८३-८९ व 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका', भाग ६, संख्या १।

जाहु कुतुब्ब कि पैदिल पै कि दिलीसहु पै किन जाहु बुलाये।
भूषन गाय फिरौ महि मैं, बनि है चितचाहि सिवाहि रिझाये॥

महाराजा जयसिंह जयपुर-नरेश

भूषण ने जयपुर-नरेश सवाई जयसिंह की प्रशंसा में यह छंद लिखा। देखिये—

भले भाई भासमान आसमान भान
जाको मानत भिखारिन के भूरि भय जाल है।
भोगन को भोगी भोगीराज कैसी भाँति भुजा,
भारी भूमि भार के उधारन को ख्याल है॥
भावतो समानि भूमि भामिनी को भरतार,
भूषन भरतखंड भरत भुआल है।
विभौ को भँडार औ भलाई को भवन भास,
भाग भरे भाल जयसिंह भुवपाल है॥[१]

इस छंद द्वारा भूषण ने जयसिंह के निर्मित भवनों, वेधशालाओं, उनकी उदारता, राज्य के उद्धार, आदि बातों का उल्लेख किया है। जयपुर इन्हीं सवाई जयसिंह ने बसाया था। काशी, दिल्ली और जैपुर की वेधशालाएँ[२] इन्हीं के द्वारा रची गई थीं। बूँदी-नरेश राव बुद्धसिंह[३] से अपना राज्य भी इन्हीं ने वापिस लिया था जो पहले उन्हों ने दबा लिया था। भूषण ने सवाई जयसिंह के पूर्वजों की प्रशंसा में भी एक कवित्त कहा था। सवाई जयसिंह और छत्रपति साहू में यह विवाद भी चला था कि दोनों मे से किस ने हिंदू जाति का अधिक उपकार किया है।[४]

दोनों शुद्धि व संगठन के पक्षपाती थे। सवाई जयसिंह ने जो पंडित सभा से व्यवस्था दिलाई थी वह अभी हाल ही में सरस्वती-पुस्तकालय काशी से प्रकाशित हुई है।[1] इन का राज्यकाल संवत् १७५६ वि० से १८०० वि० तक था।[2]

भगवंतराय खीची

भूषण ने भगवंतराय खीची की प्रशंसा में उन की मृत्यु पर दो छंद बनाए थे। वे छंद निम्नलिखित हैं :—

हुंडन समेत काटि विहित मतंगन सों,
रुधिर को रंग रणमंडल में भरिगो।
भूषन भनत तहाँ भूप भगवंत राय,
पारथ समान महाभारत सो करिगो॥
मारे देखि मुगल तुराब खान ताही समै,
काहू अस जानी मानों नट सो उचरिगो।
बाजीगर कैसी दगाबाज़ी करि ताही समै,
हाथी हाथा हाथी ते सहादति उतरिगो॥१॥

उठि गयो आलम सों रुजुक सिपाहिन को,
उठिगो बँधैया सबै वीरता के बाने को।
भूषन भनत धरम धरा तें उठि गयो,
उठि गौ सिंगार सबै राजा राव राने को॥
उठिगो सुकवि शील उठिगो यशीलो डील,
फैलो मध्य देश में समूह तुरकाने को।
फूटे भाल भिक्षुक के जूझे भगवंतराय,
अरराय टूटो कुल खंभ हिंदुआने को॥२॥[3]

---

[1] 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका', भाग ६, संख्या १ में 'महाकवि भूषण' शीर्षक लेख।

[2] टाड, 'राजस्थान', भाग १, पृ० २८८-२९८।

[3] 'माधुरी', पौष, ३०१ तुलसी सम्वत् पृष्ठ ७६०

भगवंतराय खीची की मृत्यु संवत १७९७ वि० में हुई थी।[1] इस ने ४८ युद्धों में विजय प्राप्त की थी। यह बड़ा ही वीर और साहसी था। इस ने अपनी भुजाओं के बल से कोड़ा जहानाबाद के सूबेदार को मार कर असोथर का राज्य बहुत विस्तृत कर दिया था,[2] और उस सूबेदार की लड़की से अपने लड़के रूपसिंह का विवाह कर लिया था। यह अनुमानतः संवत् १७८० वि० के लगभग गद्दी पर बैठा था।

जहाँदार शाह और रावराजा बुधसिंह

भूषण ने 'शिवराजभूषण' के छंद २५० में "दिलीसहु पै किन जाहु बुलाये," से इसी बादशाह की ओर संकेत किया है। यह[3] संवत् १७६९ वि० में राज्य करता था। इस के दीवान रावराजा बुधसिंह बूँदी-नरेश थे। जिन की प्रशंसा मे भी भूषण के कई छंद पाए जाते है। बादशाह जहाँदार शाह की प्रशंसा में जो छंद कहा है वह यह है :—

डंका के दिये ते दल डंबर उमंड्यौ उड,
मंड्यौ उड मंडल लौं खुर की गरद है।
जहाँदारशाह बहादुर के चढ़त पैंड,
पैंड में मढ़त मारू राग बंब नद है॥
भूषण भनत घने घुम्मत हरौल वारे,
किम्मत अमोल बहु हिम्मत दुरद है।

---

[1] 'भगवंतरायरासा' में पृष्ठ १ पर उन की मृत्यु का दोहा—

सत्रह सौ सत्तानवे, कातिक मंगल वार।
सित नौमी संग्राम भो विदित सकल संसार॥

सभा पत्रिका' भाग ५, संख्या १

हदन छपद महि मद पूर नद होत,
कहन भनद त्यों ज्लह हल दह है ॥[1]

इस छंद में जहाँदार शाह के स्थान पर मूल पुस्तक मे जहाँदारा शाह लिखा हुआ है। परंतु यह अशुद्ध है, उस के निम्नलिखित कारण हैं :—

(१) 'जहाँ' शब्द यदि क्रियाविशेषण अव्यय होता तो छंद में तहाँ शब्द की अपेक्षा होती। परंतु उस में कोई ऐसा शब्द नहीं है।

(२) जहाँदारा शाह मे चार दीर्घ अक्षर (हाँ दा रा शा) एक साथ आ जाते है जो कि कविता के नियम से अशुद्ध व अनुचित ठहरता है और पढ़ने में भी रुकावट होती है। प्रवाह ठीक नहीं चलता।

(३) दाराशाह के समय का कोई हिंदू राजा भूषण का आश्रयदाता नहीं है। जिस के द्वारा वहाँ तक भूषण की पहुँच हो जाती। जहाँदार शाह के समय में बूँदी-नरेश बुधसिंह बादशाह के दीवान थे। छंद २५० में बूँदी का उल्लेख न होने से भी यही ज्ञात होता है कि दक्षिण से लौटकर ही भूषण बादशाह जहाँदार शाह और दीवान बुधसिंह से मिले थे।

यह बादशाह हिंदुओं से मेल रखने का पक्षपाती था और उन्हीं की सहायता से अपने भाई को हरा कर गद्दी पर बैठा था। इसलिये उक्त छंद मे 'जहाँदार शाह' पाठ मानना ही युक्ति-युक्त है।

रावराजा बुधसिंह की प्रशंसा का भी एक छंद अवलोकन कीजिए :—

जुद्ध को चढ़त दल बुद्ध को जसत तब,
लंक लौं अतंकन के पतरैं पतारे से।
भूषन भनत भारे घूमत गयंद कारे,
बाजत नगारे जात अरि उर छारे से ॥
धसि के धरा के गाढ़े कोल के कड़ा के,
डाढ़े आवत तरारे दिगपालन तमारे से।

[1] 'माधुरी', वर्ष ३, खंड १, संख्या ६ पृष्ठ ७७२

फेन से फनीस फन फूटि बिष छूटि जात ,

उछरि उछरि सिंह पुरवैं सुभारे से ॥[१]

इस घटना से भूषण का समय निर्धारित करने में बड़ी सहायता मिलती है। और उन के चरित्र पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

बाजीराव पेशवा

भूषण ने छत्रपति साहू के यहाँ रह कर उन के प्रधान मंत्री बाजीराव पेशवा की भी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[२] महाराष्ट्र प्रांत में शिवाजी के पश्चात् यदि बाजीराव पेशवा न होते तो शिवाजी का नाम भी स्थिर न रह सकता। यह बाजीराव पेशवा ही हैं जिन्हों ने मरहठों की विजय-वैजयंती अखिल भारतवर्ष में व्याप्त कर दी थी और सारा भारतवर्ष उन के आतंक से थर्रा गया था। इन का समय संवत् १७७७ वि० से १७९७ वि० तक था। उन की प्रशंसा भूषण के ही शब्दों में सुनिए—

"बाजीराम बाज की चपेटैं चंगु चहूँ ओर ,

तीतर तुरुक दिल्ली भीतर बचै नहीं।"[३]

और भी—

बाजे बाजे राजे से निवाजे हैं नजरि करि ,

बाजे बाजे राजे काढ़ि काटे असि मत्ता सों।

बाँके बाँके सूबा नालू बंदी दै सलाह करैं ,

बाँके बाँके सूबा करे एक एक लत्ता सों॥

गाढ़े-गाढ़े गढ़पति काटे राम द्वार दै दै ,

गाढ़े गाढ़े गढ़पति आने तरे कत्ता सों।

बाजीराव गाजी तैं उबार्‌यो आय छत्रसाल ,

आसिल बिठायौ बल करि कै चकत्ता सों॥[४]

---

[१] 'शिवराजभूषण' हि० सा० सम्मेलन से प्रकाशित, फुटकर छंद, पृ० १४।

[२] 'भूषणग्रंथावली', सम्मेलन से प्रकाशित, फुटकर छंद पृ० १२, छंद ३०-३१

[३] वही, फुटकर छंद पृ० १२, छंद २९।

[४] वही, सम्मेलन से प्रकाशित, फुटकर छंद ४०।

चिंतामणि (चिमनाजी आप्पा)

भूषण ने बाजीराव पेशवा के छोटे भाई चिमनाजी की भी प्रशंसा में एक छंद कहा है। ये महाशय भी बड़े वीर योद्धा थे। गुजरात इत्यादि कई युद्धों में इन्हों ने विजय प्राप्त की थी।

वह छंद भी दृष्टिगत कीजिए कि कितना अच्छा है—

शक्र जिमि शैल पर अर्क तम फैल पर,
विघन की रैल पर लंबोदर लेखिये।
राम दसकंध पर भीम जरासंध पर,
भूषण ज्यों सिंधु पर कुम्भज विशेखिये॥
हर ज्यों अनंग पर गरुड़ भुजंग पर,
कौरव के अंग पर पारथ ज्यों पेखिये।
बाज ज्यों विहंग पर सिंह ज्यों मतंग पर,
म्लेच्छ चतुरंग पर चिंतामणि देखिये॥[1]

किसी किसी ने इस छंद को भूषणकृत ही नहीं माना है। किसी ने इसे शिवाजी के लिये रचा बतलाया है। परंतु गोविंद गिल्लाभाई ने उक्त पाठ ही दिया है। मुझे भी यही पाठ ठीक जँचता है। जब भूषण बाजीराव पेशवा से मिले होंगे तो चिमनाजी आप्पा से भी अवश्य भेंट की होगी।

इन का समय भी बाजीराव के समय से मिलता हुआ है।

भूषण और महाबली छत्रसाल

भूषण ने महाबली छत्रसाल की भी अत्यधिक प्रशंसा की है। इस की तुलना किसी से नहीं की जा सकती। महाराज छत्रसाल ने भी जितना सम्मान भूषण का किया था उस की समानता कवि समुदाय में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। जिस समय भूषण दक्षिण से लौट कर पन्ना पहुँचे महाराजा छत्रसाल उन को आगे से लेने आए। भूषण भी बड़े ठाट-बाट से आ रहे थे। नाती आगे

---

1 ', फुटकर छंद ४२

आगे घोड़े पर जा रहा था। और भूषण पालकी में सवार थे। महाराज छत्रशाल ने देखते ही अपना हाथी छोड़ दिया और उस पर भूषण के नाती को सवार करवा दिया। फिर आप स्वयं एक कहार को पालकी से अलग कर के उस के स्थान पर भूषण की पालकी में लग गए। भूषण इस चरित्र को देख कर तुरंत पालकी से कूद पड़े और तत्काल कुछ छंद बनाकर सुनाए। उन मे से निम्न यहाँ उद्धृत हैं—

नाती को हाथी दयो, जापै झुरकत ढाल।
साहू के जस कलस पर, धुज बाँधी छत्रसाल॥

राजत अखंड तेज छाजत सुयश बड़ो,
गाजत गयंद दिग्गजन हिय साल को।
जाहि के प्रताप सों मलीन आफताब होत,
ताप तजि दुजन करत बहु ख्याल को॥
साज सजि गज तुरी पैदरि कतार दीन्हें,
भूषन भनत ऐसो दीन प्रतिपाल को।
और राव राजा एक मन में न ल्याऊँ अब,
साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को॥[1]

छत्रशाल संबंधी कविता 'शिवाबावनी' से भी अच्छी है। भूषण साहू के दरबार से लौट कर संवत् १७७० के पीछे पन्ना गए थे। भूषण ने ऐसे ही १०-१२ कवित्तों में महाराज छत्रशाल की प्रशंसा की है। कई दिनों तक यह ब्रह्मर्षि और राजर्षि का सम्मिलन अपूर्व आनंद का श्रोत बहाता रहा। दोनों ही राष्ट्र के कर्णधार थे। दोनों ने एक दूसरे के गुणों का अनुभव किया और स्थायी सुहृद्-भाव का अंकुर प्रस्फुटित हो कर घनिष्ठता में परिणत हो गया। इस के पश्चात् भूषण पन्ना दरबार में बराबर आते जाते रहे। महाराज छत्रशाल का राज्यकाल संवत् १७२८ वि० से संवत् १७८९ वि० तक था।

---

[1] छं० १०

कुमाऊँ-नरेश ज्ञानचंद्र

भूषण ने कुमाऊँ-नरेश ज्ञानचंद्र के हाथियों की बड़ी प्रशंसा की है। मतिराम ने भी उन के हाथियों का बड़ा ही मनोहर और उत्कृष्ट वर्णन अपने 'अलंकारपंचाशिका'-नामक ग्रंथ मे किया है, जो कि उन्हों ने ज्ञानचंद्र के लिये ही रचा था। इस का निर्माण काल संवत् १७४७ वि० है। कहा जाता है कि कुमाऊँ-नरेश ने भूषण को एक लक्ष मुद्रा प्रदान की थी। परंतु उस दान मे अभिमान की मात्रा संश्लिष्ट होने के कारण उन्हों ने उसे स्वीकार नहीं किया। उस समय भूषण इतने धन-संपन्न न थे। इस पर यह त्याग उन की महानता का द्योतक है। त्याग-भाव का यह अपूर्व आदर्श था। महाराज ज्ञानचंद्र का राज्यकाल सं० १७५७ से १७६५ वि० तक था। यहीं से लौट कर श्रीनगर (गढ़वाल) होते हुए भूषण जी दक्षिण को गये थे।[1] ज्ञानचंद्र के हाथियो का वर्णन सुनिए :—

उलदत मद अनुमद ज्यों जलधि जल,
बल हद भीम कद काहू के न आह के।
प्रबल प्रचंड गंड मंडित मधुप वृंद,
विन्ध्य से विलंद सिंधु सातहू के थाह के।
भूषन भनत झूलि झम्पित झपान झुकि,
झूमत झुलत झहरात रथ डाह के।
मेघ से घमंडित मजेजदार तेज पुंज,
गुंजरत कुंजर कमाऊँ नरनाह के॥[2]

मतिराम ने ज्ञानचंद्र की प्रशंसा में उन के हाथियों का जो वर्णन किए है उसे भी देखिए:—

सहज सिकार खेलै पुहुमि पहार पति,
भार रहौ चरन गढ़ द्वार सों लपटि कैं।

---

[1] 'शिवाछत्रपति' बी० एन० सेन-कृत, पृष्ठ १९७-२०० ।

[2] भूषणग्रंथावली, फुटकर छंद, २३

कहैं मतिराम नाद सुनत नगारन की,
नगन के गढ़पती गढ़ तैं निकरि कैं॥
सोहैं दलवृंद में गयंद पर ज्ञानचंद्र,
बखत बिलंद रही सोभा ऐसी बढ़ि कैं।
मेरे जान मेघन के ऊपर असारी कसि,
मघवा मही कौ सुख लेन आयौ चढ़ि कै॥[१]

गढ़वाल-नरेश फ़तहशाह

भूषण और मतिराम दोनों ही गढ़वाल-नरेश फ़तहशाह के दरबार में श्रीनगर (गढ़वाल) गए थे। यहाँ भी भूषण का अच्छा सम्मान हुआ था। भूषण और मतिराम दोनों ने जो विवरण इन के संबंध में दिया है उस पर दृष्टिपात करने से कई ऐतिहासिक बातों का पता लग सकता है। इन का समय सं० १७४१ वि० से १७७३ वि० तक था।

महाकवि भूषण कहते हैं :—

लोक ध्रुव लोक हू तें ऊपर रहैगो भारौ,
भानु तें प्रभानि की निधान आनि आनैगो।
सरिता सरिस सुर सरितै करैगो साहि,
हरितैं अधिक अधिपति ताहि मानैगो॥
ऊरध परारध तें गिनती गनैगो गुनि,
वेद ते प्रमान सो प्रमान कछु जानैगो।
सुयश ते भलौ मुख भूषण भनैगो बाढ़ि,
गढ़वार राज पर राज जो बखानैगो॥[२]

अब मतिराम कृत छंद पर भी दृष्टि डालिये—

---

[१] 'अलंकारपंचाशिका'—मतिराम-कृत, अंतिम पृष्ठ, पटियाला कालेज लाइब्रेरी से प्राप्त हस्तलिखित प्रति।

[२] 'फ़तहप्रकाश', चतुर्थ उद्योत, छंद ५९।

दाता एक जैसो शिवराज भयो जैसो अब ,

फतेसाह सीनगर साहिबी समाज है।

जैसो चित्तौर धनी राजा नरनाह भयो ,

जैसोई कुमाऊँपति पूरो रज लाज है ॥

जैसे जयसिंह यसवंत महाराज भये ,

जिन की मही में अजौं बड़ौ बल साज है।

मित्र साहिनंद सी बुंदेल कुल चंद जग ,

ऐसो अब उदित स्वरूप महाराज है ॥[1]

इन छंदों द्वारा अन्वेषकों के लिये पर्याप्त सामग्री एकत्रित कर दी गई है।

रीवाँ-नरेश अवधूतसिंह

भूषण ने इन का भी बहुत अच्छा वर्णन किया है। हृदयराम द्वारा ही ये अवधूतसिंह के दरबार में पहुँचे थे। इन का समय १७५७ वि० से सं० १८१२ वि० तक था। इन की प्रशंसा में जो छंद कवि ने वर्णन किया है उस का भी दिग्दर्शन कीजिए—

जा दिन चढ़त दल साजि अवधूत सिंह ,

ता दिन दिगंत लौ दुवन दाटियतु है।

प्रलै कैसे धाराधर धमकैं नगारा धूरि—

धारा तैं समुद्रन की धारा पाटियतु है ॥

भूषन भनत भुवगोल को कहर तहाँ ,

हहरत तगा जिमि गज काटियतु है।

काँच से कचरि जात सेस के असेस फन ,

कमठ की पीठि पै पिठी सी बाँटियतु है ॥[2]

---

[1] 'छंदसार पिंगल', (वृत्तकौमुदी), पंचम सर्ग।

[2] ' फुटकर छंद ३२

इस छंद द्वारा महाराजा अवधूतसिंह की चढ़ाई का वर्णन किया गया है। यह वर्णन रीवाँ के पुनरुद्धार के विषय में प्रतीत होता है। उसी समय सं० १७६९ वि० में भूषण रीवाँ दरबार में गए थे।

इन के अतिरिक्त अन्य कुछ राजाओं की प्रशंसा में भी भूषण के छंद पाए जाते हैं। पौरच-नरेश अनिरुद्धसिंह की प्रशंसा में एक कवित्त तथा चित्र-कूट-पति बसंतराय सुरकी की प्रशंसा मे एक पद्यांश मिलता है।

उक्त स्थानों के सिवाय भूषण का अन्य स्थानों में जाना भी पाया जाता है। मौरंग[1], जोधपुर, उदयपुर, गोलकुंडा, और बीजापुर जाने का उल्लेख 'शिवराजभूषण'; छंद २५० में पाया जाता है। परंतु इन की प्रशंसा का कोई छंद अब तक प्राप्त नहीं हुआ। संभव है भविष्य में उन का भी पता लगे। अभी तो भूषण के एक 'हज़ारा' ग्रंथ का भी पता नहीं है। इस के अतिरिक्त दो ग्रंथ और भी बतलाए जाते हैं। संभव है खोज द्वारा उन का भी पता लग जाय तो उन के जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़े। अब तक जो सामग्री उपलब्ध है उसी के आधार पर यह चरित्र प्रस्तुत किया गया है।

भूषण और शिवाजी

भूषण के जितने आश्रयदाता हुए हैं, वे सब शिवाजी की मृत्यु के २०-३० वर्ष पीछे ही रंगस्थली पर आते हैं, शिवाजी के समय में नहीं। यहाँ तक कि भूषण का उपाधिदाता हृदयराम भी सं० १७५० वि० के पीछे ही हुआ है। पहिले कदापि नहीं। भूषण का जन्म ही शिवाजी की मृत्यु के एक वर्ष पीछे हुआ है। फिर उस का शिवाजी के दरबार में रहना कैसा ?

अब प्रश्न यह होता है कि फिर भूषण ने शिवाजी की भूरि-भूरि प्रशंसा कर के व्यर्थ ही पोथे के पोथे क्यो रच डाले ?

इस का एक प्रधान कारण है। इधर हिंदुओं में शिवाजी ही एक ऐसे

---

[1] नैपाल की तराई का पहाड़ी प्रदेश, ज़िला पुरनिया। इतिहास-भाग, पृष्ठ ३५

महानुभाव हुए हैं जिन्हों ने औरंगजेबी अत्याचारों से हिंदू जाति की रक्षा की थी। इसी लिए भूषण ने उन्हें ईश्वर का अवतार माना था। इसी लिए शिवराज भूषण में पचासों छंद ऐसे हैं जिन में शिवाजी को ईश्वर का अवतार अथवा देवत्व को प्राप्त हिंदू-धर्म का उद्धारक कहा गया है। शिवाजी गौ, ब्राह्मण, हिंदू जाति और धर्म के रक्षक थे। अतः उन्हें शिव और विष्णु का प्रत्यक्ष अवतार माना गया है।

इस के कुछ उदाहरण भी यहाँ उद्धृत हैं—

दशरथ जू के राम भे, बासुदेव गोपाल।
सोई प्रगटे शाहि के, श्री शिवराज भुवाल ॥१॥[1]

तेरे ही भुजन पर भूतल को भार अरु,
कहिबे कों शेष दिगनाग हिमाचल है।
तेरो अवतार जग पोषन भरन हार,
कछु करतार को न सामधि अमल है॥
साहिन में सरजा समत्थ शिवराज कवि,
भूषण कहत जीवो तेरोई सफल है।
तेरो करवाल करै म्लेच्छन को काल,
बिनु काज होत काल बदनाम धरातल है॥
जाहि पास जात सोतो राखि ना सकत,
याते तेरे, पास अचल सुप्रीति नाधियुत है।
भूषण भनत शिवराज तव किति सम,
और की न किति कहिबे कों काँधियतु है॥
इंद्र को अनुज तैं उपेंद्र अवतार याते,
तेरो बाहु बल लै सलाह साधियतु है।
पाय तर आय नित निडर बसाइबे को,
कोट बाँधियतु मानों पाग बाँधियतु है॥[2]

---

[1] 'शिवराजभूषण', छंद ११।

[2] " ", छंद ८७, १०२।

यह भूषण की एक विशेष बात है कि शिवाजी को छोड़ कर किसी को ईश्वर का अवतार नहीं कहा। इस का प्रत्यक्ष कारण भी सर्वसाधारण की समझ में आ सकता है कि किन परिस्थितियों में उन्हों ने इस प्रकार की धारणा अपने मन में स्थापित कर रक्खी थी ?

भूषण के जन्म के समय औरंगजेबी अत्याचार अपना उग्र रूप धारण कर रहा था।[1] भूषण ने इस का अनुभव किया और वे शिवाजी की प्रशंसा भी भली भाँति सुन चुके थे। उन्हों ने जो कार्य किए थे उन से भी अच्छी प्रकार से परिचित थे। अतः उक्त संपूर्ण बातों पर विचार कर के उन्हों ने अपने मन में स्थिर किया कि शिवाजी के आदर्श पर यदि उत्तरी भारत के राजाओं तथा प्रजावर्ग को संगठित, उत्तेजित, व उत्साहित कर के सन्नद्ध कर दिया जाय, तो हिंदू जाति का उद्धार हो सकता है। नहीं तो इस जाति का कल्याण नहीं। इस पर उन्हों ने छोटे बड़े अनेक राज्यों में दौरा लगाया। उन की प्रभावशालिनी एवं ओजमयी वाणी ने अपना प्रभाव दिखला दिया। अधिकांश राजा लोगों ने भूषण का पूरा साथ दिया। जयपुर-नरेश सवाई जयसिंह के नेतृत्व में, जोधपुर को छोड़ कर राजपूताने के समस्त राजाओं ने मुसलमानी शासन का जुआ उतार फेंकने का दृढ़ निश्चय कर लिया था।[2] जोधपुर-नरेश की इसी जाति-द्रोहिता के कारण भूषण ने 'शिवराजभूषण' में तत्कालीन जोधपुर-नरेश अजीतसिंह के पिता जसवंतसिंह की अन्य कारण न होते हुए भी बुराई की है। और सवाई जयसिंह के योग देने के कारण उन के पूर्वज मिर्जा जयसिंह[3] का प्रशंसात्मक उल्लेख पाया जाता है।

उस समय सं० १७७६ वि० के लगभग महाराजा अजीतसिंह जोधपुर नरेश दिल्ली में दरबारगीरी कर रहे थे।[4] और भूषण समाज के संगठन में लगे

---

[1] 'हिंदुत्व', पृष्ठ ६०-६२।

[2] 'शिवराजभूषण' छंद ३५, ७७, २६६।

[3] वही, छंद २१३, २१४

[4] टाड, 'राजस्थान' भाग २, पृष्ठ ३४ व उस के पश्चात् तथा इलियट 'हिस्ट्री', भाग ७।

हुए थे। असोथर-नरेश भगवंतराय खीची[1], चित्रकूट के सुरकीराजा[2], पन्ना-नरेश छत्रशाल[3], रीवाँधिपति अवधूतसिंह[4] आदि ने भी इस कार्य में अच्छी तत्परता दिखाई थी। मोरंग[5] और कुमाऊँ[6] दोनों राज्य तो प्रथम अत्याचार के शिकार हो चुके थे। परंतु फिर भी उन्हो ने पुनरुद्धार कर राज्य अपने अधिकृत कर लिया था।

दक्षिण में भी साहू ने गद्दी पर बैठ कर बालाजी विश्वनाथ, और बाजीराव की पेशवाई में अपूर्व कार्य कर दिखलाया।[7] इन सब का प्रत्यक्ष फल यह हुआ कि भूषण के जीवन-काल मे ही सारा मुग़ल साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। तथा उस की शक्ति बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट हो गई। इस से हम सुगमतया ही महाकवि भूषण की व्युत्पन्न-मति और तत्परता का अनुमान कर सकते हैं। उस समय समाज मे अलंकारशास्त्र का अच्छा आदर था। इसी लिये भूषण ने भी शिवाजी की प्रशंसा में 'शिवराजभूषण' नामक अलंकारशास्त्र का एक उत्तम ग्रंथ रचा था।

जिस समय भूषण कुमाऊँ-नरेश से मिले थे उस समय उन्हों ने स्पष्ट

---

[1] सदानंद-कृत 'भगवंतरायरासा' व 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका', भाग ५।

[2] 'छत्रप्रकाश' में सुरकियों द्वारा महाराजा छत्रशाल की सहायता पृ० ११०-११५।

[3] 'छत्रप्रकाश'।

[4] 'रीवाँ गज़ेटियर', इतिहास-भाग।

[5] 'पुरनिया गज़ेटियर', पृ० ३५ (मोरंग अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ तक स्वतंत्र रहा था)।

[6] 'उद्योत चंद अंतिम समय में ईश्वर भजन में लीन रहे। 'अल्मोडा गज़ेटियर' पृ० १७९ तथा पृ० १६७ पर ज्ञानचंद-संबंधी इसी से मिलती जुलती घटना है।

[7] नागरीप्रचारिणी सभा काशी से प्रकाशित 'शिवराजभूषण' की भूमिक पृष्ठ १८।

कह दिया था कि "मैं केवल यह देखने आया था कि शिवाजी की प्रशंसा ने यहाँ पर अपना कितना प्रभाव जमाया है।" इस से भी हम भली भाँति समझ सकते हैं कि भूषण ने शिवाजी की प्रशंसा क्यों की थी? वर्तमान शिवाजी समितियों का जो आदर्श है वही भूषण का था। इस प्रकार भूषण तत्कालीन राजनीतिक आंदोलन के नेताओं में थे।

भूषण और औरंगज़ेब

कुछ लेखक भूषण का औरंगज़ेब के दरबार में जाना भी मानते हैं। औरंगज़ेब की मृत्यु के समय भूषण की अवस्था २६ वर्ष की थी। इस लिये यह जाना संभव तो हो सकता है। परंतु मेरा अनुमान है कि भूषण औरंगज़ेब के दरबार में कभी नहीं गए। जो वर्णन भूषण ने उस का किया है वैसा सामने बैठ कर नहीं किया जा सकता। यद्यपि कई स्थानों पर कवियों ने इस प्रकार के साहस दिखलाए हैं। घनश्याम शुक्ल[1] ने भरे दरबार में काशी नरेश को 'गुलाम' की उपाधि से भूषित किया था। निवाज और शिव कवि ने भी रीवाँनरेश के सामने एक एक भड़ौआ कहा था। गंग[2] के संबंध में भी ऐसी ही किंवदंती है। अतः भूषण का साहस तो हो सकता है परंतु उन्हें औरंगज़ेब से स्वाभाविक घृणा थी अतः वे कभी औरंगज़ेब के दरबार में नहीं गए होंगे, जो कुछ छंद औरंगज़ेब के संबंध में कहे हैं वे सब परोक्ष में घृणा प्रदर्शनार्थ ही कहे होंगे, यद्यपि इस का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। केवल शिवाजी की उत्तमता तथा औरंगज़ेब की निकृष्टता दिखलाना ही भूषण का उद्देश था। और हिंदू-समाज को किसी प्रकार उत्तेजना देना उन्हें अभीष्ट था।

---

[1] घनश्याम शुक्ल ने काशी-नरेश के सामने गँजीफ़ा के उदाहरण द्वारा उसके सात रंगों पर दूसरे राजा गिनाकर आठवाँ रंग "आठयो रंग गनायो भूप काशी को।" कह कर उन्हें गुलाम की उपाधि से विभूषित किया था।

[2] 'गंग से गुनी का गजेंद्र पैखुदारये' इत्यादि कवित्त गंग ने जहाँगीर के किये कहे थे।

तत्कालीन परिस्थिति में भूषण को ऐसे छंदों के लिये दोषी भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि औरंगज़ेबी शासन ने हिंदू-समाज को त्रस्त करने में कोई बात उठा नहीं रक्खी थी। फिर भी हिंदू राजे औरंगजेब का साथ दे रहे थे। अबतक हम ने भूषण के संबंध की बाहरी परीक्षा की है। अब आभ्यंतरिक परीक्षा कर के भी देखना है कि 'शिवराजभूषण' की रचना कब हुई और उस के संबंध मे ऐतिहासिक प्रमाण कहाँ तक सहायता करने में समर्थ हैं। इन मे से कई विवरण इतने स्पष्ट हैं कि घटना-चक्र की वास्तविक स्थिति प्रत्यक्ष हो जाती है।

'शिवराज-भूषण' का निर्माण काल

'शिवराज-भूषण' की रचना शिवाजी के दरबार मे रह कर कदापि नही हुई। उस मे वह प्रणाली ही नहीं है जो दरबार में रहने वाले कवियों ने प्रयुक्त की है। विद्यापति-निर्मित 'कीर्तिलता', सूदन का 'सुजानचरित्र', लालकृत 'छत्रप्रकाश', पद्माकरविरचित 'हिम्मतबहादुरविरुदावली', केशवदासकृत 'वीरसिंहदेवचरित' आदि बीसियों ग्रंथ इस प्रणाली के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। 'शिवराज-भूषण' मे न तो ऐतिहासिक क्रम है और न घटना-चक्र का कोई सिलसिला है। केवल जनता मे उत्तेजना देने के लिये यह रचा गया है।

'शिवराज-भूषण' का निर्माण-काल सं० १७३० वि० माना जाता है। वह दोहा यह है:—

(१) संवत् सत्रह सै तीस सुचि वदि तेरसि मान।
भूषण शिवभूषण कियो, पढ़ियो सुनो सुजान॥[१]

(२) शुभ सत्रह सै तीस पर, बुध सुदि तेरसि मान।
भूषण शिव-भूषण कियो, पढ़ियो सुनो सुजान॥[२]

---

[१] 'शिवराजभूषण' छंद ३८०, नागरीप्रचारिणी सभा संस्करण।

[२] वही, छन्द नं० ३८० काशी राज के की हस्तलिखित प्रति।

(३) संवत् सतरह तीस पर, सुचि बदि तेरसि भान।
भूषण शिवभूषण कियो, पढ़ियो सकल सुजान ॥[1]

ये तीनों संवत् के दोहे गणित के विचार से ठीक नहीं बैठते। दूसरे दोहे में मास का नाम न होने से जाँच ही नहीं हो सकती है। प्रथम और तीसरे दोहे मे आषाढ़ का मास है परंतु उस महीने में कृष्ण तेरसि रविवार को नहीं पड़ती। अतः ये तीनों दोहे अशुद्ध हैं। मेरा विचार है कि किसी ने इन्हें मिलाने का प्रयत्न किया होगा परंतु सफल न होने से उस के कई रूप होते गए। फिर भी निर्माण के दोहे मे सफलता नहीं मिली। किसी किसी ने कुछ व्यर्थ प्रयास कर के कुलाबे मिलाने का प्रयत्न किया है, परंतु वह उपहासास्पद है— इस के अतिरिक्त और भी अनेक प्रमाण है जिन से प्रमाणित होता है कि 'शिव-राजभूषण, का निर्माण-काल सं० १७३० वि० अशुद्ध है। इस में ऐतिहासिक घटनाएँ सं० १७३० वि० से बहुत पीछे की है। कर्नाटक-युद्ध विदनौर-विजय दिलेरखां, खवासखां, बहलोलखां का वर्णन, भड़ौच[2] की लूट इत्यादि घटनाएँ सं० १७३० वि० के पीछे की हैं।

'शिवराजभूषण' के छंद २५० में भूषण ने अपने आश्रयदाताओं का उल्लेख किया है। उन जगहों में से कहीं भी भूषण सं० १७६० वि० से पूर्व नही गए। अब उक्त ऐतिहासिक कथनों पर ही विचार करना युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। प्रथम कर्नाटक की चढ़ाई पर ही दृष्टिपात कीजिए।

कर्नाटक की चढ़ाई

भूषण ने कर्णाटक के युद्ध का वर्णन कई छंदों में किया है, शिवराज-भूषण के छंद ११७, २०७, २६१ और ३५७ में इस युद्ध का अच्छा वर्णन दिया गया है। ऐतिहासिकों को भली भाँति विदित है कि कर्नाटक पर चढ़ाई

---

[1] 'शिवराजभूषण' साहित्य-सेवक कार्यालय, काशी से प्रकाशित छंद नं० ३८२।

[2] सरकार-कृत 'शिवाजी' पृ० ३८०-३९५ व 'शिवराज-भूषण' छंद ११७, २०७ २६१ और ३५७

सन् १६७६ (सं० १७३३) वि० में हुई थी। इस से पूर्व कोई युद्ध या चढ़ाई कर्नाटक पर नहीं हुई। अतः यह वर्णन 'शिवराज-भूषण' के कल्पित निर्माण काल से ३ वर्ष पीछे का है। तथा प्रारंभ, मध्य और अंत में भिन्न भिन्न स्थलों पर आया है। मिश्रबंधु महोदय भी ऐसा ही मानते हैं। इतना अच्छा वर्णन कदाचित् किसी दूसरे युद्ध का नहीं मिलता।

विजपूर बिदनूर सूर सर धनुष, न संधहिं।
मंगल बिनु मलारि नारि धम्मिल नहि बंधहिं॥
गिरत गब्भ कोटै गरब्भ चिंजी चिंजा उर।
चाल कुंड दल कुंड गोलकुंडा संका उर॥
भूषण प्रताप शिवराज तव इमि दक्षिण दिसि संचरहि।
मधुराधरेस धक धकत सो द्रविड़ निविड़ उर दबि डरहि॥[1]

लै परनालौ शिवासरजा करनाटक लौं सब देश बगूँचे।
बैरिन के भगे बालक बृन्द, कहै कवि भूषन दूरि पहूँचे॥
नाघत नाघत घोर घने बन हारि परे यों कटे मनु कूँचे।
राज कुमार कहाँ सुकुमार कहाँ विकरार पहार वे ऊँचे॥[2]

इन छंदों से हम साधारणतया ही समझ सकते हैं कि भूषण ने इस युद्ध को कितना महत्त्व दिया है। और परनाला लेने के पश्चात् कर्नाटक पर चढ़ाई करने का उन के हृदय पर क्या प्रभाव अंकित हुआ था? शिवाजी ने कर्नाटक पर केवल एक बार ही सं० १७३३ में आक्रमण किया था उस से पूर्व कभी कर्नाटक की भूमि में पैर नहीं रक्खा था। इसलिये 'शिवराजभूषण' का निर्माण काल सं० १७३० वि० मानना नितांत अशुद्ध है।

बिदनौर

बिदनौर का वर्णन 'शिवराजभूषण' छंद नं० १५९ में किया गया है वहां से चौथ लेने तथा संधि करने की घटना 'शिवराजभूषण' में वर्णित

---

[1] 'शिवाबावनी', छंद १५।

[2] ", छंद नं० २०७

समाप्ति-काल से डेढ़ वर्ष पीछे की है। और बिदनौर का वर्णन पूर्वार्द्ध में आया है। 'शिवाबावनी' में भी इस का उल्लेख किया गया है। अतः निश्चय ही 'शिवराजभूषण' की समाप्ति पर बिदनौर शिवाजी द्वारा विजय हो चुका था। तभी ऐतिहासिक आधार पर उन्हों ने 'शिवराजभूषण' की रचना की थी।

बहलोल ख़ाँ

बहलोल को सन् १६७४ (सं० १७३१ वि०) में शिवाजी की सेना ने हराया था, अंत में बाध्य होकर संधि करनी पड़ी थी। उस के पश्चात् भी मुग़लों की सेना को सहायता देने के लिये उस का भाइ दो एक युद्धों में सहायता देने के लिये गया था। इस से पूर्व वह कभी मरहठों से नहीं लड़ा था। उस का वर्णन भूषण ने कई छंदों में किया है। छंद ९६,१६१,२२९,३५८ और ३५९ मे विस्तार के साथ बहलोल के युद्धों का वर्णन किया है। ये घटनाएँ भी 'शिवराजभूषण' के निर्माण काल से पीछे की हैं। एक उदाहरण भी लीजिये—

बचैगा न समुहाने बहलोल खाँ अयाने
　　　　भूषण बखाने दिल आनि मेरा बरजा।
तुझते सवाई तेरा भाई सलहेरि पास
　　　　कैद किया साथ चान कोई बीर गरजा॥
साहिन के साहि उसी औरंग के लीने गढ़
　　　　जिसका तू चाकर औ, जिसकी है परजा।
साहिका ललन, दिल्ली दल का दलन
　　　　अफजल का मलन शिवराज आया सरजा।[१]

इस छंद द्वारा भूषण ने बहलोल की कैसी भर्त्सना की है। ये सब छंद भी बड़े ही ओजस्वी एवँ प्रभावशाली हैं। इन से भी 'शिवराजभूषण' की रचना सं० १७३० वि० से पीछे की ठहरती है।

---

[१] 'शिवराजभूषण' छंद नं० १६१; 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' भाग ६, संख्या ३ व 'शिवाजी' पृ० ४०४

भड़ौच

भड़ौच की लूट शिवाजी द्वारा सन् १६७५ (सं० १७३२ वि०) में हुई थी। इस से पूर्व मरहठों ने कभी नर्बदा को पार नहीं किया था। यह घटना भी 'शिवराजभूषण' में वर्णित रचना-काल से दो वर्ष पीछे की है—'शिवराज भूषण' के छंद २५६ में कैसा ओजमयी वर्णन है देखिए—

दिल्लिय दलन दबाय करि शिव सरजा निरसंक।
लूटि लियो सूरति सहर बंककरि अति डंक॥
बंककरि अति डंककरि अस संकक्कुलि खल।
सोचच्चकित भरोच्चलिय विमोच्चखजल॥
तट्ठट्ठमन कट्ठिक सोइ रट्ठिल्लिय।
सद्दल दिशि अद्दविभद्द रद्दिल्लिय॥[1]

इस छंद में सूरत के पश्चात् भड़ौच लूटने का विस्तार से वर्णन, किया गया है, जिसे कि निर्माण से कई वर्ष पीछे की घटना मानने में किसी को ऐतराज़ न होगा।

ख़वास ख़ाँ

ख़वास ख़ाँ सन् १६७३ ई० (सं० १७३० वि०) में बीजापुर का रीजेंट हुआ था।[2] उसी ने बहलोल को परनाले पर शिवाजी से लड़ने भेजा था। वहाँ वह बुरी तरह हारा था। इस के पश्चात् ही वह मुग़लों की ओर से भी लड़ा था। सं० १७३० वि० के पूर्व मराठों का इस से कोई युद्ध नहीं हुआ था। 'शिवराजभूषण' छंद नं० २०६, २५४, ३१२ और ३२८ में इस का वर्णन आया है। अतः यह घटना भी पीछे की है। भूषण के ही शब्दों में इस का वर्णन सुनिये—

---

[1] 'शिवराजभूषण,' छंद नं० २५६।

[2] 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', भाग ९, संख्या २

जावलि वार सिंगार पुरी औ जवारि को राम के नेरि को गाजी।
भूषण भौंसला भूपति से सब दूरि किये करि कीरति ताजी॥
बैर कियो शिवाजी सों खवास खाँ डौंडिये सेन विजैपुर बाजी।
बापुरो एदिलसाहि कहाँ कहँ दिल्ली को दामनगीर सिवाजी॥[१]

यह छंद शिवाजी की उस दशा का द्योतक है जब उन्हों ने औरंगज़ेब के बड़े बड़े सूबेदारों को बड़ी वीरता से हरा दिया था और उन की सेना को निर्बल बना दिया था। बीजापुर पर चढ़ाई की घटना भी सं० १७३० वि० से कई वर्ष पीछे की है :

सफ़दर जंग

यह दिल्ली का वज़ीर और अवध का नवाब था। शिवाजी के समय में इस का नाम नहीं पाया जाता। परंतु बाजीराव पेशवा से इस का युद्ध हुआ था। यह घटना 'शिवराजभूषण' के निर्माण काल सं० १७३० वि० से बहुत पीछे की है। 'शिवराजभूषण' छंद १०३ में इस का वर्णन पाया जाता है। कुछ लोग इसे विशेषण मानना चाहते हैं। परंतु उस छंद में वर्णित सब मुग़ल दरबार के सरदारों का जो कि उपाधिधारी थे उल्लेख किया गया है। मेरा विचार है कि यह विशेषण नहीं है। क्योंकि वहाँ इन विशेषणों की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। वह छंद यह है—

लख्यौ खान दौरा जोरावर सफजंग अरु,
लख्यौ मार तलब खाँ मनहु अमाल है।
भूषण भनत लख्यौ पूना में सइस्त खान,
गढ़न में लख्यौ त्यों गढ़ोइन को जाल है॥
हेरि हेरि कूटि सलहेरि बिच सरदार,
घेरि घेरि लख्यौ सब कटक कराल है।
मानो हय हाथी उमराव करि साथी,
अवरंग डरि शिवाजी पै भेजत रिसाल है॥[२]

---

[१] 'शिवराजभूषण,' छंद नं० २०६।

[२] 'शिवराज भूषण', छंद नं० १०३

इस छंद में अकेले खान दौरा को विशेषण देना कोई युक्तियुक्त न समझेगा। जब कि उस में अन्य बड़े सरदारों का भी उल्लेख है जिन के लिए कोई विशेषण नहीं दिए गए है। मिश्रबंधु[1] महोदय इस का अर्थ सफदर जंग ही करते हैं। अस्तु नामों का ठीक ठीक पता न लगने से विशेषण कह देना उचित नहीं प्रतीत होता। इस के लिए ऐतिहासिक अन्वेषण की बड़ी आवश्यकता है। भूषण ने आगे पीछे की घटनाओं का कोई विचार नही रक्खा। परंतु यह ठीक है कि सब वर्णन ऐतिहासिक हैं। उन का तारतम्य मिलाना साहित्यकों व ऐतिहासिकों का कर्तव्य है।

दिलेर ख़ाँ और बहादुर ख़ाँ

शिवाजी ने दिलेर ख़ाँ को जनवरी सन् १६७४ ई० में हराया था।[2]

इस का उल्लेख भूषण ने 'शिवराजभूषण' में किया है। उस में "गतबल खान दलेल हुव, खान बहादुर युद्ध"[3], पद द्वारा दिलेर ख़ाँ की शक्ति क्षीण होने का उल्लेख किया गया है। यह मुग़ल सेना का बड़ा वीर और साहसी सेनापति था, जब उसे ही शिवाजी से बुरी तरह हारना पड़ा और उस की बहुत सी सेना नष्ट हो गई तब साधारण सरदारों की क्या कथा है। यह घटना भी सं० १७३० वि० से पीछे की है। बहादुर ख़ाँ भी मुग़ल सेना का सेनापति और दक्षिण का सूबेदार नियुक्त हुआ था इस का कोई युद्ध शिवाजी से नहीं हुआ। दिलेर ख़ाँ के पश्चात् ही यह दक्षिण का सूबेदार बनाया गया था, जिस के संबंध में भूषण ने कहा था "दीनों मुहीम को भार बहादुर छागो सहै क्यों गयंद को झप्पर"।[4]

---

[1] मिश्रबंधु महोदय द्वारा संपादित 'भूषण-ग्रंथावली' पृष्ठ २९ में छंद १०३ का फुटनोट।

[2] 'शिवाजी', सरकार-कृत, पृष्ठ २६२।

[3] 'शिवराजभूषण' छंद ३५५ पृष्ठ १२१ (नागरी-प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित)।

[4] " , छंद न० ३२०

वह वर्णन भी सं० १७३० वि० से पीछे का है। इस पद से बहादुर खाँ की जो दशा व्यक्त होती है और छंद नं० ३५५ में "खान बहादुर युद्ध", से जो भाव प्रकट किये गए हैं उन से उस की अकर्मण्यता और पूर्ण दीनता द्योतित होती है। सरकार ने भी अपने 'शिवाजी' नामक ग्रंथ मे उस के संबंध मे यही भाव व्यक्त किए हैं। मरहठी के कई ग्रंथ भी शिवाजी और बहादुर खाँ के संबंध में इसी प्रकार का वर्णन देते हैं। अतः निश्चित है कि बहादुर खाँ दक्षिण में बहुत ही असफल रहा था। इस से उस की सूबेदारी के काल का अच्छा दिग्दर्शन होता है।

शब्दसाक्ष्य

शब्दशास्त्र का प्रमाण भी एक अत्यंत प्रबल प्रमाण माना जाता है। शब्दों का विकास और ह्रास सामाजिक जीवन में एक प्रधान स्थान रखता है। भूषण ने शिवाजी के लिये 'बखत बुलंद'[1] और 'सवाई'[2] शब्दों की सम्मान-सूचक उपाधियों का वर्णन किया है। इतिहासज्ञ भलीभाँति जानते हैं कि औरंगजेब ने ये उपाधियाँ क्रमशः गोंड राजा तथा जयपुर-नरेश सवाई जयसिंह को प्रदान की थीं। गोंड राजा को बखत बुलंद की पदवी संवत् १७४० वि०[3] मे तथा सवाई जयसिंह की उपाधि सं० १७५७[4] वि० मे दी गई थी। महाकवि भूषण ने उन उपाधियों को नगण्य मान कर शिवाजी को उसी अनुकरण पर 'बखत बुलंद' तथा 'सवाई' उपाधियो का अपने 'शिवराजभूषण' नामक ग्रंथ में उल्लेख किया है। शब्दशास्त्र के ज्ञाता भली भाँति जानते हैं कि 'बखत बुलंद' व 'सवाई' शब्दों का ऐसा प्रयोग औरंग-जेब से पूर्व नहीं पाया गया। सं० १७४७ में मतिराम ने ज्ञानचंद के लिये

[1] 'शिवराजभूषण', छंद नं० १०९।

[2] 'शिवराजभूषण', छंद २२१।

[3] नागपुर गज़ेटियर, इतिहास-भाग।

[4] टाड, 'राजस्थान' भाग १ में सवाई जयसिंह का वर्णन।

बखत बुलंद[1] की पदवी का तो प्रयोग किया था। परंतु 'सवाई' की पदवी हिंदी साहित्य में अपूर्व घटना है। 'शिवराजभूषण' के छंद १०९ व २२१ में उक्त शब्दों का प्रयोग किया गया है। देखिये—"बासव से बिसरत बिक्रम की कहाँ चली, बिक्रम लखत बीर बखत बुलंद के।"[2] तथा—"सरजा सवाई कासों करि कविताई तब, हाथ की को बखान करि जाता है।"[3] विद्वानों को इन दोनों शब्दों पर अच्छी प्रकार विचार करना चाहिये।

ये छोटी छोटी घटनाएँ भी कितना महत्त्व रखती हैं? और वे कैसे सुंदर प्रमाण उपस्थित करती हैं जिस में किसी को आपत्ति करने का अवकाश नहीं है। यही नहीं 'शिवराजभूषण' में अनेकों शब्द ऐसे हैं जो मरहठी आदि भाषाओं से लिये गए हैं। तथा शिवाजी-विषयक ग्रंथों के अवलोकन से हृदयंगम हो गए हैं। चिंजी चिंजाउर[4] ही इस के प्रत्यक्ष प्रमाण है।

शिवाबावनी

शिवाबावनी में वर्णित ५२ छंद भूषण ने साहू के सामने कहे थे। उन छंदों में भूषण ने बहुत सी ऐतिहासिक बातें वर्णन की हैं, जो कि साहू के समय तक होती रही हैं। इस लिये सं० १७६९ वि० तक की घटनाओं का उस में बहुत सा वर्णन आ गया है। परंतु हिंदी के धुरंधर विद्वान इस तथ्य को न समझ कर उस में से छंद निकाल निकाल कर नये छंद भरते जाते हैं। जिस से 'शिवाबावनी' का महत्त्व कम हो रहा है। यदि सं० १७२८ वि० से पीछे की सब घटनाओं के कवित्त निकाल दिए जायँ तो उस में कठिनता से आधे कवित्त रह जायँगे। और अच्छे अच्छे सब कवित्त निकाल देने पड़ेंगे। उदाहरण के लिये कुछ छंदों का उल्लेख करना असंगत न होगा।

---

[1] 'अलंकारपंचाशिका', हस्तलिखित प्रति का अंतिम पृष्ठ।

[2] 'शिवराजभूषण', छंद १०९।

[3] 'शिवराजभूषण', छंद २२१।

[4] 'शिवाबावनी', छंद १५ (काशी से प्रकाशित)।

मोरंग कुमाऊँ को पलाऊ बाँधे एक पल,
कहाँ लौं गनाऊँ जेते भूषण के गोत हैं।
'भूषण' भनत गिरि त्रिकट निवासी लोग,
बावनी बवंजा नव कोटि धुंध जोत हैं॥
काबुल कँधार खुरासान जेर कीन्हों जिन,
मुगल पठान सेख सय्यद हू रोत हैं।
अब लगि जानत हैं बड़े होत पातसाह,
शिवराज प्रकटे ते राजा बड़े होत हैं॥[१]

इस छंद में मोरंग-नरेश[२] का अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में और कुमाऊँ-नरेश[३] का सत्रहवीं शताब्दी के अंत में मुगलों द्वारा राज से भगा देने का उल्लेख है। परंतु कुछ दिनों बाद फिर वे अपने राज्य के अधिकारी हो गए थे। यही उल्लेख उक्त छंद मे किया गया है। साथ ही ये दोनों राज्य भूषण के आश्रयदाता भी कहे गए हैं। कर्नाटक के राज्यों तथा काबुल कंधार आदि की महरठों द्वारा विजयों का भी उल्लेख है। जिस से एक अच्छा ऐतिहासिक विवरण प्राप्त होता है। परंतु हिंदी के विद्वान इसे निकालने के प्रयत्न में हैं।

छंद ३२ में बहुत सी घटनाओं का उल्लेख है[४] जो सं० १७३० वि० से बहुत पीछे की हैं। जैसा कि पहिले ही बतलाया गया है।

---

[१] 'शिवावानी,' छंद नं० ४४ (ना० प्र० सभा काशी की प्रति)।

[२] 'पुरनियाँ गजेटियर', पृ० ३५।

[३] 'अल्मोड़ा गजेटियर' पृ० १६७—गुरु ज्ञानचंद की उपाधि बादशाह ने दी थी। और उस की प्रार्थना पर कुमाऊँ राज्य उसे वापिस मिल गया था। यह घटना औरंगज़ेब से पूर्व की है। 'अल्मोड़ा गज़ेटियर' पृ० १७९ पर उद्योत चंद की उदासीनता का कारण भी कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है।

[४] इस में बीजापुर, बिदनूर, मालाबार, जिंजी, तंजोर इत्यादि का वर्णन दिया है। दे० नोट नं० ११०, ११२, ११७।

छंद ४५, ४६ व ४७ में वर्णित घटनाएँ[1] भी उक्त समय से बहुत पीछे की हैं। सिरोंज[2] में मरहठों की सेना बालाजी विश्वनाथ तथा बाजीराव पेश-वाओं के नायकत्व में पहुँची थीं। जिस समय ये लोग दिल्ली गए थे इस से पूर्व कभी मरहठी सेना सिरोंज में नहीं आई। ये घटनाएँ क्रमशः सं० १७६९ व १७९२ वि० की हैं।

सितारा[3] का वर्णन भूषण ने कई छंदों में किया है। मरहठों का उस पर जौलाई सं० १७३० वि० में अधिकार हुआ था। और साहू ने गद्दी पर बैठने के पश्चात् ही इसे अपनी राजधानी बनाली थी। शिवाजी ने कभी उसे राजधानी नहीं बनाया। और भूषण ने इस का राजधानी के तौर पर ही वर्णन किया है। "दिल्ली दुलहिन भई शहर सितारे की।"[4] "बाजत नगाड़े ये सितारा गढ़धारी के।" "तारे लागे फिरन सितारे गढ़ धरके।" इत्यादि अनेकों छंदों में सितारा नगर का वर्णन किया गया है। इन उदाहरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये छंद साहू के सामने कहे गए थे। शिवाजी के सामने इन का वर्णन नहीं किया गया। इसी प्रकार के अनेकों उदाहरण दिए जा सकते हैं। जिन्हें संपादक पुंगव निकालने की धुन में हैं। कुछ निकाल दिए गए हैं, कुछ और निकाले जा रहे है। दिन पर दिन कवि के वास्तविक भावों पर कुल्हाड़ा चलाया जा रहा है। परंतु साहू के सम्मुख होने से इस में ऐतिहासिक कोई व्यवधान नहीं पड़ता। अज्ञानता से कैसे कैसे अनर्थ हो जाते है, यह उस का ज्वलंत उदाहरण है।

'शिवराजभूषण', 'शिवाबावनी', तथा भूषण के अन्य छंदों में अठा-

---

[1] छंद नं० ४५ में कर्नाटक के युद्ध का वर्णन है। छंद नं० ४६ में भेलसा, उज्जैन और मालवा का वर्णन है ये सब वर्णन सं० १७६९ वि० के पीछे के हैं। छंद नं० ४७ में सितारे का वर्णन है।

[2] इलियट, 'हिस्ट्री' भाग ६।

[3] 'भूषणग्रंथावली' का नोट पृ० ३५२ (काशी की प्रति)।

[4] 'शिवाबावनी,' छंद नं० ७,२८,३६ इत्यादि।

१८वीं शताब्दी के अंत तक की घटनाओं का वर्णन आया है

जिस प्रकार भूषण विषयक भ्रांति पूर्ण किंवदंतिओं ने उन के चरित्र को अपूर्ण रखने में पूर्ण सहयोग प्रदान किया है। उसी प्रकार 'शिवा-बावनी' के संबंध में भी विचार-धारा प्रवाहित हो रही है। इस मे एक विशेषता और भी है कि लेखकों तथा संपादक-पुंगवों ने उस के छंदों को मनमाने ढंग से तोड़ मरोड़ तथा इच्छानुसार एक छंद के स्थान मे दूसरा छंद रख कर उस की मौलिकता और महत्त्व लुप्त करने में कुछ भी न्यूनता नहीं की। आदरणीय मिश्रबंधु महोदयों ने तो केवल ६ छंद निकाल कर उन के स्थान मे भूषण के अन्य छंद रख दिए थे। और उन के निकालने का हेतु भी दिया था, जिस पर हम आगे चल कर विचार करेंगे। इस के पश्चात् सम्मेलन से प्रकाशित किन्हीं वेदव्रत शास्त्री द्वारा संपादित 'भूषण-ग्रंथावली' की 'शिवा-बावनी' में से ९ छंद निकाल दिये और उन के निकालने का कोई कारण नहीं दिया। इस के पश्चात् अन्य कुछ सज्जनों ने और भी आगे बढ़ने का साहस किया और १५-२० छंद[1] उस मे से निकाल कर उस के स्थान पर अन्य छंद रख दिए। उस पर भी अपनी यह उदार सम्मति प्रदान की कि 'शिवाबावनी' के जितने छंदों में ऐतिहासिक वर्णन पाया जाता है उन्हे निकाल कर दूसरे कवित्त उन के स्थान पर रख देने से ग्रंथ उत्तम हो सकता है। इस पर कुछ भी टिप्पणी करना व्यर्थ है !!

पाठक स्वयं विचार सकते हैं कि उस समय इस ग्रंथ की क्या दशा होगी !

मिश्रबंधु महोदय ने छंद परिवर्तन के दो हेतु दिए हैं :—

(१) दो छंद 'शिवाबावनी' के 'शिवराजभूषण' में आ गए हैं अतः उन की आवश्यकता नहीं।

(२) अन्य चार छंद दूसरे महानुभावों की प्रशंसा में (साहूजी, बाजी-

---

[1] साहित्य-सेवक कार्यालय काशी से प्रकाशित 'भूषणग्रंथावली' में 'शिवा-बावनी' भाग।

राव पेशवा तथा अवधूतसिंह के लिये) कहे गए हैं अत उन का रखना भी अनावश्यक है, उन्हें हटा लिया जाय।[१]

इन दोनों बातों पर गंभीरता से विचार करने से विदित होता है कि ये हेतु अत्यंत निर्बल हैं। क्योंकि 'शिवाबावनी' पूर्व का ग्रंथ है और 'शिवराज भूषण' अपेक्षाकृत पीछे का। अतः उस के दो छंद इस मे उदाहरण-स्वरूप, आ जाने से क्या हानि होगी? जब कि मिश्रबंधु महोदय भी 'शिवाबावनी' को 'शिवराजभूषण' से पूर्व-रचित मानते हैं। अधिकांश समाज इसी मत का अनुयायी है, अतः प्रथम कारण छंदों के निकालने के लिये लगाना निरर्थक है।

दूसरा कारण भी नवीन अनुसंधान होने से व्यर्थ हो जाता है। भूषण सं० १७६९ वि० के पीछे साहू के दरबार में गए थे। उस समय तक साहू और मंत्री पेशवा की ख्याति हो चुकी थी उस से कुछ काल पूर्व ही भूषण अवधूतसिंह के दरबार में हृदयराम के साथ जा चुके थे। उन से पुरस्कृत होने के पश्चात् ही भूषण ने दक्षिण की यात्रा की थी। छत्रपति साहू के जीवनचरित्र से विदित होता है कि ये बड़े ही उदार प्रकृति के महानुभाव थे। जब साहू बहुत से छंद शिवाजी-संबंधी सुन चुके तथा कुछ छंद अपने विषय के भी सुने तब यह स्वाभाविक ही है कि उन्हों ने अन्य राजाओं की प्रशंसा के छंद भी उस समय सुनाने को कहा हो। और भूषण के मस्तिष्क में महाराजा अवधूत सिंह की प्रशंसा के छंद घुमड़ रहे हो क्योंकि वहाँ से हो कर ही भूषण दक्षिण गए थे। रीवाँ-नरेश ने अपने विपक्षियों पर विजय भी उसी समय प्राप्त की थी। अतः उसी के उत्सव में भूषण सम्मिलित हुए होंगे। 'शिवाबावनी' में सं० १७६९ वि० के पीछे की एक भी घटना नहीं है। तथा सं० १७३० वि० के पीछे की अनेकों घटनाएँ वर्तमान हैं। छंद नं० १८, ३२, ४२, ४३, ४५, ४६, ५० इत्यादि में सं० १७३४ वि० और सं० १७६९ वि० के बीच की घटनाएँ हैं। इस से भी यही ज्ञात होता है कि भूषण सं० १९६९ वि० मे साहू के दरबार में गए थे। उस समय उन्हों ने शिकार खेलते समय साहू को 'शिवाबावनी' के

---

[१] 'भूषण ग्रंथावली' की भूमिका पृष्ठ ५९।

५२ छंद सुनाये थे जिस पर उन्हें साहू ने ५२ लाख रुपये, ५२ हाथी, ५२ सिरापाव, ५२ गाव की जागीर इत्यादि पुरस्कार मे दी थी जो सज्जन इस ऐतिहासिक तथ्य को नहीं जानते वे ही उस मे से छंदों का परिवर्तन करने का प्रयत्न करते हैं। मैं उपर्युक्त कारणों से इस परिवर्तन का घोर विरोधी हूँ। इस से भूषण की मौलिकता नष्ट हो रही है, तथा 'शिवाबावनी' का इतिहास नष्ट किया जा रहा है। 'शिवाबावनी' इस का नाम पड़ने का मूल कारण यही है कि इस के अधिकांश छंद शिवाजी की प्रशंसा में कहे गए है। सर्वसाधारण भूषण का शिवाजी के दरबार ही में जाना मानते हैं किंतु किंवदंती यही है कि भूषण साहू के दरबार में ही गए थे। और ये ५२ कवित्त साहू के सम्मुख कहे थे। बंबई मे जो संग्रह हुआ था। वह यही है। उस समय 'शिवाबावनी' के नाम से जो छंद लोगों को याद थे वे वेही हैं जो मूल रूप में माने गए है। अतः जब तक इन के विरुद्ध कोई प्रबल प्रमाण न मिले तब तक ये हो ५२ छंद 'शिवाबावनी' के नाम से माने जाने चाहिये। कुछ विद्वत्प्रवर महाशय इस में परिवर्तन के इसी लिये पक्ष पाती है कि उन की इच्छा ही सर्वोपरि है। उन के लिये हमे कुछ भी कथनीय नही है। कुछ इस लिये इस को परिवर्तनीय मानते हैं कि इस में इंदु,[1] निवाज[2] और दत्त[3] के कवित्त मिश्रित हैं। ये तीनों कवि भूषण के परवर्ती हैं। अतः भूषण के कवित्त या तो तीनों ने एक एक अपने नाम पर कर लिए होंगे या अन्य लोगों ने भूषण के ये छंद उक्त कवियों के नाम से रख दिये होंगे, जैसे कि हम भूषण के दो छंदो को भूधर[4] अथवा सारँग के नाम पर लिखा हुआ पाते है। परंतु जिस प्रकार ये छंद भूषण के ही प्रमाणित हुए उसी प्रकार वे भो हैं।

---

[1] 'शिवसिंहसरोज' में इंदु कवि का वर्णन।

[2] निवाज कवि के छंद 'शिवसिंहसरोज' पृ० १५६।

[3] 'साहित्यसिंधु' में दत्त का कवित्त।

[4] 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' भाग ६, संख्या ३ में 'महाकवि भूषण' शीर्षक लेख और भूधर व सारँग का विवेचन।

रहा कवि गंग-कृत कवित्त के विषय में जो कि अकबर के पुत्र दान-शाहि की प्रशंसा में रचा बतलाया जाता है, वह प्राचीन संग्रहों मे नही मिलता। केवल सरदार कवि[1] कृत 'शृंगारसंग्रह' मे पाया जाता है जो कि भूषण से एक शताब्दी से भी अधिक काल पीछे हुआ है. अतः यह भी भूल ही प्रतीत होती है, जब तक वह किसी प्राचीन प्रति में न मिले। यदि भूषण से पूर्ववर्ती किसी संग्रह में मिलता तो अवश्य वह प्रमाणिक माना जा सकता था। अतः यह छंद भी भूषण का ही मानना पड़ता है। फिर इन कवित्तों की भाषा भी भूषण से मिलती जुलती है। दत्त कवि कृत जाटों की प्रशंसा का कवित्त तो स्पष्ट ही भूषण-कृत है—उस में सूरत और गुजरात लूटने का वर्णन है। जाटों ने कभी सूरत और गुजरात मे पदार्पण नहीं किया। उस छंद में 'रंग तो शिवराज महाबलि'[2] लिख कर कवि ने इसे और भी उपहासास्पद कर दिया है। अधिकांश लेखक इसी तरह बिना विचारे अपनी सम्मति स्थिर कर लेते हैं। ऐतिहासिक विवेचन के साथ ही ऐतिहासिक बातों का हम ठीक ठीक निर्णय कर सकते हैं; अन्यथा नहीं। आशा है हिंदी के विद्वान हमारे उक्त कथन पर गंभीरता पूर्वक विचार करेंगे। 'शिवराजभूषण' की रचना तो 'शिवाबावनी' से भी पीछे की है। उस मे वर्णित घटनाएँ भी सं० १७६९ वि० तक की हैं। उस का विवेचन यहाँ करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

अन्य घटनाएँ

जिस समय भूषण शिवाजी के दरबार में प्रस्तुत माने जाते हैं उस समय निम्न-लिखित घटनाएँ हुई थीं। परंतु भूषण ने उन का कहीं उल्लेख नहीं किया।

---

[1] सरदार-कृत, 'शृंगारसंग्रह'।

[2] इस छंद में अनुमान से यह प्रतीत होता है कि भूषण के छंद के आधार पर दत्त ने अपना छंद रचा है।

(१) शिवाजी छत्रशाल की भेंट का वर्णन सन् १६७१ ई० (१७२८ सं०) ।[1]

(२) भूपतिसिंह पँवार का पुरंदर के क़िले में मारा जाना सन् १६७० (सं० १७२७ वि०) ।[2]

(३) रजीउद्दीन ख़ाँ को क़िले में क़ैद कर देना सन् १६७० ई० (सं० १७२७ वि०) ।[3]

(४) महावत ख़ाँ की हार होना सन् १६७१ ई० (सं० १७२८ वि०)[4]

(५) विक्रमशाह से राज छीनने का वर्णन सन् १६७२ ई० (सं० १७२९ वि०) ।[5]

इन के अतिरिक्त और भी कुछ घटनाएँ दी जा सकती हैं ।

इसी प्रकार 'शिवराजभूषण' में कई घटनाएँ अशुद्ध दी गई है उन की ऐतिहासिक अनुकूलता नहीं है—

(१) शिवाजी का जयसिंह मिर्ज़ा को २३ क़िले देना ऐतिहासिक मानते हैं परंतु भूषण यह संख्या ३५ लिखते हैं ।

(२) गुसलखाने का वर्णन भी इतिहास के अनुकूल नहीं है ।

इन संपूर्ण बातों से यह अनुमान स्वाभाविक ही किया जा सकता है कि भूषण ने शिवाजी के दरबार में रह कर 'शिवराजभूषण' ग्रंथ कभी नहीं रचा था ।

एक बात और भी विचारणीय है कि भूषण ने जिस प्रकार 'शिवराजभूषण' की रचना की थी उसी प्रकार उन के भाई चिन्तामणि ने मकरंद शाह (शिवाजी के पितामह) के लिये सं० १७७९ वि० में उसी अनुकरण

---

[1] 'शिवाजी' पृष्ठ १०७ ।

[2] वही, पृष्ठ १२८ ।

[3] वही, पृष्ठ १८८ ।

[4] वही, पृष्ठ २०७ व ४३२ ।

[5] विक्रमशाह का वर्णन 'शिवाजी' पृष्ठ २११ ।

पर 'पिंगल[1]' की रचना की थी। यदि मकरंद शाह भोंसला के दरबार में चिंतामणि का उपस्थित होना माना जाय तो वह समय चिंतामणि के जन्म से भी पूर्व ठहरता है। यह जन्म-संवत् 'मिश्रबंधु विनोद' के आधार पर लिया गया है।

---

[1] चिन्तामणिकृत पिंगल का निर्माणकाल का दोहा—"कहत अंक मन दीप है,

सानि केतु"

सर जदुनाथ सरकार और महाराजा अजितसिंह

[लेखक—श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ]

मिस्टर विलियम इरविन की लिखी और सर जदुनाथ सरकार द्वारा संपादित 'लेटर मुग़ल्स' नामक पुस्तक के दूसरे भाग (चैपटर ७, सैक्शन २९, पृष्ठ ११४-११७) में, मुहम्मद हादी कमवरख़ाँ की 'तज़किरातुस्सलातीन-ए-चग़ताई' के आधार पर, लिखा है कि—"अपने पुत्र बख़्तसिंह की स्त्री पर आसक्त हो जाने के कारण ही उस (बख़्तसिंह) ने अपने पिता अजितसिंह को मार डाला।" इस के खंडन में हमारा एक लेख 'विलियम इर्विन और महाराजा अजितसिंह' के नाम से 'माधुरी' (मार्च १९२८—पूर्ण संख्या ६८) और इंडियन ऐंटिक्वेरी (मार्च १९२९—भाग ५८) मे प्रकाशित हुआ था। उस में हम ने यह सिद्ध किया था कि बादशाह मुहम्मदशाह ने सय्यद भ्राताओं को मरवाने के बाद ही उन के मित्र प्रतापी नरेश अजितसिंह को भी मरवा डालने का निश्चय कर लिया। उस समय देहली के शाही दरबार में ये तीन व्यक्ति ही विशेष प्रभावशाली थे और स्वयं मुहम्मद शाह को भी इन्हों ने ही बादशाह बनाया था। इसी से वह इन में के प्रत्येक व्यक्ति से भय खाता था। अंत में उस ने जयपुर-नरेश सवाई राजा जयसिंह के द्वारा जोधपुर के भंडारी राय रघुनाथ को अपने षड्यंत्र मे शरीक कर राजकुमार अभयसिंह को अनेक भय और प्रलोभन दिखलाए और उसी के द्वारा उस के छोटे भाई बख़्तसिंह से यह कार्य पूरा करवाया। इस के बाद इसी कार्य के उपलक्ष्य में बख़्तसिंह को ख़ास तौर पर राजाधिराज की उपाधि और नागोर का विशाल प्रांत जागीर में मिला।[1]

---

[1] यह प्रांत वि० सं० १७८२ (ई० सं० १७२५) में बादशाह ने महाराजा अभयसिंह जी को दिया था।

महाराजा अजितसिंह की हत्या बादशाह के इशारे से ही की गई थी। इस के प्रमाण में शाहनवाजखाँ (सम्सामुद्दौला) की 'मआसिरुल उमरा' और मुहम्मदशफी वारिद की 'मीराते वारिदात' आदि उसी समय के क़रीब लिखी गई, फ़ारसी तवारीख़ों के प्रमाण भी उद्धृत किए थे। साथ ही कमवरखाँ और वारिद के लिखे इतिहासों की (ग्रंथकारों की स्वयं लिखी) भूमिकाओं के आधार पर यह भी सिद्ध किया था कि पहले ने अपना इतिहास बिना किसी की सहायता के निजी तौर पर हो लिखा था और उस के लिखने में उसे अनेक कठिनाइयाँ भी पड़ी थीं। परंतु दूसरे ने अपना इतिहास बड़ी छान बीन के साथ लिखा था और ई० सं० १७१७ से १७२९ (वि० सं० १७७४ से १७९६) तक का हाल तो स्वयं उस का आँखों देखा था। महाराजा अजितसिंह की मृत्यु ई० सं० १७२४ (वि० सं० १७८१) में हुई थी। इसलिये इस विषय का वारिद का लेख और भी मान्य सिद्ध होता है।

हमें खेद है कि इतने पर भी सर जदुनाथ सरकार जैसे सर्वमान्य ऐतिहासिक अभी तक इस विषय में अपना मत साफ़ तौर से प्रकट करने में हिचकते हैं। वैसे तो आपने हमारे दिए प्रमाणों पर विचार करने की उदारता दिखलाई है। परंतु साथ ही आप कमवर के इतिहास की लिखित प्रतियों की फिर से छान बीन करने के चक्कर में पड़े हुए हैं और क़रीब दो वर्षों से अधिक समय बीत जाने पर भी इस चक्कर के आदि अंत का कुछ निर्णय होता नज़र नहीं आता। इसी कारण यहाँ पर हम इस विषय के कुछ और भी प्रमाण उद्धृत करते हैं। आशा है इन से सर जदुनाथ सरकार को अपना निर्णय स्थिर करने में कुछ सहायता अवश्य मिलेगी।

मारवाड़ की पुरानी ख्यातों में लिखा है कि—महाराजा अजितसिंह के इस प्रकार शाही षड्यंत्र से मारे जाने के कारण, जोधपुर में उन का दाह-कर्म होने के बाद ही, उन के छोटे पुत्र आनंदसिंह, किशोरसिंह और रायसिंह अपने बड़े भाई अभयसिंह से बागी हो कर निकल गए। यह देख कुछ सरदारों ने भी उन का साथ दिया। इन लोगों का इरादा महाराजा अभयसिंह के विरुद्ध, मारवाड़ में, उपद्रव कर अपना स्वतंत्र राज्य क़ायम करने का था

परंतु जब इस में सफलता नहीं हुई तब आनंदसिंह और रायसिंह ने महाराजा अभयसिंह को शाही मनसब में मिले ईडर प्रांत पर अधिकार कर लिया। महाराज ने भी मारवाड़ में शांति होती देख जाहिरा इस में कुछ आपत्ति नहीं की। उसी समय से आनंदसिंह के वंशजों का अधिकार ईडर पर चला आता है।

मारवाड़ की पुरानी ख्यातों में यह भी लिखा है कि—बादशाह मुहम्मद-शाह के कहने से जयपुर नरेश सवाई राजा जयसिंह और जोधपुर के भंडारी राय रघुनाथ ने, राजकुमार अभयसिंह को बहका कर उन के छोटे भाई, बखतसिंह द्वारा महाराजा अजितसिंह की हत्या करवाई थी। इसी से जब वि० सं० १७८१ (ई० सं० १७२४), में देहली में, गद्दी पर बैठने[1] के बाद महाराजा अभयसिंह जयपुर-नरेश सवाई जयसिंह की कन्या से विवाह करने मथुरा जाने लगे तब मारवाड़ के सरदारों ने इस संबंध में बाधा डालने के लिये महाराज से पहले जोधपुर चलने का आग्रह किया। परंतु जब उन्हें इस में सफलता नहीं हुई तब उन में से कुछ तो नाराज हो कर बिना आज्ञा प्राप्त किए ही अपनी अपनी जागीरों में चले गए और कुछ महाराजा अभयसिंह के छोटे भ्राता आनंदसिंह, किशोरसिंह के दल में जा मिले।

महाराजा अभयसिंह के देहली से लिखे वि० सं० १७८१ की भादों सुदि १० (ई० सं० १७२४ को १८ अगस्त) के, प्रसिद्ध राठोड़ वीर दुर्गादास के पुत्र अभयकरण के नाम के, पत्र से उपर्युक्त घटना की पुष्टि होती है। उस में लिखा है :—

"स्वारूप श्री श्री राजराजेस्वर महाराजाधिराज महाराजा श्री अभैसिंघ जी देव वचनात रा० अभैकरण दुर्गादासौत दीसे सुप्रसाद वाच जो तथा हजुर सु कीतरैक आसांमी बीनां मुजरो कांमां ऊठ आयाछै सो कदास थांनेई

---

[1] महाराज के गद्दी पर बैठने के समय बादशाह ने इन्हें राजराजेश्वर की उपाधि दी थी। (अभयोदय, सर्ग ६, श्लो० ११-१२) संभव है यह राजकुमार अभयसिंह के शाही षड्यंत्र के सामने चुप रह जाने के कारण ही दी गई हो।

जुठ साच कहै तौ कीणीरा कह्या ऊप नीजर मत राखजो । थे सदा दरबार रा सामधरमी छौ सारी बातरो जाबतो करनै अवांनै देखत सवां हजुर आवजो हुकम छै सं० १७८१ रा० भा० सुद १० मु० जहांनाबाद ।"

उन्हीं ख्यातों में आगे लिखा है कि—शीघ्र ही सरदारों ने भंडारी राय रघुनाथ से अपने स्वर्गगत स्वामी का बदला लेने के लिये महाराजा अभय-सिंह पर दबाव डालना शुरू किया । यद्यपि उस समय राय रघुनाथ के प्रधान मंत्री होने के कारण राज्य का सारा कार-बार भंडारियों के ही हाथ में था तथापि समय का रंग-ढंग देख महाराज ने उन्हें क़ैद करने की आज्ञा दे दी । इसके अनुसार कार्य किए जाने के समय बहुत से भंडारी जान से मारे गए । परन्तु जब इतने पर भी यह विरोध शांत न हुआ तब, मथुरा के मुक़ाम पर, महाराज को स्वयं भंडारी राय रघुनाथ को क़ैद कर उसका कार्य पंचोली रामकिशन को सौंपना पड़ा । इसके बाद जब महाराज ने विरोध शांत हुआ जान, वि० सं० १७८२ (ई० स० १७२५) में, भंडारी रघुनाथ और उसके रिश्तेदारों को क़ैद से छोड़ा तब एक बार फिर सरदारों ने संमिलित हो कर इस का प्रतिवाद किया । यह देख उन्हें फिर से भंडारी रघुनाथ और भंडारी खीवसी को क़ैद करना पड़ा ।

इन अवतरणों से स्पष्ट प्रकट होता है कि बादशाह मुहम्मदशाह ने ही जयपुर-नरेश सवाई जयसिंह और भंडारी रघुनाथ से मिल कर जोधपुर-नरेश महाराजा अजितसिंह का वध करवाया था । इसी से स्वर्गवासी महाराज के छोटे पुत्र आनंदसिंह आदि को, बग़ावत का झंडा खड़ा कर, मारवाड़ के कई सरदारों को अपने पक्ष में करने और उनकी सहायता से ईडर का राज्य स्थापन करने का अवसर मिला था । इसी से अनेक सरदार महाराजा अभयसिंह का साथ छोड़ कर बिना आज्ञा लिए ही देहली से अपनी अपनी जागीरों को लौट गए और इसी के कारण इच्छा नहीं होते हुए भी महाराजा अभयसिंह को दो बार भंडारी राय रघुनाथ और उसके रिश्तेदारों को क़ैद करना पड़ा था ।

अस्तु, ये तो इस विषय की महाराज से संबंध रखने वाली निजी

घटनाएँ हैं आगे बादशाह से संबंध रखने वाली कुछ घटनाओं का उल्लेख किया जाता है:—

वि० सं० १७८२ की कार्तिक सुदि ४ (ई० स० १७२५ की २९ अक्टोबर) के जयपुर-नरेश सवाई जयसिंह के, महाराजा अभयसिंह के नाम लिखे पत्र[1] में महाराज को, बादशाह की आज्ञानुसार शीघ्र ही अहमदाबाद जाने का आग्रह करने के बाद, लिखा है—"अर राज्य खरची वा जागीर कैवासतै लिखी छी तोरी अरज कराईछै सो ठीक पाडि पाशासौं लिखांला।"

इसी प्रकार वि० सं० १७८२ की मँगसिर (अगहन) बदि २ (ई० स० १७२५ की ११ नवंबर) के जयपुर-नरेश सवाई जयसिंह के, महाराजा अभयसिंह के नाम भेजे, पत्र में लिखा है:—

"अर कागद भंडारी राय रघनाथ को बुधराम प्रोहत नै आयो तीमै लिख्यौ जो मतालिब पातसाही दरबार सौं कराय लीज्यौ सो या कागद वजनसि म्हांनै वंचायौ अर पातिसाहजी नै सर बुलंदखाजी अर गुरजबरदारां अरज लिखो जौ महाराजा कुच न कियो तीपरि वहोत बेजार रह्या छै जो अरज मतालिब वा खरची की कीजे त्याको जवाब ही दे नही सो राज्य ने लिखां छां पहुंचतां कागद कै कुच सिताब करोला अर मंजल दोय च्यार जावौ तब गुरज-बरदारां कनै अरज पातिसाहजी नै लिखाय घौला ज्यौ मतालिब राज्यका सरंजाम होय पातिसाहजी ने वेजार करबो सलाह नही।"

वि० सं० १७८४ की आश्विन सुदि १३ (ई० सं० १७२७ की १७ सितंबर) के राजाधिराज बखतसिंह के एक पत्र[2] में लिखा है:—

"और भं० अनोपसिंघ ऐहमदाबाद रै सोबैदिसा मालम कीयौ सुबै लैणारौ दरबारमै तलासछै सु तुं श्री हजुरमै अरज करे आजकाल सोबैरी ऊवा वात न छै दीखणीयांरो पिण जोरौ छै नै धरतीमै कोलीयांरो फीसाद निपट ज्यादा छै नवाब सोर बिलंदखां ऊतरी जमीयत सुं गयौ थौ जिणरौ

---

[1] यह पत्र सर जदुनाथ सरकार को दिखाया जा चुका है।

[2] इस पत्र का आधा भाग ही मिला है।

पिण अमल न हुवौ तौ श्री बाबाजी पधारसी तरै तौ जमीयत देसरीज हुसी सु हिसाब सोबैमै लोव कोई नजर आवै न छै नै सावो लीजै नै अमल न हुवै नरै आछौ न लागै जिणसुं ऊठै कोई बीजी सला विचारी हुवै तौ न जांणीजै। और तै लिखोयौ थो जागोरोरौ सारौ कांम ठोक हुवोछै पिणलाख रुपोया खरचनै चाहीजै जिणरी ढीलछै सु तुं अरज करै दस दिनांरी जेज हुई तो साख जाती रैहसो नै निदांन पछै हो टकै दियां विनां कांम निकलसो नही। तिणसु कदास रुपीयांरो निसां बीजुं न हुवै तौ परगना साहुकारारै आही बातै मेलनै ही सरभरा करणारौ हुकम हुवै पिण परगनारी सनंधां लैणरी जेज न हुवै।"

इन अवतरणों से सिद्ध होता है कि बादशाह मुहम्मशाह ने अपने इच्छानुसार कार्य हो जाने पर अभयसिंह को अवश्य ही कोई अच्छी जागीर, इजारे मे, देने का वादा किया था[1] और उस मे जयपुर-नरेश सवाई जयसिंह और भंडारी रघुनाथ भी शरीक थे। परंतु बाद में किसी कारण उस के पूरा न किए जाने से महाराजा अभयसिंह अहमदाबाद जाने में ढील कर जयपुर-नरेश जयसिह और राय रघुनाथ को बादशाह से उस का वादा पूरा करवाने के लिये दबाने लगे और उन के इस हठ से बादशाह और भी नाराज होने लगा। अंत मे एक बार तो महाराज को बादशाही आज्ञा का पालन करना पड़ा। परंतु इस के बाद शीघ्र ही इन्होंने शाही कर्मचारियों को एक लाख रुपया देने का वादा कर उस जागीर के प्राप्त कर ने का प्रबंध कर लिया।

ऊपर उद्‌धृत बखतसिंह के पत्र से यह भी प्रकट होता है कि उस समय महाराजा अभयसिह को अहमदाबाद का सूबा देने की बात-चीत भी हो रही थी।[2]

---

[1] पहले हमारा ख़याल था कि शायद इसी समय महाराज को गुजरात की सूबेदारी देने का भी निश्चय कर लिया गया था। परंतु ऊपर उद्‌धृत राजाधिराज बख़तसिंह के पत्र से इस का विचार वि० सं० १७८४ (ई० स० १७२७) में किया जाना सिद्ध होता है।

[2] 'मआसिरुल-उमरा' से भी इस की पुष्टि होती है। (भाग ३, पृ० ७५६)

आशा है सर जदुनाथ सरकार पहले दिए प्रमाणों के साथ ही इन नवीन प्रमाणों पर भी विचार करने का कष्ट करेंगे और हमें आशा ही नहीं विश्वास भी है कि इस प्रकार के भिन्न भिन्न प्रकार के प्रमाणों को जाँच लेने पर उन्हें कमवरखाँ के लेख के भ्रांत होने में कोई संदेह नहीं रहेगा। परंतु इतने प्रमाणों के रहते भी यदि वह कमवर के लेख पर ही अचल विश्वास रखना चाहें तो हमारी प्रार्थना है कि एक ऐतिहासिक के नाते वह हमारे सारे ही उद्धृत प्रमाणों के खंडन का कष्ट स्वीकार कर हमारा भ्रम दूर करने की कृपा तो अवश्य करें।

संपादकीय

पिछले तीन महीने के अंदर, काल के कोप से एक एक कर के हम अपने चार प्रमुख और वयोवृद्ध साहित्य-सेवियों से सदा के लिए बिछुड़ गए। एक साथ ही इन आत्माओं के प्रति शोक-श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए हमें अत्यंत दुःख हो रहा है। सब से पहिले हमें पंडित पद्मसिंह शर्मा जी की लेग से आकस्मिक मृत्यु का समाचार पाकर स्तंभित हो जाना पड़ा था। क्योंकि उस से एक सप्ताह पूर्व ही वह एकेडेमी में उपस्थित थे और पूर्णतया स्वस्थ थे। बाद में हमें बिहार के श्रीयुत शिवपूजनसहाय जी की मृत्यु का समाचार आरा से मिला। इन दो दुःखों से हम सम्हल न पाए थे कि वृंदावन के प्रतिष्ठित साहित्यिक गोस्वामी किशोरीलाल जी की मृत्यु का समाचार मिला। और अब अंत में, हरिद्वार से २१ जून को श्रीयुत जगन्नाथदास जी 'रत्नाकर' के देहावसान का समाचार आया है। एक साथ हमारे इतने उज्ज्वल रत्नों को काल ने कवलित कर लिया। इस से हिंदी संसार की अपार क्षति हुई है। इन में से तीन अर्थात् पंडित पद्मसिंह शर्मा जी, पंडित किशोरीलाल गोस्वामी जी और बाबू जगन्नाथदास जी 'रत्नाकर' तो हमारे प्रांत के ही थे। ये तीनों सज्जन अखिल भारतीय हिंदी साहित्य-संमेलन के सभापति रह चुके थे।

* * *

पंडित पद्मसिंह शर्मा की मृत्यु विगत ७ अप्रैल को उन्हीं के गाँव नायक नगला, चाँदपुर, ज़िला बिजनौर में हुई। आप के अंतिम दिनों में आपका एकेडेमी से घनिष्ट संबंध हो गया था। एकेडेमी की पिछली कान्फ्रेंस के अवसर पर हमें आप के 'हिंदी उर्दू और हिंदुस्तानी' शीर्षक व्याख्यान सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। एक प्रकार से यही व्याख्यान (जो शीघ्र ही पुस्तक-रूप में प्रकाशित हो रहा है) उनकी अंतिम साहित्यिक कृति है।

पंडित जी ने आजन्म हिंदी की अमूल्य सेवा की है। वह हिंदी-संस्कृत तथा उर्दू-फ़ारसी के भी विद्वान थे। हिंदी में तुलनात्मक आलोचना-प्रणाली के वे प्रवर्तक कहे जाते हैं। समालोचना के क्षेत्र में ही आपने मुख्य कीर्ति प्राप्त की थी। आप के संस्मरण-संबंधी लेखों का एक मूल्यवान संग्रह, पद्म-पराग प्रकाशित हुआ है। इस का दूसरा भाग छपाने का आप विचार कर रहे थे। आशा है आप के सुपुत्र आप की इस इच्छा की पूर्ति करेंगे। हिंदी साहित्य-संमेलन का मंगलाप्रसाद पारितोषिक आपने अपने संजीवन-भाष्य नामक बिहारी की सतसई की टीका पर प्राप्त किया था।

स्वर्गीय पंडित जी ने 'परोपकारी' और 'भारतोदय' पत्रों का संपादन भी बहुत दिनों तक योग्यता-पूर्वक किया था। नये साहित्यिकों पर आप की सदा बड़ी कृपा रहती थी। आप की काव्य-मर्मज्ञता प्रसिद्ध थी।

हम अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए यह आशा करते हैं कि हिंदी भाषा-भाषी आप की कीर्ति को स्थायी करने के निमित्त उद्योगशील होंगे।

❦ ❦ ❦

श्रीयुत शिवपूजनसहाय जी की मृत्यु आरा में विगत १५ मई को हुई। आप बिहार प्रांत के प्रमुख साहित्य-सेवी थे। आप भी वयोवृद्ध तथा भारतेंदु के समकालीनों में से थे। आप के अन्य पुराने साहित्यिक मित्रों में पंडित प्रतापनारायण मिश्र तथा अंबिकादत्त व्यास थे। आप आरा के ही रहने वाले थे और अपने प्रांत की कई साहित्य-सभाओं के प्राण थे। आप की रची हुई भारतेंदु हरिश्चंद्र, तुलसीदास, रूपकला जी और गौरांग महाप्रभु की जीवनियाँ विख्यात हैं। बड़े संतोष की बात यह है कि आप के सुयोग्य पुत्र श्री ब्रजनंदन सहाय जी अपने पिता की भाँति साहित्य-सेवा के मार्ग में अग्रसर हैं। हम स्वर्गीय आत्मा के लिए अपनी श्रद्धांजलि भेंट करते हैं।

❦ ❦ ❦

पंडित किशोरीलाल गोस्वामी जी भी हमारे वयोवृद्ध साहित्य-सेवी थे। परंतु साहित्य-सेवा में आप का उत्साह भी अंत तक अक्षुण्ण बना रहा।

अभी पिछले वर्ष ही झाँसी में होने वाले हिंदी साहित्य-संमेलन के आप सभापति हुए थे।

पंडित किशोरीलाल जी के पिता गोस्वामी श्री वासुदेवशरण देवाचार्य जी संस्कृत, ब्रजभाषा, हिंदी और बँगला के अच्छे विद्वान हुए हैं। आप वृन्दावन के रहने वाले थे। परंतु किशोरीलाल जी का पठन-पाठन अपने मातामह श्री कृष्णचैतन्य जी गोस्वामी के यहाँ काशी में हुआ। आपने संस्कृत में न्याय, योग, व्याकरण, वेदांत, ज्योतिष आदि विषयों का अध्ययन किया और साहित्य मे आचार्य परीक्षा तक के ग्रंथ पढ़े।

भारतेंदु इनके मातामह के साहित्य-शिष्य थे; राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद उनके पड़ोसी। अतएव इन दोनों महानुभावों से इनका घनिष्ठ संबंध था और इनके साहित्य-प्रेम का प्रादुर्भाव इसी समय हुआ था।

आप ने कई हिंदी पत्र-पत्रिकाओं का संपादन किया था। आपके रचे हुए ग्रंथों की संख्या १०० से ऊपर है। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों की संख्या तो कई सौ तक पहुँचती है। कविता, नाटक, रूपक, उपन्यास, जीवन-चरित संबंधी पुस्तकों के अतिरिक्त साम्प्रदायिक तथा अन्य पुस्तकें भी लिखी हैं।

आपका काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा से चिर संबंध रहा है, और आप कुछ काल तक नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के संपादक भी थे। आपकी मृत्यु विगत ९ जून को वृन्दावन मे हो गई। हम आप के कुटुंबियों से श्रद्धा-पूर्वक सम-वेदना प्रकट करते हैं।

❦ ❦ ❦

बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जी से हमारा निकटतर संबंध था। आप हिंदुस्तानी एकेडेमी की कौंसिल के माननीय सदस्य थे। आप की मृत्यु से जो स्थान रिक्त हुआ है उस की सहज मे पूर्ति न हो सकेगी। आप भी हिंदी के वयोवृद्ध साहित्य-सेवी थे और साहित्य-सेवा के प्रति आप का उत्साह अंत तक कम न हुआ था।

'रत्नाकर' जी का जन्म काशी में, एक प्रतिष्ठित अग्रवाल कुल में

सन् १८६६ ई० में हुआ था। आप के पूर्वज दिल्ली-निवासी थे, और वहाँ मुग़ल बादशाहों के यहाँ ऊँचे ऊँचे पदों पर काम करते थे। इनके परदादा लाला तुलाराम एक बार जहाँदारशाह के साथ काशी आए और तब से वहीं बस गए। आप के पिता का नाम बाबू पुरुषोत्तमदास था। यह न केवल फ़ारसी भाषा के अच्छे ज्ञाता थे वरन् फ़ारसी और हिंदी कविता के अनन्य-प्रेमी। कविता में 'रत्नाकर' जी की अभिरुचि, अपने पिता के संसर्ग से ही उत्पन्न हुई। इनके यहाँ अकसर कवियों का आना-जाना हुआ करता था। इन को भारतेंदु हरिश्चंद्र की सत्संगति का भी अवसर मिलता था। भारतेंदु ने इन की बाल्यकाल की कुछ रचनाओं को देख इन्हें आशीर्वाद दिया था और कहा था कि यह लड़का कभी अच्छा कवि होगा। भारतेंदु के समय के कवि-सम्मेलनों की यह अकसर चर्चा किया करते थे। कहते थे 'आजकल के सम्मेलन क्या हैं ? सम्मेलन तो काशी में भारतेंदु के समय में हुआ करते थे जब तीन-तीन दिन तक अखंड कविता-पाठ हुआ करता था।'

'रत्नाकर' जी ने शिक्षा काशी में ही पाई। सन् १८९१ में इन्हों ने फ़ारसी लेकर बी० ए० की डिग्री प्राप्त की। सन् १९०० के क़रीब आपने आवागढ़ रियासत में नौकरी कर ली। यहाँ आप दो वर्ष तक रहे। इस समय आप साहित्य-क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो चुके थे। सन् १९०१ में आप की 'हरिश्चंद्र' शीर्षक पौराणिक पद्य-कथा के तीन संस्करण हो चुके थे। सन् १९०२ में आप स्वर्गीय महाराजा प्रतापनारायणसिंह अयोध्या-नरेश के प्राइवेट सेक्रेटरी नियुक्त हुए और महाराजा साहब के मृत्यु-काल (नवंबर १९०६) तक इसी पद पर रहे। इस के बाद महारानी अयोध्या ने आप को अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लिया और अंत तक इसी पद पर रहे। आप का स्वास्थ्य इधर कुछ समय से अच्छा नहीं था और हरिद्वार में, जहाँ आप स्वास्थ्य-लाभ के लिये गए थे, आप की मृत्यु अचानक विगत २१ जून को हो गई।

'रत्नाकर' जी प्राचीन हिंदी साहित्य के धुरंधर विद्वान और व्रजभाषा के हमारे आजकल के सर्वश्रेष्ठ कवि थे। आप की कविता 'पद्माकर' तथा अन्य व्रजभाषा के बड़े कवियों से टक्कर लेती है। शब्दों के सजाव में इतना

परिश्रम करने वाला इनका कोई भी समसामयिक कवि नहीं था यह कहना कदाचित् अत्युक्ति न होगी कि 'रत्नाकर' जी की मृत्यु से, व्रजभाषा का अंतिम ओजस्वी कवि इस संसार से उठ गया।

'रत्नाकर' जी ने हिंडोला, समालोचनादर्श, साहित्य-रत्नाकर, घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर, हरिश्चंद्र, गंगावतरण और उद्धवशतक इन पुस्तकों की रचना की है। इन के अतिरिक्त आप की कुछ अप्रकाशित रचनाएँ भी है, जिनके अंश आप मित्रों को सुनाया करते थे। इनमे कलकाशी, अष्टक-रत्नाकर तथा स्फुट छंद हैं। हम आशा करते हैं कि इन अप्रकाशित रचनाओं को शीघ्र ही प्रकाशित करने का प्रयत्न होगा। इनकी प्रकाशित रचनाओं में से गंगावतरण को पारितोषिक प्रदान कर, एकेडेमी सम्मानित कर चुकी है। आप ने कई वर्षों तक 'साहित्य-सुधानिधि' नामक मासिक पत्र भी निकाला था।

आप ने कुछ प्राचीन कवियों के ग्रंथों का सुचारु रूप से संपादन किया है। इन में मुख्य है, चंद्रशेखर का हमीरहठ, कृपाराम की हितकारिणी, दूलह का कविकुलकंठाभरण और बिहारी की सतसई। इन में से अंतिम बिहारी-रत्नाकर के नाम से विशेष प्रसिद्ध हुई है। आप इधर कई वर्षों से सूरदास और नंददास के प्रामाणिक संस्करण निकालने में अथक परिश्रम कर रहे थे। परंतु खेद है कि यह कार्य अधूरा ही रह गया। आशा है अन्य विद्वान 'रत्नाकर' जी के उठाए कार्य को समाप्त करेंगे।

'रत्नाकर' जी बड़े हँस-मुख और रसिक सज्जन थे। इन का स्वभाव बड़ा मधुर, स्मरणशक्ति बड़ी तीव्र और कविता पढ़ने का ढंग बड़ा मनोहर था। आप के आ जाने से ही कवि संमेलनों में जान पड़ जाती थी।

जैसा कह चुके हैं आप हिंदी साहित्य-संमेलन के सभापति भी हो चुके थे। आगामी अंक में हम आप के संबंध में एक स्वतंत्र लेख प्रकाशित करेंगे। इस अवसर पर हम उन के दुखी कुटुंब से हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं।

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग २ } अक्तूबर १९३२ { अंक ४

कबीर साहब की रमैनी

[लेखक—श्रीयुत परशुराम चतुर्वेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

[१]

कबीर साहब की रचनाओं में उन की रमैनियों का प्रचार उतना अधिक नहीं है जितना उन के शब्दों अथवा साखियों का है। शब्दों को, उन के संगीतमय होने के कारण, गाने वाले प्रायः 'निर्गुण गान' के नाम से गाया करते हैं और साखियों के दोहे, छोटे, सुसंघटित एवं भावपूर्ण होने के कारण, बहुधा सर्वसाधारण की बातचीत तक में प्रयुक्त हुआ करते हैं, परंतु केवल दोहों चौपाइयों के संयोग से प्रस्तुत की गई, स्वभावतः शिथिल बनावट के कारण, रमैनियों को स्मरण रखना कुछ कठिन बात है, जिस से इन की लोकप्रियता में बाधा पहुँचती है। तोभी विषय की दृष्टि से हम रमैनियों को कबीर साहब की अन्य रचनाओं से किसी प्रकार भी कम नहीं मान सकते। रमैनियों के अंतर्गत भी उन के विचारों का प्रायः उसी प्रकार न्यूनाधिक समावेश है और विषय-प्रतिपादन की उत्तम शैली एवं वर्णनात्मक पद्यों की सीधी तथा अधिकतर स्पष्ट भाषा के कारण, रमैनियाँ हमारे लिए नित्य पाठ

की वस्तु बन सकती हैं। कबीर साहब के सांप्रदायिक अनुयायियों में रमैनियों का वही आदर है जो उन की अन्य रचनाओं का है।

'रमैनी' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में थोड़ा बहुत मतभेद है। रमैनियों के विषय को "जीवात्मा की संसरणादिक क्रीड़ाओं का सविस्तर वर्णन" बतलाते हुए किसी किसी ने उसे संस्कृत 'रामणी' शब्द का रूपांतर माना है[1]। परंतु एक तो रमैनियों का विषय उतना संकुचित नहीं दूसरे रामणी शब्द का 'रमैनी' में परिवर्त्तित होना उतना स्वाभाविक नहीं जान पड़ता। रमैनी शब्द का मूल रूप 'रामायण' शब्द का होना कदाचित् अधिक संभव समझा जा सकता है क्योंकि 'रामायण' का अर्थ अथवा, उसी के अनुसार, रामायण ग्रंथ का विषय रामयशोवर्णन होता है जो वस्तुतः कबीर साहब की रमैनियों का भी मुख्य विषय है और रामायण शब्द से क्रमशः 'रमैन' तथा अल्पत्व बोध कराने के लिए, 'रमैनी' शब्द बन जाना कोई असंभव बात नहीं। परंतु रमैनी शब्द कबीर साहब के समय से भी पहले का जान पड़ता है क्योंकि स्वयं उन के 'बीजक' में ही हम इस शब्द के प्रयोग एक से अधिक भिन्न भिन्न अर्थों में पाते हैं। जैसे—

अद्बुद रूप जाति की बानी,
उपजी प्रीति रमैनी ठानी।

(रमैनी ४ की तीसरी[2] पंक्ति)

अथवा,

जाकर नाम अकहुआ भाई,
ताकर कहा रमैनी गाई।

(रमैनी ५१ की पहली[3] पंक्ति)

---

[1] कबीर साहब का बीजक—साधु विचारदास जी द्वारा सटिप्पण संपादित और श्री नागेश्वरबक्स सिंह जी द्वारा प्रकाशित (प्रथम बार सं० १९८२) पृ० २८९-९० ।

[2] 'बीजक' (बेलवीडियर प्रेस, प्रयाग), पृष्ठ ४ ।

[3] वही, पृ० २१ ।

अथवा,

छ लख छानवे सहस रमैनी,
एक जीव पर होय।

(साखी ९८८ की दूसरी[1] पंक्ति)

में रमैनी शब्द का व्यवहार क्रमशः स्तुति, वर्णन तथा उपदेशमय पद्य के अर्थों में हुआ है और, संभव है, अन्य ग्रंथकारों की रचनाओं में भी यह शब्द भिन्न भिन्न प्रकार से व्यवहृत हुआ हो। जो हो, इतना प्रायः निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि रमैनी शब्द का प्रयोग पद्य विशेष के अर्थ में कबीर साहब के पहले से भी होता रहा है यद्यपि अभी तक उन के पूर्ववर्त्ती अथवा समकालीन किसी कवि की रमैनी हमें देखने को नहीं मिली। आज तक की उपलब्ध रमैनियों में से सब से पुरानी कबीर साहब की ही कही जाती हैं और कबीरपंथी लोगों के अनुसार इन की संख्या बहुत अधिक है। इन के यहाँ यह कदाचित् विश्वास किया जाता है कि कबीर साहब ने—

सहस छानवे औ छव लाखा,
जुग परमान रमैनी भाखा।

अर्थात् युगधर्मानुसार छः लाख छयानवे हजार रमैनियों की रचना की थी। परंतु कबीर-संबंधी विषयों का ज्ञान रखने वाले अन्य विद्वानों के विचार मे यह संख्या काल्पनिक मात्र है और, जैसा कि उपरोक्त २८८वीं साखी अर्थात

जो मिलिया सो गुरु मिलिया,
सीष न मिलिया कोय।
छ लख छयानवे सहस रमैनी,
एक जीव पर होय॥

के भाव से लक्षित होता है, उपरोक्त बड़ी संख्या संभवतः बहुत अधिक के लिए दी गई है।

कबीर साहब की रमैनियाँ जिन जिन ग्रंथों में संगृहीत बतलाई जाती

---

[1] 'बीजक' (बेलवीडियर प्रेस), पृ० १११।

है उन में से, 'बीजक' को छोड़ कर 'अक्षर भेद की रमैनी', 'अक्षर खंड की रमैनी', 'चौका पर की रमैनी', 'करमकांड की रमैनी' और 'रमैनी' नामक ग्रंथों के नाम 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज'[१] में दिए गए हैं और 'मिश्रबंधुओं' ने अपने 'हिंदी नवरत्न' में 'बलक की रमैनी' नामक एक अन्य ग्रंथ की भी चर्चा की है[२]। परंतु इन उपरोक्त ग्रंथों में से 'बीजक' को छोड़ कर कदाचित् कोई दूसरा ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ है। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'कबीर ग्रंथावली' में जो रमैनियाँ संगृहीत हैं उन के विषय में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उन में से कोई ऊपर लिखित संग्रहों के अंतर्गत आ गई है अथवा नहीं। 'बीजक' में कुल मिला कर चौरासी रमैनियाँ हैं जो ग्रंथ के आरंभ में अथवा, एकाध संस्करणों के अनुसार, 'आदि मंगल' के अनंतर दी हुई हैं। इन रमैनियों का क्रम प्रायः सभी संस्करणों में एक ही प्रकार दिया हुआ है और जहाँ तक विदित है, केवल महाराज रीवाँ-नरेश द्वारा संपादित संस्करण अथवा, उसी के आदर्श पर प्रकाशित कुछ संस्करणों में ही रमैनी संख्या २ रमैनी संख्या १ के स्थान पर दी गई है और इसी प्रकार पहली दूसरी के स्थान पर है। रमैनियों के इस क्रम-भेद के विषय में यह कथा प्रसिद्ध है कि कबीर साहब के शिष्यों में से जग्गूदास और भग्गूदास नामक दो भाई थे। जब कबीर साहब के देहांत का समय निकट आया तो 'बीजक' ग्रंथ का संग्रह तय्यार कर के उन्हों ने इन दोनों की माता को सुरक्षित रखने के लिए दे दिया। परंतु कबीर साहब के देहावसान के अनंतर जब उक्त दोनों भाइयों में 'बीजक' के लिए झगड़ा खड़ा हुआ तो उन की माता ने आपस के वैमनस्य को दूर करने की इच्छा से इस की प्रथम दो रमैनियों के क्रम में फेरफार कर के इस के दो भिन्न भिन्न संस्करण बना दिए और दोनों पुत्रों को एक एक दे कर उन्हें संतुष्ट कर

---

[१] 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज', भाग १ (काशी नागरी-प्रचारिणी सभा) पृ० १८-१९।

[२] मिश्रबंधु, 'हिंदी नवरत्न' (दूसरा संस्करण), पृ० ४५१-२।

दिया। इन्हीं दोनों संस्करणों में से एक इस समय महाराज रीवाँ-नरेश का संस्करण कहा जाता है जिसकी पहली 'रमैनी' "जीव रूप एक अंतर बासा, अंतर ज्योति कीन परगासा" से आरंभ होती है और दूसरा पूरनदास का संस्करण कहलाता है जिसकी पहली रमैनी, "अंतर ज्योति सब्द एक नारी, हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी" से आरंभ होती है।

'बीजक' की इन रमैनियों में से सब का रूप एक सा नहीं है। रमैनी की बनावट एक या अधिक चौपाइयों के साथ साखी अथवा दोहा जोड़ कर और कहीं कहीं बहुत सी चौपाइयों के बीच यथास्थान कई साखियाँ अथवा दोहे डाल कर पूरी की जाती है, परंतु बीजक की कुल रमैनियों का ढाँचा ठीक इसी प्रकार का नहीं है। २८, ३२, ४२, ५६, ६२, ७०, ८० एवं ८१ संख्या की रमैनियों में साखी अथवा दोहे का अस्तित्व ही नहीं है, १५ वीं रमैनी में चौपाई की दो ही पंक्तियों के अनंतर साखी आई है और अन्य रमैनियों में ३ से १२ तक पंक्तियों के अनंतर साखियाँ दी गई हैं। इसी प्रकार 'बीजक' की साखियों अथवा दोहों की मात्रा तथा लय में भी बहुत कुछ अंतर है। 'बीजक' की इन कुल ८४ रमैनियों के अंतर्गत आई हुई चौपाइयों में ४६० तथा साखियों अथवा दोहों में १५२ अर्थात् कुल मिला कर ६१२ पंक्तियाँ हैं।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा 'नागरी-प्रचारिणी ग्रंथमाला' के अंतर्गत प्रकाशित 'कबीर ग्रंथावली' में रमैनियों के पहले 'राग सूहौ' नाम दे कर एक पद की रचना की गई है जिस की टेक के अनंतर २० पंक्तियाँ चौपाइयों के रूप में आती हैं और अंत में कदाचित् पहली रमैनी की संख्या सूचित करने के लिए १ का अंक दिया गया है। परंतु वास्तव में ये पंक्तियाँ रमैनी की परिभाषा के अंतर्गत नहीं आतीं। इस ग्रंथ में दी हुई रमैनियाँ केवल छः हैं, जिन्हें क्रमशः सतपैदी रमैणी, बड़ी अष्टपदी रमैणी, दुपदी रमैणी, अष्टपदी रमैणी, बारहपदी रमैणी तथा चौपदी रमैणी के नामों से सूचित किया गया है और ये नाम संभवतः 'बीजक' की रमैनियों के समान छोटी या बड़ी दो, चार, सात, आठ या बारह रमैनियों के संयोग के कारण ही इन्हें दिए गए हैं और इसी कारण इन में से प्रत्येक के भीतर उन की पूर्त्ति

करने वाले कई एक दोहे आ गए हैं। इन छोटे बड़े पदों अथवा अंशों के भी आकार प्रकार 'बीजक' की रमैनियों को ही भाँति एक से नहीं हैं, किंतु किसी किसी पद में यदि चौपाई की तीन पंक्तियों के ही अनंतर दोहा आ जाता है तो औरों मे २५, २६ अथवा ८२ तक पंक्तियों के अनंतर मिलता है। इसी प्रकार इन रमैनियों के भी दोहों की मात्रा तथा लय में बहुत कुछ भिन्नता है। उपरोक्त राग सूहौ की टेक को छोड़ कर 'कबीर-ग्रंथावली' मे रमैनियों के अंतर्गत आई हुई चौपाइयों की ४०३ तथा साखियों अथवा दोहों की ८२ अथवा कुल मिला कर ४८५ पंक्तियाँ हैं।

इन उपरोक्त रमैनियों के सिवाय "कबीर-ग्रंथावली" की पाद-टिप्पणी[1] मे 'ग्रंथ-बावनी' नाम से छः पदों अथवा अंशों की एक और रमैनी उद्धृत है जिस में विशेषता यह है कि इस का आरंभ दोहे से और अंत चौपाई से होता है तथा इस के पहले और छठे पदों के आदि मे एक एक की जगह दो दो दोहे दिए हुए हैं। यह छोटा 'ग्रंथ' उक्त ग्रंथावली के परिशिष्ट भाग में[2] पद १५२ करके एक बार और उद्धृत किया गया है, किंतु इन दोनों उद्धरणो में बहुत कुछ पाठभेद है और दोनों की पंक्तिसंख्या मे भी ८ का अंतर है। इस ग्रंथ की बहुत सी पंक्तियाँ 'बीजक' में संगृहीत 'ज्ञानचौंतीसा' की कई एक पंक्तियों से भी न्यूनाधिक समानता रखती हैं परंतु इन दोनों मे उदाहृत वर्णमाला के वर्णों में थोड़ी बहुत भिन्नता है। 'ग्रंथ-बावनी' की वर्णमाला इस प्रकार है:—

क, ख, ग, घ, न, च, छ, ज, झ, न, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, ज, र, ल, व, स, प, स, ह, ष

और 'ज्ञानचौंतीसा' की वर्णमाला नीचे लिखे अनुसार दी हुई है:—

क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, स, ष, स, ह, क्ष

---

[1] कबीर-ग्रंथावली (का० ना० प्र० सभा), पाद टिप्पणी, पृ० २२४-२२७।

[2] वही, परिशिष्ट, पृ० ३१०-३१२।

जिन के देखने से पता चलता है कि "ज्ञानचौंतीसा" की वर्णमाला प्राय: आजकल की प्रचलित वर्णमाला के ही अनुसार है, किंतु 'ग्रंथबावनी' की वर्णमाला में 'ङ' और 'ञ' के स्थान पर 'न' दिया हुआ है तथा 'य' और 'त्र' के स्थान पर क्रमशः 'ज' और 'ष' लिखे हैं। इस के साथ ही इन दोनों वर्णमालाओं की तुलना से यह भी विदित होता है कि जिस समय "ग्रंथ-बावनी" की रचना हुई थी उस समय तक संभवतः हमारी वर्णमाला का रूप पूर्णतः विकसित नहीं हुआ था जिस कारण यह ग्रंथ 'ज्ञानचौंतीसा' से पहले की रचना समझा जा सकता है और इन दोनों के रचनाकाल में बहुत कुछ अंतर भी है। स्वयं 'ग्रंथ-बावनी' के ही उपरोक्त दो पाठभेदों अर्थात् पादटिप्पणी की "ग्रंथ-बावनी" तथा परिशिष्ट की १८२ वीं पदरचना की वर्णमालाओं में भी यह अंतर विद्यमान है जिस से पता चलता है कि परिशिष्ट के पद के आधार ग्रंथ 'श्री ग्रंथसाहब' का संग्रह भी "ग्रंथ-बावनी" की रचना के उपरांत ही हुआ होगा और संग्रहकर्त्ता ने उस समय की वर्तमान वर्णमाला के अनुसार मूलग्रंथ में फेर फार कर दिया होगा। जो हो 'ग्रंथ-बावनी' की रमैनी में दोहों की १६ और चौपाइयों की ६८ अर्थात् कुल मिला कर ८४ पंक्तियाँ हैं।

[२]

'बीजक' की रमैनियों के कोई शीर्षक नहीं दिए हैं और न उन का आपस में विषयानुसार कोई क्रम ही जान पड़ता है। आरंभ में यदि सृष्टि विषयक चर्चा छिड़ती है तो थोड़ी ही दूर जा कर भ्रमजाल, मायाप्रपंच, ब्रह्मज्ञान, चेतावनी, अन्यमतसमीक्षा, आदि अनेक विषय एक के अनंतर दूसरे आने लगते हैं और बीच बीच में पहले आए हुए विषयों के दुबारा वर्णन भी होते रहते हैं जिस से रमैनियाँ किसी सुव्यवस्थित रूप में रक्खी गई नहीं जान पड़तीं। तौभी इन रमैनियों को ध्यानपूर्वक देखने से इन के मुख्य मुख्य विषयों में क्रमशः अन्यमतसमीक्षा, चेतावनी, मायाप्रपंच, सृष्टि-विकास, ब्रह्मज्ञान, आदि का पता बहुत शीघ्र लग जाता है। इस के विरुद्ध 'कबीर-ग्रंथावली' की रमैनियों का क्रम अधिक सुसंगत जान पड़ता है

और उन में अन्य मतों की खंडनात्मक आलोचना के स्थान पर मूलतत्व एवं ब्रह्मज्ञानादि का ही विवेचन विशेष रूप में दिखलाई देता है। सृष्टि-विकास, मायाप्रपंच, पाखंड, आदि विषयों का इन में अपेक्षाकृत कम समावेश है। 'बीजक' की रमैनियों में किया हुआ विषयों का प्रतिपादन भी, छोटी छोटी रमैनियों में अंशतः अथवा संक्षेप रूप में बे-तरतीब आने के कारण, भली भाँति स्पष्ट अथवा सुबोध नहीं हो पाया है, किंतु 'ग्रंथावली' की रमैनियाँ बड़ी बड़ी हैं तथा विषयों के वर्णनानुसार उन में थोड़ा बहुत क्रम अथवा सुसंगति का भी विचार किया गया जान पड़ता है, जिस से उन के समझने मे अधिक कठिनाई का अनुभव नहीं हो पाता। तौ भी उपरोक्त दोनों ग्रंथों के पाठों में बहुत कुछ साम्य भी है और दोनों का मिलान करने पर पता चलता है कि रमैनियों की प्रायः १२५ पंक्तियाँ केवल थोड़े थोड़े पाठांतरों के साथ दोनों संग्रहों में एक ही प्रकार की हैं और 'कबीर-ग्रंथावली' की 'अष्टपदी रमैणी' में दी हुई ६८ पंक्तियों में से ५० पंक्तियाँ बीजक में ज्यों की त्यों रक्खी हुई हैं। इस पाठसाम्य के साथ साथ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि समान पंक्तियों में अधिकतर वे ही आती हैं जिन के विषय खंडनात्मक आलोचनादि हैं अथवा जिन मे मायाप्रपंच, भ्रमजाल एवं अज्ञानादि का वर्णन है। 'ग्रंथबावनी' का विषय मिश्रित है और कोई विशेषता नहीं।

'कबीर-ग्रंथावली' की रमैनियों में से प्रत्येक में प्रायः सभी आवश्यक विषयों का गौण रूप से समावेश है, किंतु उन पर ध्यानपूर्वक विचार करने से पता चलता है कि जिन जिन विषयों का उन में प्रधान रूप से उल्लेख है उन का क्रम सुसंगत एवं सुव्यवस्थित है। रमैनियों के पहले जो राग सूहो का पद है उस की टेक में ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता तथा अज्ञेयता का वर्णन है और उस की प्रशंसा करने के अनंतर क्रमशः क़ाज़ी, मुल्ला, शेख़, जंगम, योगी, जैन, भक्त, पंडित एवं संन्यासी के कर्त्तव्यों का दिग्दर्शन कराया गया है, तथा पद के अंत में कबीर साहब ने उस अनिर्वचनीय तथा अग्राह्य 'पुरिस' परमात्मा मे अपने को लवलीन होना बतलाया है। इस के आगे 'सतपदी रमैणी' में कहा है कि जिस आदि पुरुष ने केवल कहने सुनने भर के ही लिए

वर्तमान जगत् की रचना की उसे, आश्चर्य की बात है कि, आजतक किसी ने नहीं पहचाना। वह परम तत्त्व स्वयं आनंद स्वरूप है और त्रिगुणात्मिका माया के आवरण में अपने आप को उस ने छिपा रक्खा है। वह 'हरि' एक 'तरवर' के समान है जिस की शाखाओं में गुण के पल्लव, ज्ञान के फूल एवं राम नाम के सुंदर फल लगे हुए हैं और जिस पर चेतन किंवा अचेतन दोनों प्रकार के पक्षी बसेरा ले रहे हैं। मिथ्या संसार के व्यर्थ विस्तार में पड़ कर 'खसमराम' को भूल जाना निरी मूर्खता है, अतएव सांसारिक जीवन को 'लहरि तरंग' के समान क्षणस्थायी समझते हुए अविनाशी 'राम नाम' को ही ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि,

> भौसागर अथाह जल ,
> तामें बोहिथ राम अधार।
> कहै कबीर हम हरिसरन ,
> तब गोपद खुर विस्तार ॥[1]

किंतु इस परमोपयोगी उपदेश को लोग बहुधा भूल जाया करते हैं क्योंकि उपरोक्त माया का बंधन ऐसा है जिस से, 'बड़ी अष्टपदी रमैणी' के अनुसार, वास्तविक तत्त्व की ओर ध्यान देने की अपेक्षा हम अच्छे बुरे, कुलीन अकुलीन, गुणी गुणहीन, एवं स्तुति निंदा तथा मानापमानादि के व्यर्थ ढकोसले में ही पड़ा रहना अधिक श्रेयस्कर समझने लगते हैं और शास्त्र वेदादि अनेक विद्याओं के पचड़े के प्रभाव में आ कर सदा तीर्थ व्रत पूजादि में अपना जीवन खोते रहते हैं और अंत में भ्रम जाल के कारण ऐसी स्थिति आ जाती है कि—

> भूलि परयो जीव अधिक डराई ,
> रजनी अंधकूप ह्वै जाई।
> माया मोह उनवैं भरपूरी ,
> दादुर दामिनी पवनां पूरी ॥

1 'कबीर-ग्रंथावली,' (का० ना० प्र० सभा) पृष्ठ २२८।'

तरियै बड्रियै अखंड धारा ,
रैनि भामिनी भया अँधियारा ।
तिहि बियोग तजि भये अनाथा ,
परे निकुंज न पावै पंथा ॥[१]

अर्थात् व्यर्थ के जंजाल में अपने को भटकता हुआ पा कर मनुष्य और भी अधिक भयभीत होने लगता है और अज्ञान का अंधकार घना होता जाता है। माया मोह के बादल चारों ओर से उमड़ आते हैं, क्षणिक यशोगान, सुख एवं उमंग के बीच काल का प्रवाह बना रहता है और ज्ञान के बिना अँधेरा दूर नहीं हो पाता। ऐसी दशा में मनुष्य अनाथ की भाँति निरवलंब हो जाने के कारण, प्रयत्न करने पर भी अपना मार्ग नहीं ढूँढ पाता। तो भी आंतरिक अहंकार के फेर में पड़ कर अल्पसुख के लालच में वह 'मेरु' पर्वत के समान दुःख भोगा करता है और उस का नाचना चौरासी लाख योनियों की परिक्रमा में भी कभी बंद नहीं होता। इसलिए कबीर साहब का उपदेश है कि मनुष्य का जन्म पा कर अपने कल्याण के निमित्त यह समझ लेना चाहिए कि—

अंमृत केवल राम पियारा ,
और सबै बिष के भंडारा ।
हरिख आहि जो रमियैं रामा ,
और सबै बिसमा के कामा ॥
सार आहि संगति निरबाना ,
और सबै असार करि जाना ।
अनहित आहि सकल संसारा ,
हित करि जानियैं राम पियारा ॥
साच सोई जे थिरह रहाई ,
उपजै बिनसै झूठ ह्वै जाई ।

---

[१] 'कबीर-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० २२९ ।

मीठा सो जो सहजैं पावा,
अति कलेश कैं करू कहावा ॥

तथा

आपण मैं जे रह्यौ समाई,
नेडे दूरि कथ्यौ नहीं जाई।
ताके चीन्हें परचौ पावा,
भई समाधि तासों मनलावा ॥[१]

इस प्रकार धारणा कर लेने पर परमात्मा के प्रति प्रीति का संचार होने लगता है और धीरे धीरे अज्ञान का नाश होने के कारण आत्मा को चिरस्थायी शांति मिलने लगती है। ऐसी स्थिति अथवा आनंदोत्पादक अवस्था का वर्णन करते हुए कबीर साहब अपनी 'दुपदी रमैणी' में कहते है कि जिस प्रकार आषाढ़ मास में सूर्य द्वारा संतप्त पृथ्वी पर पानी बरस जाने के कारण ताप दूर हो जाता है एवं ऋतु के स्वभावानुकूल अमृत की धारा प्रवाहित हो पड़ती है तथा सारी पृथ्वी हरी भरी हो जाती है उसी प्रकार संसार के त्रिविध तापों द्वारा दुःखित हृदय वाले मनुष्य की दशा भी परिवर्त्तित हो जाती है और उस की मनोवृत्ति उस विरहिणी स्त्री की भाँति होती है जिस का पति, बहुत काल के दुःखदायक वियोग के अनंतर आ कर, उस से मिल जाता हो। परमात्मा सर्वशक्तिमान् एवं सर्वनियंता है और उस अविगत की गति समझ में नहीं आती। परमात्मा के विधान द्वारा एक ही मनुष्य जब तक माया के विविध बंधनों में जकड़ा रहता है, अज्ञान के कारण अनेक दुखों से छुटकारा नहीं पाता; और वही,जब, ज्ञान का उदय हो जाने पर, वस्तुस्थिति से अभिज्ञ हो जाता है तो, उस के हृदय में अलौकिक भावों के उद्भव के कारण, उसे शीघ्र शांति और आनंद मिल जाते हैं। परमात्मा सर्वव्यापी भी

---

१ 'कबीर-ग्रंथावली' पृ० २३२।

है और वह सब के हृदयों में निवास करता है, किंतु सच्चे भाव के बिना उस का पता लगाना उसी प्रकार कठिन है जैसे काठ के भीतर वर्तमान आग को पा लेना, बिना प्रयत्न के कठिन हो जाता है।

किंतु इन रहस्यों के ज्ञान से विरले ही मनुष्य लाभ उठाते हैं। संसारी लोगों का तो यह स्वभाव है कि वे सीधे परमतत्त्व का परिचय पाना पसंद नहीं करते बल्कि प्रायः सदा सांप्रदायिक मतमतांतरों के बखेड़े में पड़ काल्पनिक बातें गढ़ते हुए उन से अपना मन बहलाया करते हैं। ऐसे ही मतों अथवा विचारों की समीक्षा कबीर साहब ने आगे की 'अष्टपदी रमैणी' में की है। उन का कहना है कि मुसल्मानों के अनुसार सृष्टि के आरंभ में आदम और हव्वा की उत्पत्ति हुई थी और हिंदू मुसल्मानों के बीच का मतभेद बिल्कुल गहरा और पुराना है, परंतु ये लोग यह नहीं सोचते कि आदम और हव्वा के भी पहले क्या रहा होगा और हिंदू मुसल्मानों के बीच में यदि वास्तव में कोई स्थायी मतभेद है तो वह उन के जन्मकाल से ही क्यों नहीं दीख पड़ता। इसी प्रकार पंडित लोग वेदादि को पढ़ कर संध्यावंदन आदि करते रहते हैं और नित्यकर्मों की इस परंपरा द्वारा अपने को पवित्र मानते हुए अभिमान के कारण फूले नहीं समाते किंतु इन लोगों को यह पता नहीं कि परमात्मा गर्व-प्रहारी है और वह इन बातों को कभी सहन नहीं कर सकता। क्षत्रिय कहलाने के कारण जीवहिंसा में निरत रहनेवाले लोगों की भी यही दशा है क्योंकि ये लोग अपने वास्तविक शत्रु अर्थात् पंचेंद्रियों को नहीं मारते बल्कि कामदेव के फेर में पड़ कर अनेक दुःख उठाया करते हैं। जैन, बौद्ध, शाक्त चार्वाकादि मतानुयायियों का भी यही हाल है। ये सभी लोग वास्तविक तत्त्व को छोड़ कर व्यर्थ इधर उधर भटकते फिरते हैं। इस कारण सांप्रदायिक बातों को ही सच्ची मान कर संसार में सुख की इच्छा करनेवाले लोगों को उपदेश देते हुए कबीर साहब कहते हैं—

जिनि यह चित्र बनाइया,
सो साचा सुतधार।

कहैं कबीर ते जन भले,

जे चित्रवत लेहिं विचार ॥[१]

अर्थात यह सारा संसार एक चित्र के समान है और इस का वास्तविक चित्रकार परमात्मा है। वही इस का सूत्रधार अथवा नियामक है और जिस प्रकार साधारण चित्र रंगरेखादि का परिणाममात्र होता है और उस की वास्तविकता कुछ भी नहीं चित्रकार की कल्पना है। उसी प्रकार चित्रकार परमात्मा हो सत्य है और चित्र संसार असत्य है।

कबीर साहब ने इस परमात्मा का वर्णन अपनी अगली 'बारहपदी रमैणी' में इस प्रकार किया है। वे कहते हैं कि परमात्मा की तुलना में कोई भी वस्तु नहीं आ सकती। उस में न तो कोई भूख है न प्यास है, न धूप है न छाया है, न सुख है न दुःख है। उस का न तो कोई रूपरेख है और न वह हल्का भारी कह कर तौला जा सकता है। उस का आदि अंत तक नहीं जाना जा सकता और न उस का दाहिना बायाँ, आगा पीछा अथवा नीचा ऊँचा बतलाया जा सकता है। उस ने किसी को उत्पन्न नहीं किया और न वह किसी दूसरे के द्वारा स्वयं उत्पन्न है। वह अविगत है अरचित है और निराधार है तथा लोक वेद इन सब से एक दम न्यारा है। वह न तो दूर है न निकट है और न गर्म है न ठंडा है। न गोरा है न साँवला है और न ब्याहा है न कांरा है। उस का कोई भी संबंधी नहीं और न वह उन में से है जिन्हें राम, कृष्ण, वामनादि अवतारों के नाम से पुकारते हैं। वास्तव में वह

अविगत अपरंपार ब्रह्म,

ग्यान रूप सब ठाम।

बहु विचार करि देखिया,

कोइ न सारिख राम ॥

अथवा,

---

[१] 'कबीर-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा) पृ० २४०।

वो है तैसा वो ही जानै,

ओ ही आहि आहि नहीं आनै ।[1]

इस के उपरांत अंत में उपरोक्त सारी रमैनियों का उपहार स्वरूप चौपदी रमैणी मे उपदेश देते हुए, मनुष्यमात्र के लिए, कहा है,—सारा मानव समाज एक है और आपस में कोई मतभेद नहीं। जो भेद अथवा भिन्नता एक दूसरे के बीच दिखाई पड़ती है वह केवल अविद्याजनित है और बिना कृपालु गुरुद्वारा ज्ञान प्राप्त किए, वह किसी प्रकार दूर नहीं की जा सकती। संप्रदायों के नियमानुसार चलने वाले जो लोग विविध प्रकार के आचारादि का पालन कर के भ्रमवश मानवसमाज में दंभ एवं पाखंड का प्रचार करते हैं अथवा जो लोग शास्त्रोक्त विधियों के साथ प्रस्तरादि की मूर्तियों की पूजा मात्र कर लेना ही अपना कर्त्तव्य समझ बैठते हैं वे दोनों ही ठीक रास्ते पर नहीं हैं क्योंकि संसार के आवागमन से मुक्ति पाने के लिए ऊपरी बातों की जगह सच्चे हृदय की आवश्यकता है और सच्चा हृदय भगवान की भावमयी भक्तिद्वारा ही प्राप्त हो सकता है। हरिभक्ति से हृदय पर अटल विश्वास का अधिकार हो जाता है जिस से संशय निर्मूल हो जाते हैं और एकमात्र परम तत्त्व की प्राप्ति होती है। इस लिए अंत मे कहा है कि—

जब लग भाव भगति नहिं करिहौ,

तब लग भव सागर क्यूं तिरिहौ।

भाव भगति बिसवास बिन,

कटै न संसै सूल।

कहै कबीर हरि भगति बिन,

मूकति नहीं रे मूल[2]॥

और वास्तव मे यही रमैनियों के सारे उपदेशों का निचोड़ है।

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली', पृष्ठ २४१।

[2] वही, पृष्ठ २४५।

[३]

'ग्रंथावली' की रमैनियों में किए गए उपरोक्त विषय-प्रतिपादन से यह स्पष्ट है कि इन की रचना अथवा इन का वर्तमान संपादन किसी विशेष उद्देश्य को ले कर किया गया था और अपने पद्यों की अपेक्षाकृत सुसंगति एवं विषयानुसार अनुक्रमण के कारण यह प्रकरण स्वयं पूर्ण और स्वतंत्र कहा जा सकता है। परंतु 'बीजक' वाले रमैनी प्रकरण के विषय में हम ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि पहले तो इस की रमैनियों में कोई स्पष्ट संगति नहीं दूसरे उन के विषयों के मुख्यतः खंडनात्मक होने के कारण उस प्रकरण की रचना का कोई निश्चित ध्येय नहीं लक्षित होता। 'ग्रंथावली' की रमैनियों का रचयिता एक परमभक्त कवि है जिसे अपने इष्टदेव राम नामधारी परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता, सर्वनियंतृत्व, सर्वव्यापकत्व एवं नित्यानंदपरत्व पर अटल श्रद्धा है, जो अपने इष्टदेव के साथ अपनी आत्मीयता का अनुभव करता है और जो उसे दयासागर अथवा एकमात्र आश्रय समझ कर उस के अहर्निश चिंतन तथा नामस्मरण को ही मुक्ति का परमसाधन मानता है। इस कवि के अनुसार भावमयी भक्ति ही अपने अथवा जगत् के कल्याण का अद्वितीय राजमार्ग है और भिन्न भिन्न मतानुसार प्रतिपादित साधन नितांत कृत्रिम और भ्रममूलक हैं। वास्तव मे जब सारे पदार्थ मूलतः एक हैं और एक ही वस्तु के सब कही व्याप्त रहने के कारण सब की एकता स्वयंसिद्ध हो जाती है, ऐसी स्थिति में, वास्तविक तत्त्व की ओर समुचित ध्यान न दे कर, अज्ञानवश, दृश्यमान भेदों के आधार पर, विविध मतमतांतरों की कल्पना करना निरी मूर्खता के सिवाय और क्या कहा जा सकता है। 'बीजक' की रमैनियों के रचयिता को वर्तमान संसार में दीख पड़ने वाले अनेक मतभेद हार्दिक दुःख पहुँचाते हैं क्योंकि उन के भिन्न भिन्न अनुयायियों के काल्पनिक विधि-विधान, पारस्परिक ईर्षा द्वेष, भिन्न-भिन्न आचार व्यवहार एवं भ्रमात्मक विचारों के कारण दंभ, कलह, पाखंड तथा अत्याचार की सृष्टि हुआ करती है और एकता के स्थान पर पृथकत्व का भाव नित्यशः बढ़ता जाता है। कवि ने इसी कारण उस समय के प्रसिद्ध मुस्लिम, जैन, बौद्ध, शाक्त, शैव, चार्वाकादि पंथों एवं हिंदूमत के अंतर्गत आने वाले अवतार-

वाद, वर्णाश्रम-वाद, मूर्ति-पूजा, वादिमत, स्मार्त्तधर्मादि मतों की समीक्षा की है और संसार को अनित्यता की ओर संकेत करते हुए बतलाया है कि इस क्षणभंगुर जीवन में इन टेढ़े-मेढ़े मार्गों का अवलंबन करना कितना व्यर्थ और दुःखदायक है। संक्षेप में यह कह सकते है कि 'ग्रंथावली' की रमैनियों मे यदि भक्तिमार्ग का उपदेश है तो 'बीजक' की रमैनियों में सांप्रदायिक विवाद है।

परंतु इन उपरोक्त ग्रंथों में संगृहीत रमैनियों के रचयिता पर हिंदू धर्म का प्रभाव फिर भी स्पष्ट है। सृष्टि-रचना विषयक वर्णन करते समय त्रिदेव, विधाता, चौदह भुवन, तीन लोक, 'सात दीप नवखंड', पंचतत्व, आदि के प्रसंग एक अथवा अनेक स्थलों पर भिन्न भिन्न प्रकार से आए है तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनों देवों का अधिकार-विभाग, पार्वती की तपस्या, सनकादिक चारों भाइयों की ज्ञान-प्राप्ति वर्णविभाग की उत्पत्ति और यमराज के दंड-विधान विषयक चर्चा भी की गई है। माया की मोहकता, कर्म नियमों की जटिलता, संसार की अनित्यता, जीवन की क्षणभंगुरता और काल की निष्ठुरता में कवि को पूर्ण विश्वास है और झूठे सांसारिक ऐश्वर्य पर मिथ्याभिमान करने वालों की अंतिम दुर्दशा को उदाहृत करने के लिए उस ने पुराणादि में वर्णित हिरण्याक्ष, जरासंध, शिशुपाल, सहस्रार्जुन, रावण तथा छः प्रसिद्ध चक्रवर्ती राजा अर्थात् वेणु, बलि, कंस, दुर्योधन, पृथु और त्रिविक्रम की कथाओं का उल्लेख किया है। इसी प्रकार हिंदू दार्शनिक सिद्धांतों में योगशास्त्र एवं वेदांत संबंधी विषयों के प्रसंग कई बार आए हैं और उपनिषदों के संदेश का उल्लेख करते हुए जनक और याज्ञवल्क्य का संवाद, राम और वसिष्ठ के प्रश्नोत्तर तथा कृष्ण और ऊधव की बातचीत एवं दत्तात्रेय के अनुभव की ओर भी संकेत किया गया है। हिंदू-मंतव्यों में अवतारवाद, मूर्तिपूजा, वर्णव्यवस्था, हठयोग, वादिमत, कर्मकांड अथवा शैवादि संप्रदायों के बाह्यविधान आदि की निंदा भी की गई है। हिंदुओं के तीर्थ व्रत, मुसलमानों के रोजा नमाज तथा जैनियों की पूजा की प्रायः एक ही प्रकार से हँसी उड़ाई गई है और हिंदुओं तथा विशेष कर मुसलमानों के हिंसापरक कृत्यों पर

घृणा प्रकट करते हुए अहिंसा के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है और गो-वध के विरुद्ध भी उपदेश है।

'बीजक' ग्रंथ की ४८ वीं रमैनी में कबीर साहब के मानिकपुर नगर में ठहरने के विषय में उल्लेख है। उस में यह भी कहा है कि "मानिकपुर में मैं ने शेख़ तक़ी की प्रशंसा सुनी और जौनपुर तथा झूँसी के भी कई पीरों के नाम मेरे सुनने में आए। झूँसी में तो इक्कीस पीरों के नाम लिखे हुए थे जहाँ पर पैग़ंबर मुहम्मद साहब का ख़ुतबा पढ़ा जाता था। वहाँ के मुसलमानों की बातें सुन कर मुझ से रहा नहीं गया क्योंकि ये लोग भ्रम के वश में पड़ कर मक़बरों की व्यर्थ प्रतिष्ठा करने में भूले हुए थे" इत्यादि। इस के अनंतर उन्हों ने, नबियों एवं हबीबों के कार्यों को तथा साधारण मुस्लिम धर्मविहित साधनों को हराम बतलाते हुए शेख़ अकर्दी तथा शेख़ सकर्दी नामक किन्हीं दो समाधि-रक्षकों को उपदेश भी दिए हैं। शेख़ तक़ी का नाम एक बार 'बीजक' की ६३वीं रमैनी में भी आया है जहाँ पर—

नाना नाच नचाय कै, नाचै नट के भेख।
घट घट अविनासी अहै, सुनहु तकी तुम सेख॥[1]

के अभिप्राय से यह भी प्रतीत होता है कि कबीर साहब ने शेख़ तक़ी को भी उपदेश दिए थे। परंतु इन बातों की ऐतिहासिकता के विषय में अभी तक कोई निश्चय नहीं हो पाया है। रेवरेंड वेस्टकाट साहब शेख़ तक़ी नामक दो व्यक्तियों का पता देते हैं।[2] उन के अनुसार एक शेख़ तक़ी फ़तेहपुर जिले के कंड़ा मानिकपुर नामक स्थान के रहने वाले धुनिया थे। ये सूफ़ी धर्म के अंतर्गत चिश्ती संप्रदाय के अनुयायी थे और इन की मृत्यु सन् १५४५ ई० में हुई थी। दूसरे शेख़ तक़ी सूफ़ी धर्म के ही सुहरवर्दी संप्रदाय के अनुयायी थे और उन की मृत्यु सन् १४२९ ई० मे हुई। मानिकपुरी शेख़

---

[1] बीजक (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग) पृ० २४।

[2] डाक्टर एफ़० ई० के : कबीर ऐंड हिज फ़ालोवर्स (रेलिजस लाइफ़ अव् इंडिया सीरीज़) पृ० ३७।

तक़ी के वंशज, रेवरेंड साहब के अनुसार अभी तक फतेहपुर जिले में पाये जाते हैं और झूँसी वाले शेख़ तक़ी का मकबरा झूँसी में अभी तक वर्तमान है जहाँ पर लोग तीर्थ करने जाया करते हैं। परन्तु केवल इतनी ही बातों के आधार पर यह बतलाना कठिन है कि कबीर साहब ने अमुक शेख़ तक़ी को ही लक्षित कर के अपने उपरोक्त उद्गार प्रकट किए हैं। संभव है कि कबीर साहब ने कड़ा मानिकपुर वाले शेख़ से बातचीत की हो और झूँसी वाले शेख़ के केवल मक़बरे पर ही गए हों। रमैनियों के अंतर्गत इसी प्रकार कुछ अन्य ऐतिहासिक व्यक्तियों के भी नाम आते हैं। 'बीजक' की ५५वी रमैनी में राजा भोज का नाम आया है और कहा गया है कि,

गये भोज जिन साजल धारा।[१]

जिस से पता चलता है कि यह प्रसंग प्रसिद्ध परमारवंशी धारापति राजा भोज को ही उद्देश्य कर के लिखा गया है जिन का समय सन् १०१० ई० से सन् १०५५ ई० तक कहा जाता है। 'बीजक' की ५४वीं रमैनी में मुछन्दर-नाथ तथा गोरखनाथ के 'काल की फांस' में पड़ने के विषय में उल्लेख है और इन दोनों योगियों का समय राजा भोज के समय से कदाचित् कुछ ही अनंतर का समझना चाहिए। गोरखनाथ का प्रभाव भी कबीर साहब के विचारों पर कई स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है।

रमैनियों के उपरोक्त दोनों संग्रहों अर्थात् 'बीजक' तथा 'ग्रंथावली' में किस का संपादन पहले और किस का पीछे हुआ यह बतलाना कठिन है। रीवाँनरेश महाराजा विश्वनाथ सिंह ने अपने संपादित बीजक की टिप्पणी में एक स्थान पर कहा है कि "पोथी पन्द्रह से यकइस के साल की धर्मदास के हाथ की लिखी है"[२] जिस से, यदि 'पोथी' शब्द से तात्पर्य 'बीजक' ग्रंथ का समझा जाय तो उस की मूल हस्तलिखित प्रति का संपादनकाल

---

[१] बीजक (बे० प्रे० प्रयाग) पृ० २२।

[२] श्री महाराजा विश्वनाथ सिंह, 'बीजक कबीर दास सटीक' (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ) पृ० २६।

संवत् १५२१ अर्थात् सन् १४६४ ई० मानना पड़ेगा और उस में आए हुए रमैनी आदि के पद्यों को कदाचित् उस से भी पुराना बतलाने में किसी प्रकार की अड़चन न होगी। इसी कारण बहुत से लेखकों ने बीजक के प्रथम संग्रह का समय संवत् १५२१ ही माना है। परंतु उपरोक्त अवतरण के अनंतर पुस्तक "औ येही पोथी से कबीर जी राजाराम ने आगम कहि दियो है। तुम से दशौ वंश जो ह्वै हैं। सोतो शब्द हमारो गहि हैं।" इत्यादि के देखने से इस धारणा के प्रति संदेह प्रकट होता है। क्योंकि 'बीजक' ग्रंथ में कहीं इन उद्धृत पद्यों का पता नहीं है और इन पंक्तियों के कुछ ही ऊपर 'बयालिस वंश विस्तार' नामक किसी ग्रंथ का प्रसंग भी आया है। उधर रेवरेंड वेस्टकाट साहब का कहना है कि "बीजक संभवतः १५७० ई० में या सिक्खों के पाँचवे 'गुरु अर्जुन' द्वारा नानक की शिक्षा 'आदि ग्रंथ' में लिखे जाने के बीस बरस पहले, लिखा गया था"[1] जिस से बीजक की रमैनियों का संग्रह अथवा संपादन-काल १०६ वर्ष इधर हट आता है। 'कबीर-ग्रंथावली' की मूल हस्तलिखित प्रति संवत् १५६१ अर्थात् सन् १५०४ की लिखी बतलाई जाती है जो उपरोक्त दोनों समयों के प्रायः मध्य में पड़ता है। ऐसी दशा में 'बीजक' का संग्रह काल यदि सन् १४६४ ई० मान लिया जाय तो 'ग्रंथावली' की उक्त प्रति का लेखन-काल उस के उपरांत का ठहरेगा और इस की रमैनियों के प्रकरण का बीजक की रमैनियों को देख कर निर्मित किया जाना संभव हो सकता है, परंतु यदि 'बीजक' का संग्रह-काल सन् १५७० ई० माना जाय तो उस की रमैनियाँ 'ग्रंथावली' की रमैनियों को देख कर संगृहीत की गई समझी जा सकती हैं और इन दोनों ग्रंथों की कतिपय रमैनियों के समान होने का कदाचित् यही कारण हो सकता है। इधर इन दोनों ग्रंथों की रमैनियो की भाषा का मिलान करने पर पता चलता है कि 'बीजक' में संगृहीत रमैनियों की भाषा से 'ग्रंथावली' की रमैनियों की भाषा अधिक पुरानी है और

---

[1] रेवरेंड वेस्टकाट: कबीर एंड दी कबीर पंथ (चर्च मिशन प्रेस, कानपुर) पृ० ७३।

इन दोनों में आए हुए विषयों की दृष्टि से भी यही जान पड़ता है कि, अधिकतर सांप्रदायिक विवादों के लिए संगृहीत बीजक की रमैनियों की अपेक्षा केवल मुख्य मुख्य विषयों के क्रमानुसार प्रतिपादन के कारण 'ग्रंथावली' की रमैनियाँ कदाचित् कुछ अधिक प्राचीन हो सकती हैं। जो हो, वर्तमान खोजों के आधार पर कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। 'बीजक' तथा 'ग्रंथावली' की एक से अधिक पुरानी हस्तलिखित प्रतियों का जब तक भली भाँति मिलान न हो तब तक ऊपर की सारी बातें अनुमान से अधिक प्रामाणिक नहीं हैं।

[४]

'बीजक' और 'ग्रंथावली' की रमैनियों की, साहित्यिक दृष्टि से, आपस में तुलना करने पर पता चलेगा कि 'ग्रंथावली' की रमैनियाँ 'बीजक' की रमैनियों से अधिक सुंदर हैं। उपयुक्त शब्दों का चुनाव, वर्णनात्मक शैली का व्यवहार एवं गंभीर भावों का सरल स्पष्टीकरण तो है ही, रचयिता के हृदय की निर्मलता और उस के उद्देश्य की शुद्धता के कारण इन में एक ऐसी मिठास का अनुभव होता है जो वास्तव में अपूर्व है। कबीर साहब की बातें स्वभावतः सामने आ जाती हैं और उन्हें व्यक्त करते समय कदाचित् कुछ भी प्रयास किया गया नहीं जान पड़ता। तो भी, एक सच्चे हृदय के गंभीर अनुभवों का परिणाम होने के कारण उन के उपदेशों में इतना खरापन तथा इतनी मार्मिकता भरी रहती है कि उन की चोटों का प्रभाव कभी व्यर्थ नहीं जा पाता और उन के पद्यों के छंदोभंग आदि पिंगल विषयक दोषों द्वारा उत्पन्न अव्यवस्थिति भी कानों को मधुर लगने लगती है। 'ग्रंथावली' की रमैनियों मे इन बातों के कई उदाहरण मिल सकते हैं। इस की प्रायः प्रत्येक 'रमैणी' में कोई न कोई गुण वर्तमान है और इन मे भी बड़ी 'अष्टपदी रमैणी' तथा 'दुपदी रमैणी' विशेष रूप से सुंदर कही जा सकती हैं। 'ग्रंथावली' की उत्कृष्ट पंक्तियों के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं।

भ्रम एवं अज्ञान के कारण भवसागर के फेर में पड़ा हुआ तीनों तापों से संतप्त मनुष्य व्याकुल हो कर चिरव्यापिणी शांति की चाह में अधीर

है और वह किसी प्रकार किनारे लगना चाहता है। ऐसी ही स्थिति में उसे सद्गुरु का सहारा मिल जाता है। फिर तो विषैली ज्वाला दूर होने लगती है, प्रेम और आनंद का संचार आरंभ होता है और सारी परिस्थितियाँ बदल सी जाती हैं। ऋतु परिवर्तन के दृश्य दिखलाई पड़ने लगते हैं और इष्टदेव के दर्शनों की अभिलाषा पूर्ण हो जाती है। प्रियतम-संयोग के कारण हृदय में उमंग आ जाने पर सब कहीं सुख व शांति का साम्राज्य दीख पड़ता है और जीवात्मा परमात्मा का मानो विश्रब्धालाप आरंभ होता है। कबीर साहब के ही शब्दों में—

भया दयाल विषहर जरि जागा।
गह गहान प्रेम बहु लागा॥
भया अनंद जीव भये उल्हासा।
मिले राम मनि पूजी आसा॥
मास असाढ़ रवि धरनि जरावै।
जरत जरत जल आइ बुझावै॥
रुति सुभाइ जिमी सब जागी।
अमृत धार होइ झर लागी॥
जिमीं माँहि उठी हरियाई।
विरहनि पीव मिले जन जाई॥
मनिका मनिकै भये उछाहा।
कारनि कौन बिसारी नाहा॥
खेल तुम्हारा मरन भया मोरा।
चौरासी लख कीन्हा फेरा॥[1]

इसी प्रकार इस संयोग अनुभव के विपरीत वियोग की दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार नलिनी का प्राणाधार जल है और उस के अलग होते ही उसे सूर्य की किरणें शीघ्र झुलसा देती हैं उसी प्रकार

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली' (नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी) पृ० २२३-२२४।

राम अथवा परमात्मा के वियोग में जीवात्मा को मनरूपी सूर्य कष्ट पहुँचाता है। जीवात्मा की यह विरहावस्था इस प्रकार कष्टदायक हो जाती है कि वह अच्छी परिस्थिति में रहते हुए भी सुख का अनुभव नहीं कर पाता। माघ महीने के तुषार का समय जब बीत जाता है और बसंत ऋतु के आगमन के कारण सारे उद्यान हरे भरे हो जाते हैं और अपने अपने रंग में सभी लवलीन दिखाई पड़ते हैं अर्थात् जिस समय भ्रमर मत्त हो कर फूलों का रस लेते फिरते है, कोकिल की कूक सारे बन प्रदेश में गूँज उठती है और जब कि सब के मनों के ऊपर वसंत का पूर्ण प्रभाव लक्षित होता है, अपने प्रियतम के विरह में तड़पने वाली विरहिणी जीवात्मा के लिए रातें युगों के समान बिताती है और जब तक संयोग नहीं होता समय कल्प के समान कटता है। जैसे—

नलनी के ज्यूँ नीर अधारा।
खिन बिछुरयाँ लैं रवि प्रजारा॥
राँम बिनाँ जीव बहुत दुख पावै।
मन पतंग जगि अधिक जरावै॥
माघ मास रुति कवलि तुसारा।
भयौ बसंत तब बाग संहारा॥
अपनै रंगि सब कोइ राता।
मधुकर बास लेइ मैमंता॥
बन कोकिला नाद गहगहाँनाँ।
रुति बसंत सबकै मनि माँनाँ॥
विरहन्य रजनी जुग प्रति भइया।
बिन पीव मिले कलप टलिगइया॥[1]

इस के सिवाय भ्रम तथा अज्ञान के कारण कल्याण मार्ग से पथ-भ्रष्ट हुए मनुष्य की दुर्दशा वर्णन करते हुए निम्नांकित पद्य में कहते हैं कि जब झूठी

[1] 'कबीर-ग्रंथावली', पृष्ठ २३४।

एवं कपोलकल्पित बातों को सच समझता हुआ मनुष्य उन की आड़ में अनेक प्रकार के विधान रचने लगता है अर्थात् जब कि चार वेद, छः शास्त्र, अनेक विद्या में तप, तीर्थ, व्रत, पूजा, धर्म, नियम, दान, पुण्य आदि के फेर में भेष बदले घूमने लगता है, उस समय उस का वास्तविक अपनापन एक दम खो जाता है और ज्ञान-हीन हो कर भटकते फिरने के कारण उसे भय मालूम होने लगता है। अज्ञान की रात मे घोर अंधकार छा जाता है माया मोह के बादल उमड़ आते हैं, व्यर्थ वाद-विवाद रूपी मेढकों के शब्द तथा सांप्रदायिक आदर्श रूपी बिजली की कड़क वायुमंडल में गूँज उठती है और निरंतर वृष्टि होती रहने के कारण रात भयावनी लगने लगती है। ऐसे अंधकार पूर्ण समय में परमात्मा का वियोग उसे अनाथ बना देता है और वह निरवलंब व निराश्रय जीवनयात्री अपना मार्ग निश्चित करने मे असमर्थ रहता है। कबीर साहब के ही शब्दों में—

गहन ब्यंद कछू नहिं सूझै,
आपन गोप भयौ आगम बूझै॥
भूलि परयौ जीव अधिक डराई,
रजनी अंध कूप ह्वै आई॥
माया मोह उनवैं भर पूरी,
दादुर दामिनी पवनां पूरी॥
बरिषै बरिषै अखंड धारा,
रैंनि भामनीं भया अँधियारा॥
तिहि बिवोग तजि भये अनाथा,
परे॰ निकुंजन पावै पंथा॥[1]

ये उपरोक्त तीनों अवतरण प्राकृतिक दृश्य अथवा मानव जाति के मनोविकारों के वर्णन के अच्छे उदाहरण कहे जा सकते हैं। कबीर साहब की

---

१ 'कबीर-ग्रंथावली', (का० ना० प्र० सभा), पृ० २२९ ।

रमैनियों में ऐसे ऐसे उदाहरणों के सिवाय कतिपय अलंकारों के भी नमूने मिलते हैं जैसे,

जगि जीवन जैसे लहरि तरंगा,
छिन सुख कूँ भूलसि बहु संगा ॥[१]

में सांसारिक जीवन की उपमा, उस की क्षणभंगुरता, के कारण, जल की लहरों के तरंग मात्र से दी है, जो बहुत उपयुक्त जान पड़ती है। अथवा, जैसे,

नींव कीट रस नींव पियारा,
यूँ विष कूँ अंमृत करै संसारा ॥[२]

में विषरूपी विषय को अमृत समान सुखदायी समझ कर उस में लीन रहने वाले सांसारिक लोगों की उपमा नीम के कडुए रस के साथ प्रेम करने वाले नीम के कीड़ों से दी है जो, इन दोनों की प्रायः एक ही समान मानसिक प्रवृत्ति का विचार करते हुए बहुत ही ठीक जँचती है। इसी प्रकार रूपक अलंकार के उदाहरणों में से नीचे लिखे पद्य दिये जा सकते हैं। जैसे,

तै तौ आहि अनंद सरूपा,
गुन पल्लव विस्तार अनूपा ॥
साखा तत थैं कुसुम गियाना,
फल सो आछा राम का नामा ॥
सदा अचेत चेत जीव पंखी,
हरि तरिवर करि बास।
झूठे जगि जिनि भूलसि जियरे,
कहन सुनन की आस ॥[३]

मे हरि अर्थात् परमात्मा को 'तरवर' अर्थात् वृहत् वृक्ष माना है और कहते हैं कि यह वृक्ष आनंद स्वरूप है, इस के गुणरूपी पल्लवों का विस्तार

---

[१] 'कबीर-ग्रंथावली', पृ० २२८।

[२] वही, पृ० २३१।

[३] वही, पृ० २२५-२२६।

अनुपम है, इस की तत्त्व-रूपी शाखाओं में ज्ञान-रूपी फूल तथा राम नाम रूपी सुंदर फल लगे हुए हैं और इस वृक्ष पर चेतन एवं अचेतन दोनों प्रकार के पक्षी सदा निवास किया करते हैं। इन पंक्तियों के अनंतर ही 'ग्रंथावली' में संसार को विषम माया द्वारा उत्पन्न किया हुआ नीरस वृक्ष मान कर उस के भिन्न भिन्न अंगों का वर्णन किया गया है। जैसे,

सूक बिरख यहु जगत उपाया,
समझि न परै विखम तेरी माया ॥
साखा तीनि पत्र जुग चारी,
फल दोइ पाप पुंनि अधिकारी ॥
स्वाद अनेक कथ्या नहिं जाहीं,
किया चरित सो इन में नाहीं ॥[1]

ये दोनों अवतरण सांगरूपक के अच्छे उदाहरणों में गिने जा सकते हैं। इन के सिवाय,

काल अहेडी संझ सकारा,
सावज ससा सकल संसारा ॥[2]

में काल को शिकारी तथा संसार को शिकार के पशु खरगोश का रूपक दे कर काल का संसार को नष्ट करने के लिए उद्यत हो कर पीछा करते रहना दिखलाया है। तथा

जहुँवा प्रगटि बजावहु जैसा,
जस अनभै कथिया तिनि तैसा ॥[3]

में मनुष्य को वाद्ययंत्र मान कर उस का बजाने वाला परमात्मा को माना है और कहा है कि जिस प्रकार वाद्ययंत्र से बजाने वाला जैसा चाहे वैसा सुर निकाल सकता है उसी प्रकार मनुष्य से भी परमात्मा जैसा चाहे वैसा

---

[1] 'कबीर-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० २२६।

[2] वही पृ० २३१।

[3] वही, पृ० २३०।

अनुभव करा कर तदनुसार उस की व्यक्ति करा लेता है और ये दोनों रूपक क्रमशः संसार की क्षणभंगुरता तथा मनुष्य की विवशता को स्पष्ट करने के लिए बहुत उपयुक्त जान पड़ते हैं।

'ग्रंथावली' की रमैनियों में इसी भाँति यमक, अनुप्रास, समासोक्ति, अर्थांतरन्यास आदि के भी दो एक उदाहरण मिल सकते हैं। यहाँ पर दृष्टांत अलंकार का हम एक उदाहरण दे देते हैं जो बहुत ही अच्छा है। जैसे,

दूर बो गहीं काइ तुम नाहा,
तुम्ह बिछुरे मैं बहु दुख चाहा॥
मेघ न बरिखै जाहिं उदासा,
तऊ न सारंग सागर आसा॥
जलहर भरयौ ताहि नहिं भावै,
कै मरि जाइ कै उहै पियावै॥[१]

अर्थात् प्रियतम के वियोग में बहुत सा दुःख अपना चुकने के अनंतर अपने अटूट नेह पर विश्वास दिलाते हुए उस से विनय करता हुआ कवि कहता है कि, "देखो, स्वाती नक्षत्र के मेघ यदि नहीं बरसते तो चातक उदास हो कर चला जाता है, किंतु तौ भी समुद्र की आशा नहीं करता और न भरा हुआ जलाशय देख कर भी उस के पास तक जाता है। मानो वह मर ही जाता है अथवा जीता है तो उसी मेघ का दिया जल पीता है। इसी प्रकार मेरी भी दशा होगी ऐसा विश्वास कर तुम मेरे ऊपर दया क्यों नहीं करते।" यहाँ पर उपमेय प्रेमी कवि की एकांत निष्ठा को, वैसे ही प्रेमी चातक के उपमान द्वारा उस के कतिपय व्यवहारों का उल्लेख करते हुए, स्पष्ट करने के कारण पद्य में दृष्टांतालंकार का समावेश बड़े अच्छे ढंग से हो जाता है।

'ग्रंथबावनी' में अलंकारों के बहुत उदाहरण नहीं मिलते और जो कुछ मिलते हैं वे शब्दालंकारों के ही अंतर्गत आ सकते हैं परंतु 'बीजक' की रमैनियों में उन से अधिक अलंकार हैं उन में से हम यहाँ पर क्रमशः रूपक

---

[१] 'कबीर-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० स०), पृ० २३४।

और समासोक्ति अलंकारों का एक एक उदाहरण दे कर इस प्रकरण को समाप्त करते हैं। जैसे—

अस जुलहा का मरम न जाना,
जिन्ह जग आनि पसारिन्हि ताना॥
महि अकास दोउ गाड़ खँदाया,
चाँद सुरज दोउ नरी बनाया॥
सहस तार ले पूरनि पूरी,
अजहूँ बिनब कठिन है दूरी॥
कहहिँ कबीर करम से जोरी,
सूत कुसूत बिने भल कोरी॥[1]

में जीवात्मा को जुलाहे का रूपक दे कर उस के कल्पना प्रसूत विविध भ्रमजाल को जुलाहे के ताने बाने आदि द्वारा स्पष्ट किया है। कहते हैं कि इस संसार में आ कर विचित्र ताना फैलाने वाले इस जुलाहे का भेद जान लेना कठिन है क्योंकि पृथिवी और आकाश अर्थात् शरीर के अंतर्गत अधोभाग और ऊर्ध्व-भाग के बीच तो उस ने गढ़ा खोद रक्खा है जिस में चंद्रमा और सूर्य अर्थात् ईड़ा और पिंगला नामक नाड़ियों के दो नरे लगे हुए हैं और सहस तार अर्थात् प्रणव के सहस्र कुंभक द्वारा ताना तैयार किया जाता है। आश्चर्य तो यह है कि निरंतर लगे रहने पर भी बिनाई का पूर्ण होना कठिन है। ताना का तागा टूटते ही अभ्यास रूपी कर्मों द्वारा उसे वह फिर जोड़ लिया करता है और सूत कुसूत अर्थात् शुभाशुभ कर्मों की बिनाई का काम भली भाँति सदा चलता रहता है। इसी प्रकार नीचे लिखी रमैनी में थोड़े से ही किंतु उपयुक्त शब्दों द्वारा विकट संकट में पड़ी हुई एक निःसहाय अबला को प्रस्तुत वस्तु मान कर उस की दुर्दशा का वर्णन करते हुए अप्रस्तुत वस्तु जीवात्मा की कठिनाइयों का दिग्दर्शन कराया गया है, जिस कारण इस में समासोक्ति अलंकार का एक उत्कृष्ट उदाहरण मिल जाता है। जैसे,

---

[1] बीजक (बेलवीडियर प्रेस, प्रयाग), पृ० १३-१४।

उनइ बदरिया परिगौ संझा,
अगुआ भूले बनखंड मंझा ॥
पिय अंते धनि अंते रहई,
चौपरि कामरि माथे गहई ॥
फुलवा भार न ले सकै,
कहै सखिन सों रोय ॥
जौं जौं भीजै कामरी,
तौं तौं भारी होय ॥[1]

अर्थात् अविद्या की घटा घिर आई, जीवन का संध्या-काल भी आ पहुँचा और पथप्रदर्शक स्वयं भ्रमजाल के जंगलों में भटकते फिर रहे हैं फलत: प्रेमिका और उस के प्रियतम अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा का वियोग होना अवश्यंभावी है और ये दोनों वियुक्त हो कर जहाँ के तहाँ पड़े दीख पड़ते हैं तथा प्रेमिका जीवात्मा के सिर पर चार तह किया हुआ कंबल अर्थात् कर्मों का भारी बोझ भी लदा हुआ है। इस प्रेमिका जीवात्मा की स्थिति इस समय ऐसी भयानक है कि वह फूलों के ढोने अर्थात् अपने हितैषियों द्वारा सुझाये गए हल्के हल्के सुगम नियमों तक के पालन करने में असमर्थ है। अतएव अपने साथियों से अपनी विवशता प्रकट करती हुई रो रही है और उधर अज्ञान की बूँदों के कारण कर्मों का कंबल धीरे धीरे और भी भारी होता जा रहा है।

---

[1] बीजक (बेलवीडियर प्रेस, प्रयाग) पृ० ९।

कुंडलिया छंद

[लेखक—श्रीयुत नरोत्तमदत्त स्वामी, एम्० ए०]

कुंडलिया हिंदी का एक प्रधान छंद है। गिरधर कविराय और दीनदयाल गिरि की कुंडलियाँ हिंदी में बहुत प्रसिद्ध हैं। हिंदी के छंदः शास्त्रकारों ने इस का यह लक्षण दिया है कि पहले एक दोहा और उस के पीछे एक रोला रक्खा जाय तथा दोहे के आरंभ के एक या अधिक शब्दों की आवृत्ति रोला के अंत में होनी चाहिये और साथ ही दोहे के चतुर्थ चरण की आवृत्ति रोला के आदि में होनी चाहिए। प्रथम प्रकार की आवृत्ति का ध्यान कभी-कभी नहीं भी रखा गया है पर द्वितीय प्रकार की आवृत्ति सर्वत्र पाई जाती है। यहाँ पर कुंडलिया के दो एक उदाहरण दे कर यह लक्षण स्पष्ट किया जाता है—

[१]

गुन के गाहक सहस नर, बिनु गुन लहै न कोय।
जैसे कागा कोकिला सबद सुनै सब लोय॥
सबद सुनै सब लोय, कोकिला सबै सुहावन।
दोऊ को रँग एक, काक सब भये अपावन॥
कह गिरधर कविराय, सुनो, हो ठाकुर मन के।
बिनु गुन लहै न कोय सहस्र नर गाहक गुन के॥

इस मे पहले एक दोहा और फिर एक रोला है। दोहे के पूर्वार्ध की आवृत्ति रोला के अंतिम पद में हुई है और दोहे के चतुर्थ चरण (सबद सुनै सब लोय) की आवृत्ति रोला के प्रथम चरण के आदि मे हुई है।

[२]

साईं अवसर के परे को न सहै दुख-द्वंद।
जाय बिकाने डोम घर वे राजा हरिचंद॥

वे राजा हरिचंद करें मरघट रखवारी।
धरे तपस्वी भेस फिरे अरजुन बलधारी॥
कह गिरधर कविराय तपै वह भीम रसोई।
को न करै घटि काम परे अवसर के साईं॥

इस में दोहे के समग्र पूर्वार्ध की नहीं किंतु केवल प्रथम चरण की आवृत्ति रोला के अंतिम चरण के अंत मे हुई है। साथ ही दोहे के चतुर्थ चरण की भी आवृत्ति रोला के प्रथम चरण के आरंभ में हुई है।

[३]

लाठी में गुण बहुत हैं सदा राखिये संग।
गहिर नदी-नारा जहाँ तहाँ बचावै अंग॥
तहाँ बचावै अंग झपटि कुत्ता को मारै।
....
.. ..
....................हाथ महँ लीजै लाठी॥

इस में दोहे के प्रथम चरण के केवल एक शब्द (लाठी) की ही आवृत्ति रोला के अंत में हुई है।

[४]

साईं बेटा-बाप के बिगरे भयो अकाज।
हिरनाकस्यप-कंस को गयो दुहुन को राज॥
गयो दुहुन को राज............ ....।
.. ..
....
पिता-पुत्र के बैर नफा कहुँ कौने पाई॥

इस में दोहे के प्रथम चरण का कोई शब्द रोला के अंत में पुनरावृत्त नहीं हुआ।

हिंदी में केवल एक प्रकार का यही कुंडलिया पाया जाता है। पर राजस्थानी भाषा के साहित्य में कई प्रकार के कुंडलिया छंद मिलते हैं। राजस्थानी

छंद शास्त्र के ग्रंथों में उन में से कुछ एक के लक्षण तथा नाम भी मिलते हैं। राजस्थानी पिंगल में कुंडलिया किसी एक छंद का नाम नहीं किंतु बहु छंदों की एक जाति है जिस के कई भेद हैं। इन भेदों का वर्णन नीचे दिया जाता है—

(१) प्रथम भेद—इस का नाम शुद्ध कुंडलिया है और इस का लक्षण हिंदी के कुंडलिया छंद से मिलता-जुलता है। इस में भी हिंदीवाले कुंडलिया की भाँति आवृत्तियाँ होती हैं और दोनों प्रकार की आवृत्तियों का होना आवश्यक है।

उदाहरण

जीव उधारे जगतरा, किता सुधारे काम।
भार उतारे भूभरो, धणी पधारे धाम॥
धणी पधारे धाम, सुजस खाटे जग सारे।
राज कियो बड़ रीत, गिणे बस सहस इग्यारे॥
रह्या जिते रघुराव, धरम-मरजादा धारे।
आय पधारत ओक, अवधपुर जीव उधारे॥

(२) द्वितीय भेद—इस का नाम 'झड़-उलट' कहा गया है। इस में पहले एक दोहा और फिर एक अरुण[1] छंद रक्खा जाता है। दोहे के आरंभ के एक या अधिक शब्दों की आवृत्ति अरुण के अंत में होती है तथा दोहे के चतुर्थ चरण के एक या अधिक शब्दों की आवृत्ति अरुण के आरंभ में होती है। दोहे के चतुर्थ चरण के सब शब्दों की उसी क्रम से आवृत्ति अरुण के आरंभ में नहीं हो सकती जैसी कि रोला के आरंभ में हो सकती है क्योंकि अरुण के एक चरण का पूर्वार्ध केवल १० मात्राओं का होता है और उस की गठन भी दोहे के चतुर्थ चरण की गठन से भिन्न होती है।

---

[1]अरुण २० मात्राओं का छंद है जिस में ५,५ और १० पर यति होती है और अंत में SIS या IIIS होता है।

—लेखक

उदाहरण

आठैं दिस बरतै अदल, राघवत्राले राज ।
सीख समापै सोहड़ा, कर मन-वंछत काज ॥
काज मन-वंछता, पूर सगला किया ।
धवलहरि दुरग धन, देस कितरा दिया ॥
कीध अरि निकंटक, जीत रावण जिसा ।
जमी पग फील जिम, दबै आठैं दिसा ॥

(३) तृतीय भेद—राजस्थानी में यह कुंडलिया सब से अधिक प्रयुक्त हुआ है। इसे छंदशास्त्रों में 'कुंडलियो' ही कहा गया है और इस का कोई अलग नाम नहीं दिया गया है। इस मे पहले एक दोहा, फिर रोला के दो चरण और अंत में फिर एक दोहा होता है। प्रथम दोहे का पूर्वार्ध दूसरे दोहे के अंत में पुनरावृत्त होता है अर्थात् इस कुंडलिये की प्रथम एवं अंतिम पंक्तियाँ बिलकुल एक सी होती हैं। साथ ही प्रथम दोहे के चतुर्थ चरण की आवृत्ति रोला के प्रथम चरण के आदि में होती है।

उदाहरण

कह रानी पदमावती, रतनसेन राजाँन ।
नारिन दीजै आपणी, तजिये पीव पिराँन ॥
तजिये पीव पिराँन, औरकूँ नारि न दीजै ।
काल न छूटै कोय, सीस दै जग जस लीजै ॥
कलँक लगावै आपको, मो सुत खोवै जाँन ।
कह रानी पदमावती, रतनसेन राजाँन ॥

—गोरा-बादलरी कथा (जटमल) ।

(४) चतुर्थ भेद—इस का भी कोई अलग नाम नहीं मिलता। यह तृतीय भेद से मिलता-जुलता है, अंतर केवल इतना है कि इस में रोला के दो चरणों के स्थान में चार चरणों का पूरा रोला होता है।

उदाहरण

रूपक यह रघुनाथरो , पिंगल गीत प्रमाँण ।
कहियो मंछाराम कवि , जोधनगर जग जाँण ॥
जोधनगर जग जाँण , बाम्ह गूँदी विस्तारा ।
बगसीराम सुजाँण , जात सेवग कूवारा ॥
संवत ठारह सतक , बरस तेसठो बखाणो ॥
सुकल भादवी दसम , वार ससिहर वरताणो ।
मत अनुसारे मैं कह्यो , सुध कर लियो सुजाँण ॥
रूपक यह रघुनाथरो , पिंगल गीत प्रमाँण ।

(५) पंचम भेद—इस का नाम 'राजवट' कुंडलिया है। इस में पहले
फिर एक रोला और अंत मे एक उल्लाला होता है अर्थात् यह कुंडलि
दोहे और एक छप्पय के मिलने से बनता है। इस मे दोहे के आदि
या अधिक शब्दों की आवृत्ति उल्लाला के अंत में होती है और दोहे
ी चरण की आवृत्ति रोला के आरंभ मे होती है।

उदाहरण

सियवर राज समापिया , पाट अवध लव पेख ॥
कुसने समय कुसावती , बंधव-सुताँ विसेख ।
बंधव-सुताँ विसेख , दोय सुत भरत सु दक्खिय॥
तक्षकने तखसली , पुकरने पुक्कर नक्खिय ।
अंसी लिखमण उभय , अँगदनगरी अंगदने ॥
चंद्रकेत चँद्रवती , सत्रघण-सुताँ सुखदने ।
कनवज सुबाहु सत्रघात पति , पति मुथरा इम थापिया ॥
इण भाँत मंछ कह आठही , सियवर राज समापिया ।

इस प्रकार कुंडलिया के ६ भेद राजस्थानी-साहित्य में पाए जाते
ाहरणों को देखने से ज्ञात होता है कि कई प्रकार के छंदों के मिश्र
लिया छंद बन सकता है और नए-नए छंदों का मिश्रण कर के हम

भी कई प्रकार के नवीन कुंडलिये बना सकते हैं। कुंडलिया की मुख्य विशेषता तो शब्दों या पदों की आवृत्ति है। कुंडलिया संस्कृत के कुंडलित शब्द से बना है जिस का अर्थ है कुंडली बनाया हुआ या गोलाकार। आद्यन्त को ये आवृत्तियाँ ही मानो इस छंद की कुंडलियाँ हैं अतः इन का होना आवश्यक है। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि सब के आरंभ में एक दोहा अवश्य होता है[1]। इसलिये हम कुंडलिया छंद का लक्षण इस प्रकार बनावेंगे—

पहले एक दोहा और पीछे कोई अन्य एक या एकाधिक छंद होना चाहिए तथा दोहे के आरंभिक शब्दों की, या समग्र प्रथम चरण की, या समग्र पूर्वार्ध की, आवृत्ति अंतिम पंक्ति मे होनी चाहिए और दोहे के चतुर्थ चरण की आवृत्ति आगे आनेवाले छंद के आरंभ में होनी चाहिए।

---

[1] निरंजन पंथ में महात्मा हरिपुरुष दयाल जी (या हरीदासजी) की वाणी में एक ऐसा कुंडलिया भी प्राप्त हुआ है जिस के आरंभ में दोहा नहीं है। उस में रोला के छः चरण हैं तथा प्रथम चरण की आवृत्ति छठे चरण में है और द्वितीय चरण के अंत के कुछ शब्दों की आवृत्ति तृतीय चरण के आरंभ में है।

—लेखक

स्वामी रामानंद और 'प्रसंग-पारिजात'

[लेखक—श्रीयुत शंकरदयालु श्रीवास्तव, एम० ए०]

परिचय

गत वर्ष मुझे अयोध्या में 'प्रसंग-पारिजात' नामक एक विशाल काव्य-ग्रंथ का पता लगा है। इस में सब मिला कर, १०८ अष्टपदियाँ अर्थात् चार-चार चरण के ८६४ पद हैं और आदि से लेकर अंत तक अदना (अदणा) छंद का प्रयोग किया गया है। 'प्रसंग-पारिजात' के प्रणेता, चेतन-दास नाम के कोई साधु-कवि हैं। उन्हों ने वि० संवत् १५१७ में इस ग्रंथ की रचना समाप्त की थी। ये श्री चेतनदास जी कौन थे, और कहाँ के रहने वाले थे यह सब मुझे ज्ञात नहीं हो सका है। इस विषय में मैं ने खोज की, 'मिश्रबंधु-विनोद', 'शिवसिंह-सरोज', 'भक्तमाल', '८४ वैष्णवों की वार्ता' तथा '२५२ वैष्णवों की वार्ता'—आदि ग्रंथों में छान-बीन की, किंतु कहीं मुझे उन की चर्चा न मिल सकी। मूल पुस्तक 'प्रसंग-पारिजात' के पढ़ने से इतना पता लगता है कि ये महाशय स्वामी रामानंदजी की बर्षी के अवसर पर उपस्थित थे। उस समय स्वामी जी की शिष्य-मंडली ने उन से यह प्रार्थना की कि हमारे गुरु की चरितावली तथा उपदेशों को—जिन का आप ने चयन किया है—ग्रंथ-रूप में लिपिबद्ध कर दीजिए। उन की इस बात को मान कर श्री चेतनदास ने 'प्रसंग-पारिजात' की रचना प्रारंभ की और वि० संवत् १५१७, माघ कृष्ण सप्तमी, भृगुवार को उसे समाप्त कर दिया। मूल पुस्तक के इस उल्लेख से यह अनुमान करने का पूर्ण अवसर मिलता है कि कविवर चेतन-दास स्वामी रामानंद जी के आश्रम पर—अथवा उस के सन्निकट ही रहते थे और समय समय पर संघटित घटनाओं एवं चरितों को लिख कर एकत्रित करते जाते थे।

ग्रंथ की भाषा बड़ी विचित्र है। जिस काल में इस की रचना हुई है न तो यह उस काल की बोल-चाल की भाषा थी और न तत्कालीन कवियों ने ही इस का प्रयोग किया है। फिर श्री चेतनदासजी ने ऐसी विचित्र भाषा का आश्रय क्यों लिया? इस से उन का क्या प्रयोजन था? इस संबंध मे भी 'प्रसंग-पारिजात' की अंतिम अष्टपदी मे एक उल्लेख है जिस का आशय यह है कि स्वामी रामानंद जी के शिष्यों ने ही इस बात की इच्छा प्रकट की थी कि गुरुजी के चरित्र एवं उपदेश विचित्र छंद एवं विचित्र भाषा में लिपि-बद्ध किए जायँ—जिसे बिना समझाये कोई समझ न सके और सिद्ध जानुक द्वारा वह सुरक्षित रहे। यही कारण है कि श्री चेतनदास जी ने उक्त ग्रंथ की रचना, पैशाची भाषा के शब्दों की सहायता से, देशवाड़ी प्राकृत मे की है। इस स्थल पर, 'प्रसंग-पारिजात' की अंतिम अष्टपदी के उन पदों को उद्धृत करना असंगत न होगा जिन में ग्रंथ-निर्माण विषयक उपरोक्त बातों का कथन किया गया है। वे पद इस प्रकार हैं—

विप जिम चुणाचू घेम थुर।
णिपहासु चेतणदास णुर॥
वित्तान्त वारिप लेस उर।
ढिग भरसिआ ले पम्महुर॥

※　※　※

वसुवीर किम्मरंस भुके।
पविवेक खुर भामत रुके॥
उचहाँ चुरुण सो जाणुके।
हिचहुर हिमरयाणु पुके॥

※　※　※

पलु पेसिरा सपचालुली।
मछुवेहरा गिण वाकुली॥
अझणे बुअरी छामुली।
मकुमिह कुपादुह धामुली॥

※　※　※

अंजाक्ष झणवासी छुपू ।
देशवाडि प्राकृत सुभुतुपू ॥
पैशाचि छवदा चिधु छुपू ।
छंदाणु अदणा लिभुणुपू ॥

* * *

वासपटिलिय आसिणवुगी ।
दिति ओरम्भा हिमसिह हुबी ॥
छुपसंग पारी जातुगी ।
हिहणेपु राम जु पालुगी ॥

वास्तव में भाषा इतनी अपरिचित प्रतीत होती है कि उस का भावार्थ भी बोधगम्य नहीं होता। समग्र ग्रंथ 'प्रसंग-पारिजात' को सन् १८९० ई० के लगभग, गोरखपुर के एक मौनी बाबा ने, मौखिक रूप से अयोध्या के महात्मा बालकराम विनायक जी को उन के बचपन में लिखवाया था। मूल पदों के साथ ही साथ उन्हों ने उस का अर्थ भी लिखवा दिया था। मौनी बाबा के बताए हुए उसी अर्थ के आधार पर मैं ने 'प्रसंग-पारिजात' का अध्ययन किया है अन्यथा मूल भाषा को समझना मेरे लिए असंभव था, यद्यपि लगभग प्रत्येक अष्टपदी में यत्र-तत्र हिंदी तथा संस्कृत के शब्द भी पाए जाते हैं। ऊपर उद्धृत पदों का अर्थ इस प्रकार है—

"उस महती समागम में ही इस चेतनदास को आज्ञा हुई कि संघ में रह कर जो जो वृत्तांत चयन किया है उसे सुनाऊँ। यह सुन कर सब को परम आनंद मिला—यह आश्चर्य (१) तब संतों की आज्ञा हुई कि इन गुप्त प्रकट वृत्तांतों को विचित्र छंद और विचित्र भाषा में लिखा जाय जिसे बिना समझाये कोई समझ न सके—सिद्ध जानुक द्वारा रक्षित रहे (२) क्योंकि इस में कुछ वृत्तांत ऐसे हैं जो प्रकट नहीं किए जाने चाहिए कुछ घटनाएँ ऐसी हैं जिन को उस समय तक गुप्त रखना है जब तक वह घटित न हो जायँ। इस का निश्चय तत्कालीन सिद्ध ही करेगा। (३) इसी विचार से यह वृत्तांतमाला देशवाड़ी प्राकृत में पिशाच भाषा के सांकेतिक शब्दों की

सहायता से अदुणा छंद में संग्रथित की गई (४) ज्ञान-भूमिका चंद शिव-सुख सच्चिदानंद (अर्थात् सं० १५१७) गुरुजन्म दिन माघ कृष्ण सप्तमी भृगुवार को यह प्रसंग-पारिजात राम नाम लेकर समाप्त हुआ (५)।"

प्राचीन भाषाविद् विद्वानों के लिये 'प्रसंग-पारिजात' की प्रथम अष्टपदी भी नीचे उद्धृत की जाती है ताकि वे निश्चयात्मक रूप से स्थिर कर सकें कि ग्रंथ की भाषा कहाँ तक प्रमाणित हो सकती है, उस में कितना तथ्य है, वह मनगढ़ंत तो नहीं है। भाषा के स्थिर हो जाने पर ही हम इस विशाल काव्य-ग्रंथ के महत्त्व को समझ सकेंगे। प्रथम अष्टपदी के आठ पद इस प्रकार हैं—

हिम हिम हमन्ता हौलड़ी।
मद माघ मघवा मौलडी॥
तल तड़ित ताड़ण लौलड़ी।
घर घर घुरंता घौलडी॥

❦ ❦ ❦

वल्स्या करींदी सरसई।
गंगा गलौला गड़रई॥
तिगंति तलछा मदमई।
आसार सारते वैथई॥

❦ ❦ ❦

मवतूल संडिम वाहुणी।
आमुल मलेच्छ मथागुणी॥
अणुकागुणी तनु पारुणी।
तुरकान दल दल दारुणी॥

❦ ❦ ❦

सारंगधर ठिप्पण ठिया।
वाजुन्द विभु वैगुण विया॥

माधूम अलखर औलिया ।
चिर छैभ जारण जाजिया ॥

❦ ❦ ❦

हाहूम देसिक तिप्पिया ।
भरदार वौड़ा किप्पिया ॥
लोलिम नवाह लिप्पिया ।
सिविका मणारा छिप्पिया ॥

❦ ❦ ❦

हपिफाल फाला फँवड़ा ।
सरसूत तोणिम्म तैवड़ा ॥
थुण वासवीहम घैवडा ।
हिंसक अहिंसक सैवड़ा ॥

❦ ❦ ❦

पाल्हूत पैराम्‌ जणस ।
सावूत तैरम तोहम्मस ॥
आयूष कैवम रौंद दस ।
संकर जु सोरस वरस जस ॥

❦ ❦ ❦

आहूम तीवर चबर सा ।
... ... बरवा हिच्छरा ॥
जैभूम केसव धम्मरा ।
सासूम सोणित वव्वहा ॥

❦ ❦ ❦

ग्रंथ के आदि में इस अष्टपदी द्वारा कवि ने उस काल एवं उस परिस्थिति का दिग्दर्शन कराया है जिस में स्वामी रामानंद जी अवतीर्ण हुए थे।

ग्रंथ का विषय

'प्रसंग-पारिजात' को हम आधुनिक ढंग का लिखा हुआ स्वामी रामानंद जी का जीवन-चरित नहीं कह सकते। इस में उन की जीवन-संबंधी सभी ज्ञातव्य बातों का समावेश नहीं किया गया है और न जीवन-काल का क्रमिक विकास ही दिखाया गया है। जैसा कि ग्रंथ के नाम से लक्षित होता है, इस में उन से संबंध रखने वाले विविध प्रकार के प्रसंग वर्णित हैं। ग्रंथ का अधिकांश अनेक अलौकिक कथाओं से परिपूर्ण है। पुस्तक में जितनी घटनाएँ वर्णित हैं वे प्रायः सभी रहस्यात्मक प्रसंगों अथवा तत्त्वज्ञान के दुरूह विषयों से पूर्ण हैं, किंतु इस से यह न समझ लेना चाहिए कि 'प्रसंग-पारिजात' में केवल धार्मिक तत्वों का ही निरूपण किया गया है अथवा उस में साधु-सत्संग संबंधी प्रासंगिक कथाएँ ही वर्णित हैं, वरन् १९ वीं शताब्दि के सामाजिक तथा राजनीतिक वातावरण को समझने के लिए भी इस में प्रचुर सामग्री विद्यमान है।

अपनी सुविधानुसार हम ग्रंथ को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम भाग में स्वामी जी का दिव्य जन्म, बाललीला, उपनयन, विद्याध्ययन, गुरु-दीक्षा, संन्यास-ग्रहण, तपोनिष्ठा तथा कलि-संवाद प्रभृति विषयों का वर्णन है। स्वामी जी का जन्म प्रयाग में हुआ था। 'प्रसंग-पारिजात' के इस उल्लेख से इस मत का खंडन होता है कि वे दक्षिण से उत्तरी भारत में आए थे। मध्य भाग में लगभग चार दर्जन अलौकिक कथाएँ वर्णित हैं, जिन के द्वारा हमें स्वामी रामानंद जी की अध्यात्मिक प्रतिभा का परिचय मिलता है। इन कथाओं को पढ़ कर हमारी अन्तरात्मा स्वतः इस निश्चय पर पहुँचती है कि वास्तव में स्वामी जी उच्चकोटि के एक अध्यात्मिक महापुरुष थे। इन कथाओं के अंतर्गत स्वामी जी के अनेक प्रमुख शिष्यों के संबंध में भी कुछ उल्लेख है। इस ग्रंथ से यह भी प्रमाणित होता है कि हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध कवि भक्तराज कबीरदास जी इन्हीं के शिष्य थे। कबीरदास जी के अतिरिक्त पीपा जी, अनंतानंद जी,

योगानंद जी, सेन नाऊ, रैदास तथा नरहर्यानंद आदि के नाम भी आए हैं। तीसरे भाग में स्वामी जी के देश-पर्यटन का वर्णन दिया हुआ है। इस के द्वारा हमें यह पता लगता है कि वे गगरौनगढ़, जगन्नाथपुरी, रामेश्वरम्, विजयनगर, काञ्ची, श्रीरङ्गम्, वृन्दावन, चित्रकूट, प्रयाग आदि स्थानों का भ्रमण कर के काशी जी में अपने आश्रम पर लौट आए। देश-पर्यटन की समाप्ति पर साधुओं को जो भोज दिया गया और उस अवसर पर स्वामी जी ने एकत्रित साधुओं को जो उपदेश दिए वे सब बड़े चित्ताकर्षक ढंग से वर्णित हैं। अंत में आचार्य रामानंद जी को हंस एवं कबूतर के द्वारा ब्रह्मदेव धर्मराज का कुछ सांकेतिक सदेश मिलता है। उस के पश्चात् हवनकुंड की प्रतिष्ठा होती है और उन के अंतिम शब्द शांति एवं करुण रस की वर्षा करते हैं। तदनंतर स्वामी जी का अंतर्ध्यान होता है और इस प्रकार उन की मानवी लीला का पटाक्षेप होता है।

ग्रंथ का ऐतिहासिक महत्त्व

'प्रसंग-पारिजात' में दो-तीन स्थलों पर संवतों का उल्लेख है और कतिपय ऐसी घटनाओं का भी समावेश है जो कि ऐतिहासिक दृष्टि-कोण से बड़े महत्त्व की हैं। कबीरदास जी का जन्म-संवत् १४५५ तथा स्वामी रामानंद का अवसान-संवत् १५०५ दिया हुआ है। इन संवतों के उल्लेख से तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं घटनाओं के द्वारा—जिन का वर्णन 'प्रसंग-पारिजात' में है—स्वामी रामानंद जी का समय स्थिर करने में बड़ी सहायता मिलती है। यहाँ पर पहिले हम ग्रंथ में आए हुए ऐतिहासिक व्यक्तियों का उल्लेख एवं घटनाओं का उल्लेख करेंगे और फिर उन के आधार पर इस निश्चय पर पहुँचने की चेष्टा करेंगे कि स्वामी जी का जीवन-काल कब से कब तक रहा।

गजसिंह नामक एक सूर्यवंशी राजकुमार एक बार काशी जी में आया। वह म्लेच्छ-स्पर्श से धर्म-भ्रष्ट हो गया था। ग्लानि से ग्रस्त एवं प्रायश्चित्त के लिए विकल हो कर वह पंडितों की सेवा में उपस्थित हुआ और अपनी भ्रष्टता दूर करने के लिये उन से उस ने बहुत अनुनय-विनय किया किंतु अधिक काल

व्यतीत हो जाने के कारण किसी ने उस की प्रार्थना पर ध्यान नहीं दिया। अंत में निराश होकर वह स्वामी रामानंद जी के आश्रम पर आया और दीनता-पूर्ण शब्दों में उस ने अपनी अभिलाषा प्रगट की। स्वामी जी ने करुणार्द्र चित्त से उस का करुण-क्रंदन सुना तथा समुचित सांत्वना प्रदान की।

राजकुमार ने अपना परिचय देते हुए कहा कि मैं अयोध्या के राजा हरिसिंह देव का भतीजा हूँ। हरिसिंह वैशाख सुदी दशमी दिन सोमवार संवत् १३८१ को जूना खां तुग़लक के भय से भगवद्भजन के लिए तराई की ओर भाग गए। तब से अयोध्या राज्य-सिंहासन पर कोई नहीं बैठा। उस के एक ही वर्ष बाद, छल-पूर्वक खड़े किए हुए शिविर में अपने पिता से मिलते समय तंबू गिरा कर उन की हत्या करने वाले ने बीसों हज़ार प्राणियों को बड़ी क्रूरता के साथ धर्म-भ्रष्ट किया। तब से अब तक पचास वर्ष के भीतर धर्म भ्रष्टों की निरंतर वृद्धि होती गई। ऐसा कोई रोग नहीं जिस की दवा न हो और ऐसा कोई पाप नहीं जिस का प्रायश्चित्त न हो। परंतु ऊँची पगड़ी बाँधने वाले हमारे धर्म-भीरु पंडित अधिक समय के व्यतीत हो जाने का बहाना कर के हम धर्म-भ्रष्टों की भ्रष्टता दूर करने और हमें वैदिक अधिकारी बनाने से अस्वीकार करते हैं।

स्वामी जी ने गजसिंह को समझा बुझा कर कहा कि 'वत्स! तुम घर जाओ और मेरी ओर से सब धर्मच्युत लोगों को सांत्वना दो। आज के तीसवे दिन प्रातःकाल के समय सरयू-तट पर आऊँगा और सब का उद्धार एक साथ ही करूँगा।' गजसिंह अयोध्या वापिस गया और सब को यह हर्ष-संवाद सुनाया। निश्चित दिवस पर सब धर्म-भ्रष्ट लोग सरयू-तट पर एकत्रित हुए। स्वामी जी भी ठीक समय पर पहुँचे और जयराम मंत्र से फूँक कर अपना शंख बजाया। तदनंतर सरयू जी में स्नान करते ही सब दिव्य संस्कार से भूषित हो कर बाह्याभ्यंतर शुद्ध हो गए।

एक बार काशी में किसी पुण्य-पर्व के अवसर पर बड़ा समारोह हुआ। सुदूर स्थानों से लोग एकत्रित हुए। बहुत से लोग स्वामी जी के आश्रम पर पहुँचे। भिन्न-भिन्न प्रांत के लोगों ने अपने अपने प्रांतों की दुर्दशा का वर्णन

किया और कहा कि मुसलमान अधिकारियों द्वारा हम पर विविधि प्रकार के अत्याचार किए जाते हैं। दिल्ली में तीमूर (तैमूर लंग) द्वारा किए गए नर-हत्याकांड तथा लखनौती का उपद्रव एवं अत्याचार सब धर्म के नाम पर होते हैं क्या इन अत्याचारियों को दंड-रूप उचित शिक्षा नहीं देनी चाहिए। हे दीनबंधु ! हम आप की शरण में आए हैं। आप हम पर दया कीजिए और मुसलमानों के अत्याचार से बचाइए। स्वामी जी ने परदे के भीतर अपने आसन पर से ही कहा—धैर्य्य धारण करने से ही विपत्ति के बादल फटते हैं। तुम लोग अपने-अपने घर जाओ और धैर्य्य के साथ कष्टों का सामना करो। उचित दंड की व्यवस्था कर दी गई है।

ग्रंथ के अंतर्गत एक स्थल पर विजयनगर के बुक्काराय का नामोल्लेख है और इसी प्रकार किसी दूसरे स्थल पर दक्षिण के एक गंगू ब्राह्मण की भी चर्चा है। इन के संबंध में भी कुछ लिखना आवश्यक प्रतीत होता है।

आचार्य रामानंद जी जब अपने शिष्य-सेवकों सहित देश-पर्यटन करते हुए विजयनगर पहुँचे तो वहाँ के राजा बुक्काराय ने नंगे पाँव ही नगर के बाहर जा कर उन का स्वागत किया। स्वागत-दल के प्रधान विद्यारण्य स्वामी जी बनाये गए थे। स्वागत के पश्चात् जब स्वामी रामानंद जी का पीनस नगर की ओर चला तब बुक्काराय ने बड़े आग्रह एवं अनुरोध के साथ उस में अपना भी कंधा लगा दिया। नगर में धूम-धाम के साथ एक भंडारा हुआ और बुक्काराय का हृदय-रोग पायस-प्रसाद पाते ही छूट गया। रामानंद जी ने राजा को उपदेश किया कि राजयोग में भोग बहुत हानिकारक है, यदि राजा भोग-विलास में लिप्त हुआ तो वह राजकीय वंश समेत चौपट हो जाता है। अतः प्रजारञ्जन-रूपी प्राणायाम यम-नियम-पूर्वक साध कर संयम के साथ रहना चाहिए। इस उपदेश को भोज पत्र पर लिखा कर बुक्काराय ने उसे स्वर्ण-पत्र पर मढ़ा लिया और अंगूठी रूप से उसे धारण किया।

जिस प्रसंग में गंगू ब्राह्मण का नामोल्लेख है, उस में ऐतिहासिक दृष्टि-कोण से अधिक महत्त्व की बात नहीं है। हाँ, इतना अवश्य लिखा है कि वे दक्षिण के ब्राह्मण थे और उन के साथ जफ़र नामक एक सेवक भी था। गंगू अपने

सेवक के साथ अपने किसी संबंधी का फूल बहाने काशी जी आया था। फूल बहाते समय स्वयं प्रवाह में पड़ कर अथाह धारा के साथ प्रवाहित होने लगा। गंगा के किनारे खड़ा हुआ सेवक जफ़र स्वामिभक्ति के भाव से उत्तेजित हो गंगू की प्राण-रक्षा निमित्त नदी में कूद पड़ा किन्तु संयोग-वश मालिक को पकड़ कर लाते हुये स्वयं स्वामी के साथ एक भँवर में पड़ गया और दोनों चक्कर खाने लगे। तदनन्तर स्वामी रामानन्द की दिव्य शक्ति की सहायता से भँवर शान्त हो गया और गंगा माता ने थाह हो कर उन्हें निकलने का मार्ग दिया। इस दिव्य लीला की छान-बीन करते जब वे दोनों स्वामि-सेवक रामानन्द जी के आश्रम पर आए तो दर्शन पाकर संतुष्ट हुए। स्वामी जी ने गंगू को सम्बोधित कर के कहा :—"गंगू! तुम इसको (जफ़र को) गुलाम मत समझना। इस के साथ सहृदयता का व्यवहार करना यह बड़ा भाग्यशाली है और निस्सन्देह यह एक दिन बादशाह होगा।"

'प्रसंग-पारिजात' में यत्र-तत्र और भी कतिपय ऐसे व्यक्तियों के नाम आए हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से उल्लेखनीय हैं किन्तु ग्रन्थ के केवल ऐतिहासिक अंग पर सविस्तर दृष्टिपात करना यहाँ अभीष्ट नहीं है। विद्वान पाठकों की जानकारी के लिये इतना लिखना उचित होगा कि एक स्थल पर राणा हम्मीर के एक विश्वासपात्र सभासद की चर्चा है। उस का नाम था पुहकरसी और सिसौदिया वंशोत्पन्ना राजकुमारी शमी के साथ उस का कुछ प्रेम-सम्बन्ध भी था। एक कथा में यह लिखा है कि ख्वाजा निजामुद्दीन औलिया ने खुसरो के हाथ स्वामी जी के पास एक बेल-बूटों से अलंकृत पत्र भेजा। पता नहीं कि ये खुसरो कौन थे किन्तु इतना स्पष्ट है कि ये फ़ारसी के एक कवि भी थे। खुसरो का सम्मान हुआ और आचार्य रामानन्द ने बड़े आदर व प्रसन्नता के साथ उस का समुचित उत्तर भी दिया और खुसरो के साथ पीपा जी को भी भेजा। एक दूसरी कथा में मीमांसक चिपतूणकर का नाम भी आया है।

उपरोक्त अनेक उल्लेखों से स्वामी रामानन्द जी के जीवन-काल पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। 'प्रसंग-पारिजात' के आधार पर यह सप्रमाण सिद्ध किया जा सकता है कि डाक्टर फ़ार्क़ुहर का यह मत कि श्री रामानन्द जी का

जीवन-काल १४२० से १४७० ई० तक रहा—जिसे उन्हों ने १९२० ई० में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल मे प्रतिपादित किया था—बिलकुल ग़लत है। उस लेख मे उक्त डाक्टर साहब ने श्री रामानन्द जी का समय स्थिर करने मे जिस तर्क-सिद्धान्त का अवलम्बन किया है वह वास्तव में दोषपूर्ण है। उन्हों ने केवल अनुमान से ही काम लिया है और फलतः काल-निर्णय मे बड़ी अन्धा-धुन्धी हो गई है। सर्व-प्रथम तो सिक्खों के आदि ग्रन्थ के आधार पर उन्हो ने यह बतलाया है कि नामदेव रामानन्द जी के कुछ पूर्ववर्ती थे। फिर नामदेव का समय स्थिर करने में—केवल दो ग्रन्थों की भाषा-विभिन्नता के आधार पर—सौ सौ वर्षों की भिन्नता स्थापित की है। इस दोष-पूर्ण-रीति का अव-लम्बन कर के निश्चित किया हुआ काल भला कैसे ठीक उतर सकता था ?

जैसा पाठको ने ऊपर देखा होगा 'प्रसंग-पारिजात' के द्वारा यह मालूम होता है कि स्वामी रामानन्द १४ वीं शताब्दि के अधिकांश वर्षों मे थे और १५ वीं शताब्दि में भी ४८ वर्ष तक जीवित रहे। उन का अवसान-सम्वत् १५०५ (सन् १४४८) दिया हुआ है किन्तु आविर्भाव-सम्वत् का उल्लेख नही है। ऊपर लिखे जिस कथा में अयोध्या के गजसिंह और जूना खां का उल्लेख है उस के अनुसार यह पता चलता है कि स्वामी रामानन्द सन् १३७४ ई० में विद्यमान थे।[1] विजयनगर के राजा बुक्काराय के नामोल्लेख से भी यह विदित होता है कि स्वामी जी १४ वीं शताब्दि के तृतीय चरण में भी थे। अब यदि गंगू ब्राह्मण बहमनी वंश के संस्थापक हसन गंगू ही हैं तो हमे मानना पड़ेगा कि श्री रामानन्द जी महाराज सन् १३५० ई० के पूर्व ही पर्याप्त रूप से विख्यात हो चुके थे।

इस प्रकार यदि 'प्रसंग-पारिजात' में उल्लिखित सब बातें ठीक मानी जायँ तो श्री रामानन्द जी का आयुष्काल १२० वर्ष से कम नहीं माना जा

---

[1] १३८१ सम्वत् में हरिसिंह देव तराई की ओर भागे थे और उस के ५० वर्ष पश्चात् गजसिंह स्वामी जी के पास अपनी करुण-कथा सुनाने गए थे अतः १३८१+५०=सं० १४३१=१३७४ ई०।

सकता। किन्तु आज-कल के इतिहास-मर्मज्ञ विद्वान कदाचित् इतना दीर्घ आयुष्य मानने को तैयार न होंगे। जहाँ तक मैं व्यक्तिगत रूप से सोचता विचारता हूँ, मेरे निकट स्वामी रामानन्द जी जैसे बाल-ब्रह्मचारी, योगी व्रती, संयमी संन्यासी आध्यात्मिक महापुरुष के लिये १२० वर्ष का जीवन-काल असम्भव नहीं है। यदि अगस्त्य-संहिता-उल्लिखित श्री रामानन्द जी का आविर्भाव-सम्वत् १३५६ (सन् १२९९) ठीक माना जाय और साथ ही साथ 'प्रसंग-पारिजात' के अनुसार उन का अवसान सम्वत् १५०५ समीचीन समझा जाय तो आयुष्काल १४९ वर्ष का हो जाता है। इस सम्बन्ध में इतना स्मरण रखना चाहिये कि डाक्टर ग्रियर्सन[1] तथा गोलोकवासी डा० भंडार-कर[2] ने अगस्त्य-संहिता के मत को स्वीकार किया है और साम्प्रदायिक मत भी उसी सम्वत् का अनुमोदन करता है। यद्यपि किसी पुरुष का इतना दीर्घ आयुष्काल मानना इतिहास-वेत्ताओं के सामने एक दम उपहासास्पद बात होगी तथापि निश्चयात्मक रूप से इतना तो स्वीकार ही करना होगा कि स्वामी जी का जीवन-काल अधिक लम्बा था। नाभादास जी ने अपने 'भक्तमाल' में स्वामी रामानन्द जी के विषय में वर्णन करते हुये यद्यपि उन का जन्म-मरण-सम्वत् नहीं लिखा है तो भी निम्न-लिखित चरणों में उन के दीर्घ-जीवी होने का निर्देश किया है:—

बहुत काल बपुधारि कै
प्रनत जनन कों पार दियो।
श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों
दुतिय सेतु जलगरन कियो॥

नाभादास जी के इस उल्लेख से स्पष्टतया यह ध्वनित होता है कि श्री रामानन्द जी वास्तव में दीर्घ-जीवी हुए है। अब चाहे उन का आयुष्काल १११ वर्ष का माना जाय चाहे १२० अथवा १४९ वर्ष का। 'प्रसंग-

---

[1] 'इन्साइक्लोपीडिया अव् रिलीजन' भाग ११।

[2] 'वैष्णविज़्म शैविज़्म एन्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स' पृष्ठ ६६।

पारिजात' हमें इस बात के लिये बाध्य नहीं करता कि हम स्वामी जी के जीवन-काल को १४९ वर्ष का मानें किन्तु इतना अवश्य है कि उस ग्रन्थ के समस्त तिथि-उल्लेखों तथा ऐतिहासिक महत्त्व-पूर्ण कथाओं एवं घटनाओं का सामंजस्य करने के लिए हमें कम से कम उन का आयुष्काल १२० वर्ष का मानना पड़ेगा। इस स्थल पर श्री रामानन्द जी के समय के सम्बन्ध में सविस्तर वाद-विवाद छेड़ना अभीष्ट नहीं है, ऐसा करना प्रस्तुत लेख की मर्यादा का उल्लंघन करना होगा। इस स्थान पर तो हमें केवल यह दिखा कर कि श्री रामानन्द जी १४ वीं शताब्दि के पूर्वार्ध में आविर्भूत हुये थे और १५ वीं शताब्दि में भी बहुत वर्षों तक जीवित थे डा० फार्कुहर के स्थिर किए हुए काल को निराधार सिद्ध करना ही था। श्री एच० एच० विल्सन महोदय का मत भी ग्राह्य नहीं है उन के अनुसार स्वामी जी १४ वीं शताब्दि के अन्त में आविर्भूत हुए थे।[1]

यहाँ पर इतना और कह देना असंगत न होगा कि मान्यवर डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी जी ने प्रस्तुत पत्रिका के गताङ्क में 'कबीर जी का समय' शीर्षक अपने गवेषणा-पूर्ण लेख में जो परिणाम निकाला है उस का 'प्रसंग-पारिजात' के साथ पूर्ण सामञ्जस्य नहीं है। 'प्रसंग-पारिजात' में जैसा कि ऊपर एक स्थान पर निर्देश किया गया है कबीर जी का जन्म-समय लगभग सन् १३९८ ई० दिया हुआ है। फलतः कबीर जी का समय १५ वीं शताब्दि ही मानना पड़ेगा १४ वीं शताब्दि के उत्तरार्ध मे वे अधिक वर्ष तक नहीं रहे जैसा त्रिपाठी जी ने लिखा है। जनरल् कनिंगहम द्वारा निर्धारित पीपा जी का समय (१३६०—१३८५) भी 'प्रसंग-पारिजात' से सामञ्जस्य नहीं खाता, कारण कि उस में एक स्थल पर यह इंगित किया हुआ है कि पीपा जी एवं कबीर जी दोनों समकालीन थे।

---

[1] 'ए स्केच अव् दि रेलीजस सेक्ट्स अव् दि हिन्दूज़', पृ० ३१।

धार्मिक उदारता

'प्रसंग-पारिजात' का सम्यक् अध्ययन करने से यह परिणाम निर्धारित होता है कि श्री रामानन्द जी महाराज एक समदर्शी पुरुष थे, सब पर उन की करुणा की धारा समान रूप से प्रवाहित थी। उन्हों ने सब पर दया की, सब को अपनाया और सब के कल्याण का पथ प्रशस्त किया, भगवद्भक्ति की मधु-मन्दाकिनी में सब को निमज्जित किया। अपने दिव्य ज्ञान के चिन्मय प्रकाश की किरणमाला से ऊँच-नीच सब के अन्तःकरणों के मोहान्धकार को दूर किया। ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक भगवद्भक्ति का द्वार सब के लिये समान रूप से खोल दिया। महात्मा कबीरदास, रैदास, सेन तथा धना जो कि क्रम से जोलाहे, चमार, नाऊ एवं जाट के कुल मे उत्पन्न हुए थे स्वामी के द्वादश प्रधान शिष्यों में थे।

आचार्य रामानन्द वास्तव में भागवत धर्म के ही आचार्य थे। उन्हों ने उसी का विशेष रूप से प्रचार किया। भगवद्भजन में अखण्ड रूप से निरत रहना और उस में मनुष्यों को प्रवृत्त करना यही उन के सुदीर्घ जीवन-काल का व्यवसाय था। सभी जीव भगवान के ही हैं और उन की भक्ति का सभी योनि एवं जाति के प्राणियों को समान रूप से अधिकार है यही उन का विश्वास था। किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदाय से चाहे वह हिन्दू हो वा अहिन्दू वैदिक हो अथवा अवैदिक (जैन आदि) उन का किञ्चित विरोध नहीं था। इसी धार्मिक सहिष्णुता का फल है कि सभी मत और सम्प्रदाय के अनुयायी उन के आश्रम पर आते तथा उन के पूज्य चरणों मे अपनी श्रद्धा प्रगट कर परमार्थ की भिक्षा प्राप्त करते और कृतार्थ होते थे। ऐसे उदात्त, उदारशील आचार्य संसार में शायद बिरले ही हुए होंगे। उन के सरल, निश्छल, निर्वैर और प्रशान्त जीवन का मनन करने से यह अवगत होता है कि पवित्र सन्त पद के महत्त्व को बढ़ाने वाले वे सन्तों में सम्राट् थे।

श्री रामानन्द जी द्वारा हीन वर्ण के लोगों में भी योग, ज्ञान, भक्ति-वैराग्य तथा सदाचार का—जो भागवत धर्म के मुख्य अङ्ग हैं—अच्छा प्रचार

हुआ। स्वामी शंकराचार्य तथा आचार्य रामानुज ने संस्कृत भाषा का अवलम्बन कर केवल उच्चवर्ण के लोगों को ही अपना धार्मिक संदेश सुनाया परन्तु इन महानुभाव ने अपने उपदेश सर्व-साधारण लोगों तक—पंडित, शूद्र सब तक—पहुँचाने के लिए बोलचाल की भाषा का अवलंबन किया और उन्हीं का प्रभाव है कि कबीरदास तथा रैदास आदि उन के शिष्यों ने भी प्रचलित बोलचाल की भाषा मे ही अपनी सन्त-वाणियाँ कही और लिखीं। स्वामी रामानंद जी साम्प्रदायिक झगड़े अथवा धार्मिक खंडन-मंडन में नही पड़े। उन के लिए भगवान ही प्रधान ध्येय है और सब धर्म गौण हैं। वे सदैव निर्लिप्त मन से अपने इष्ट की ध्यान-धारणा, पूजा-अर्चा में संलग्न रहते थे और आश्रम पर जो साधु-संत या गृहस्थ परमार्थ भिक्षा के लिए आते थे उन को संतुष्ट करते थे।

उन को सारा संसार राममय दीख पड़ता था। उन्हों ने अपने समय मे सनातनधर्म के शैव वैष्णव आदि सभी संप्रदायों में परस्पर मेल करा दिया था। संपूर्ण साधुवेष को उन्हों ने एकता के सूत्र मे ग्रथित कर दिया था, श्रुति को आश्रय, भक्ति को जीवन और विरक्ति को उन से बल मिला।

हीन वर्ण वालों के प्रति स्वामी जी ने जिस उदारता का प्रदर्शन किया और जिस सहृदयता का परिचय दिया उस के अनेक उदाहरण, प्रसंग-पारिजात' में लिखित कथाओं मे स्थल स्थल पर उपलब्ध होते हैं। एक दिन जब काशी के कतिपय विद्वानों ने स्वामी जी के आश्रम पर आकर यह निवेदन किया कि "कबीर जुलाहे ने कंठी-माला, तिलक-छाप सब कुछ धारण कर लिया है और अपने को आप का शिष्य बतलाता है। क्या यह बात सत्य है?" तब इस के उत्तर मे श्री रामानंद जी ने कहा कि "हाँ यह बात बिल्कुल सत्य है और वह मेरा शिष्य है। भगवान् सब के हैं और भगवत्-शरणागति का अधिकार सदा से सब को है। भगवान् अपनी कृपा से किसी को भी वंचित नहीं करते। ईश्वर-संबंधी वस्तुओं पर सब का समान अधिकार है।"

एक दूसरे प्रसंग के अंतर्गत यह लिखा है कि एक दिन स्वामी जी ने रैदास तथा कबीरदास को संबोधित कर के यह बतलाया कि इस युग में

हीन वर्ण वाले ही वास्तव में उपदेश के अधिकारी हैं। संतों ने भी इस कर्म-भूमि में, शांति-पूर्वक भजन करने के लिए हीन वर्ण वाले कुलों में जन्म लेना उचित समझा है। हम देखते हैं कि निम्न-कोटि की प्रजा में भी सामान्य वृत्ति से स्थित संत हैं। उन्हें गुरुमुख की अत्यंत आवश्यकता है। कुलीनों के गुरु उन्हें उपदेश देते नहीं। उन की आध्यात्मिक पिपासा के शांत करने का कोई साधन न होने पर 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' की वृत्ति उन में कैसे और कब तक टिकी रह सकती है। अस्तु हे हमारे प्यारे शिष्यो! इस लोक-संग्रह कार्य में प्रवृत्त हो जाओ। इस शिक्षा को दोनों शिष्यों ने शिरोधार्य किया और वे उस पंथ मे प्रवृत्त हुए और इस प्रकार त्रयीधर्म से तिरस्कृत, सब प्रकार से हीनदीन प्राणियों को अविकल आधार मिल गया।

अपनी दिव्य मानवी लीला के अंतिम समय में श्री रामानंद जी ने अपने शिष्यों, तथा एकत्रित संतों को संबोधित कर के जो उपदेश दिया वह उन की उदारता एवं सहृदयता का पूर्ण परिचायक है। स्वामी जी ने उन लोगों से कहा, "देखो सब शास्त्रों का सार भगवत्स्मरण है जो सच्चे संतों का जीवनाधार है। शिखा-सूत्र के अधिकारी पादज और अंत्यज हैं। भाई! पैरों को काटकर समाज को पंगु मत बनाना।"

उपरोक्त कतिपय उदाहरणों में मैं ने केवल यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि स्वामी जी हीन वर्ण वाले लोगों के साथ भी कितनी अधिक सहानुभूति रखते थे। इन के अतिरिक्त मूल ग्रंथ में अन्य अनेक कथाएँ मिलती हैं जिन में उन की धार्मिक सहिष्णुता एवं उदारता का पूरा आभास मिलता है। उन सब कथाओं का इस स्थल पर वर्णन करना असंगत तथा अनुपयुक्त होगा।

देश-भ्रमण

'प्रसंग-पारिजात' के पढ़ने से ज्ञात होता है कि श्री रामानंद जी ने देश-पर्यटन अपनी वृद्धावस्था में किया था। उन के साथ साधुओं की पूरी जमात थी। कबीर, योगानंद, नरहर्यानंद तथा अनंतानंद आदि शिष्य भी साथ हे

साथ भ्रमण के लिए गए थे। सर्व-प्रथम वे गागरौन गढ़ गए, जहाँ उन के शिष्य भक्तराज पीपा जी की राजधानी थी। वहाँ चार मास तक रह कर जगन्नाथ पुरी पहुँचे। वहाँ से चल कर दक्षिणधाम रामेश्वरम् पहुँचे। वहाँ वैष्णव-शैव-द्रोह को शांत करने के लिए श्री योगानंद जी को छोड़ दिया और समाज सहित विजयनगर की ओर प्रस्थान किया। वहाँ के राजा बुक्काराय ने खूब आदर सत्कार पूर्वक आप का स्वागत किया। विजयनगर से स्वामी जी की जमात कांची नगर को गई। यहाँ के लोग वर्ण-विचार-जनित भेद-बुद्धि के कारण उन के बड़े विरोधी थे। फलतः उन लोगों ने सेवा-सत्कार के बदले दुर्वचनों से ही साधु-मंडली का स्वागत किया।

कांचीपुरी से स्वामी जी की जमात श्रीरंगम गई। वहाँ से सब लोग पद्मनाभ, जनार्दन और वेङ्कटेश जी की यात्रा करते हुए द्वारिका पहुँचे फिर वहाँ से मथुरा, वृन्दावन होते हुए स्वामी जी मायापुरी गए। तत्पश्चात् चित्रकूट में चतुर्मास व्यतीत कर के तीर्थराज प्रयाग पहुँचे और फिर अंत में अपने स्थान काशी को लौट गए। आश्रम पर पूर्ववत् फिर प्रसंग और साधु-सत्संग होना प्रारंभ हुआ। इस प्रकार से स्वामी जी का भ्रमण समाप्त हुआ। मार्ग में अनेक अलौकिक घटनाएँ घटीं।

उपसंहार

यद्यपि 'प्रसंग-पारिजात' में अनेक बातें और कथाएँ अतिरंजित तथा अस्वाभाविक सी प्रतीत होती हैं—जैसे स्वामी जी का अवतार लेना, अन्तर्ध्यान होना, शव को जीवित करना, शंखध्वनि से अद्भुत चमत्कार उत्पादन करना, इत्यादि इत्यादि—तथापि इस से समग्र ग्रंथ का महत्त्व नष्ट नहीं होता। कवि की लेखनी में कुछ न कुछ अत्युक्ति रहती ही है। इस के अतिरिक्त अध्यात्मवाद स्थूल जगत के परे अपनी सत्ता रखता है अतः उस में अलौकिकता का होना स्वाभाविक ही है। आध्यात्मिक जीवन वाले संतों के चरित्रों में कुछ न कुछ लोकोत्तरता होती ही है। वास्तव में ग्रंथ की उपादेयता तभी सिद्ध होगी जब कि भाषा-तत्त्ववेत्ता भाषा की परीक्षा कर उसे प्रमाणित ठहरा दें।

ऊपर हम बता चुके हैं कि धार्मिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि-कोण से परीक्षा करने पर 'प्रसंग-पारिजात' एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक जान पड़ती है। यहाँ पर यह बतला देना चाहिए कि साहित्यिक दृष्टि-बिंदु से भी यह एक अनूठा काव्य-ग्रंथ है। इस के कर्त्ता चेतनदास एक अनुभवी और सिद्धहस्त कवि मालूम होते हैं। नीरस धार्मिक तत्वों को साहित्यिक रूप से निरूपण कर उन में कवि ने सरसता उत्पन्न कर दी है।

मान्यवर प्रोफ़ेसर रामप्रसाद त्रिपाठी जी की यह इच्छा है कि मैं प्रस्तुत लेख में, 'प्रसंग-पारिजात' में आए हुए व्यक्तियों के नाम की एक तालिका भी जोड़ दूँ। बहुत से व्यक्तियों के नाम तो ऊपर लेख में आ ही गए हैं, शेष नाम नीचे दिए जाते हैं किंतु पाठकों को इतना स्मरण रखना चाहिए कि ग्रंथ में आए हुए सब के सब व्यक्ति आवश्यक रूप से स्वामी रामानंद जी के समकालीन नहीं थे। इस बात पर ध्यान न देने से भ्रम होने की संभावना है।

राघवानंद—मुनिपुंगव पाचर जी—योगी कृपाशंकर—विश्वनाथ जी—भीटा पंडित—काशी के त्र्यंबक शास्त्री तथा उन की पुत्री जांबवती—फातिमा—साधु अन्तोलियो—पितर व्यवपारी—लिउटा वैश्य—लुंबवाहन—चंद्रप्रभ—यज्ञेशदत्त—योगी गोहिणनाथ—विप्रकन्या बोनी—मीमांसक चिप-लूणाकर—नूधनाथ ब्राह्मण—भाऊजी शास्त्री—विट्ठल ब्राह्मण—मासकी पंडित—विनयी मुनि—पाद्मतेश्वर—वीरेश्वर भट्ट—ओंकारेश्वर त्रिवेदी (स्वामी जी के मामा लगते थे)—कुमारिल भट्ट—ताँतिया शास्त्री—कम्भेठ—शृङ्गेरीमठ के श्री शंकराचार्य तथा उन के अनुज माधवाचार्य—नीरू—नीमा—पश्चिमी आर्यों (मगी जाति) के गुरु करोखिया जी—इब्न नूर—तक़ी तथ ख्वाजा निजामुद्दीन औलिया इन के नाम पुस्तक में आते है।

———

प्राचीन भारत में तोल

[लेखक—डाक्टर प्राणनाथ विद्यालंकार, पी-एच्० डी० (वियना), डी० एस्-सी० (लंदन)]

किसी देश के आर्थिक संगठन में प्रचलित तोल-माप का बड़ा भारी भाग होता है। यहाँ तक कि विद्वानों का मत है कि इन चीज़ों की स्थिति सभ्यता की ऊँचाई को मापने के काम में लाई जा सकती है।

प्राचीन काल के तोल माप के संबंध में, संस्कृत के भिन्न भिन्न ग्रंथों में प्राप्त सामग्री अधिक है। इस संबंध में प्राप्त शिलालेख भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। यदि हम प्राचीन भारत-संबंधी क़ीमतों तथा अन्य विषयों पर अन्वेषण करना चाहें तो इस सब सामग्री का एकत्रित करना तथा उस को क्रम-रूप से तालिकाओं में अंकित करना बहुत ही आवश्यक है।

इस लेख मे मैं तोल के संबंध में कुछ विचार प्रकट करूँगा।

तोल के बट्टों तथा उन के छोटे बड़े भेदों के संबंध में पहिला प्रश्न यह उठता है कि, इन का आधार क्या है? इन का प्रारंभ कैसे हुआ? सब के सब बट्टे क्या भारत ने ही निकाले या इन में कुछ बाहर के भी हैं? हमारे पास इतनी सामग्री नहीं है कि वैज्ञानिक दृष्टि से हम बट्टों के प्रारंभ के प्रश्न को उठा सकें। जो कुछ किया जा सकता है वह यही है कि हम विश्लेषण कर देखें तथा उसी से किसी एक परिणाम पर पहुँचें। निम्न-लिखित तालिका का यदि सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण किया जाय तो स्पष्ट हो सकता है कि क्या अपना है और क्या दूसरों का है :—

तालिका—(१)

[क]

प्राचीन काल के आधारभूत छोटे बट्टे

१ रत्ती = १·८ ग्रेज (लगभग) = १ माषक

२ रत्ती = ३·६ „ „ = १ माषक

[ख]

सोना, ताँबा तथा चाँदी के तोलने के बट्टे

सोना, ताँबा तथा चाँदी
का पल
३२० रत्ती=५७६ ग्रेंज=१ पल

प्रश्न उठता है कि पल से पहिले जितने बट्टे हैं उन में ताँबे सोने के बट्टे एक क्यों हैं ? और चाँदी के बट्टे भिन्न क्यों हैं ? पल पर आ कर सोने, ताँबे, चाँदी के बट्टे एक क्यों हो गये ? जहाँ तक हमारा ख़्याल है ताँबे सोने के बट्टों का आविष्कार भारत में हुआ। चाँदी का कर्ष उन लोगों का बट्टा है जो कि भारत में चाँदी बेच कर भारत से कपड़ा आदि अपने अपने देशों मे बेचने के लिए ले जाते थे।

हम को तो डाक्टर एफ़्० डवल्यू० टॉमस (F. W. Thomas) का मत युक्त मालूम पड़ता है। उन्हों ने रॉयल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में अपना एक नोट लिखा है जिस का संक्षेप इस प्रकार दिया जा सकता है :—

"शब्द कर्ष एक बट्टे के अर्थ मे—जिस से कार्षापण, पण नामक सिक्कों का घनिष्ट संबंध मालूम पड़ता है—हिंदुस्तान का अपना है। इस का कृष् धातु से संबंध है ऐसा कनिंगहम का मत तथ्य नहीं प्रतीत होता। ईरानी कोश में कर्ष शब्द बट्टे के अर्थ में दिया है। डाक्टर एल० एच० ग्रे ने (जर्नल अव् दि ओरियंटल सोसाइटी, जिल्द २०, पृ० ५४-५५) में ईरानी कर्ष का भारतीय कर्ष

से मिलान किया है छठी सदी ईसा से पूर्व मिश्र देश के अरामेक् उपनिवेश में कर्ष बट्टा कर्ष के नाम से चलता था। (देखो : Professor Sachau's Aramäische Papyrus und Ostraka. Leipzig, 1911, Index तथा E. Meyer's Der Papyrusfund Von Elephantine, Leipzig, 1912, p. 56) । कर्ष का जो भी उद्गम-स्थान हो इस में संदेह नहीं है कि यह भी वैदिक मन या मीन के सदृश पच्छिमी एशिया से भारत में प्रविष्ट हुआ ।"[1]

कर्ष, मन, मीन के सदृश धानक नामक बट्टा भी बाहर का मालूम पड़ता है। नारद तथा बृहस्पति स्मृति के अनुसार यह चार ताँबे के पण के बराबर था। चाँदी में इस की क़ीमत १४ ग्रेंज होती है। आश्चर्य की बात है कि, ईरानी दानक (dānaq) नामी सिक्के से यह भार में बिल्कुल मिलता जुलता है। सारांश यह है कि चाँदी के बट्टे बाहर से आए मालूम पड़ते हैं। ताँबे सोने के बट्टे भारतीय हैं।

प्राचीन भारत में बट्टों का विकास कैसे हुआ यह प्रश्न बहुत ही पेचीदा मालूम पड़ता है। इस पर बहुत सामग्री नहीं मिलती। जो कुछ मिलता है वह यही है कि नंद के ज़माने में बट्टे चले ('नंदोपक्रमाणि हि मानानि')। हमारा विचार है कि कदाचित् भट्टोजी दीक्षित के इस वाक्य का आधार किसी प्रथा पर है। इस में संदेह भी नहीं है कि मौर्य-काल में कलिंग तथा मगध के बट्टे सरकारी तौर पर, प्रामाणिक समझे जाते थे। कौटल्य अर्थशास्त्र में 'तुलामान पौतवम्' शीर्षक एक प्रकरण है जो कि कौटल्य के समय में प्रचलित बट्टों पर बहुत ही अधिक प्रकाश डालता है। कौटल्य लिखता है कि:—

पौतवाध्यक्ष तोल माप के बट्टे के बनाने आदि के कामों को करे।

धान्य के दस दाने या पाँच रत्ती का एक सोना तोलने का मासा होता है। ऐसे सोलह का सोना तोलने का कर्ष होता है।

चार कर्ष का पल होता है।

---

[1] १९१६, पृ० २६६।

अस्सी सफ़ेद सरसों का चाँदी तोलने का मासा होता है

उन सोलह का या बीस शैव्य का चाँदी तोलने का धरण होता है

बीस चावल का हीरे का धरण होता है।

आधा मासा, मासा, दो, चार, आठ मासा, दो सुवर्ण, आठ सुवर्ण, बीस, तीस, चालीस, सौ इत्यादि।

इस के द्वारा सब धरणों की व्याख्या कर दी।

पत्थर के बट्टे प्रतिमान कहलाते हैं। मागध बट्टे एक ऐसे पत्थर के है, जो कि पानी आदि से बढ़ते नही और गरमी से घटते नही।[1]

बट्टों के सदृश कौटल्य ने लोहे की तराज़ू बनाने का संपूर्ण दिया है।[2] इस के बाद उसी प्रकरण मे उस ने बड़े बड़े बट्टों के संबंध मे

---

[1] पौतवाध्यक्षः पौतवकर्मान्तान् कारयेत्।

धान्यमाषा दशसुवर्णमापकः पञ्च वा गुञ्जाः।

ते षोडश सुवर्णः कर्षो वा।

चतुः कर्षं पलम्।

अष्टाशीतिर्गौर सर्षपा रूप्य माषकाः।

ते षोडश धरणम्। शैव्यानि वा विंशतिः।

विंशति तण्डुलम् वज्रधरणम्।

अर्धमाषकः, माषकः, द्वौ, चत्वारः, अष्टौ माषकाः, सुवर्णौ द्वौ, चत्वारः, सुवर्णाः, दश विंशतिः त्रिंशत् चत्वारिंशत्, शतमिति।

तेन धरणानि व्याख्यातानि।

प्रतिमानान्यायो मयानि मागधमेकशैलमयानि, यानिवा, नोदक प्रदे वृद्धिं गच्छेयुरुष्णेन वा ह्रासम्।

(कौटल्य अर्थशास्त्र, मैसूर, २ संस्करण, पृ० १०३, प्रकरण ३७)

[2] षडङ्गुलादूर्ध्वमष्टाङ्गुलोत्तराः दशतुलाः कारयेल्लोहपलादूर्ध्वमेकपल यन्त्रमुभयतः शिक्यं वा।..........तस्याः शतपदादूर्ध्वं वि पञ्चाशत्, शतमिति पदानि कारयेत्। (पूर्वोद्धृत ग्रंथ। पृ० १०३-१

कुछ बातें लिखी हैं वह बहुत ही आवश्यक हैं। क्योंकि उन्हीं के सहारे भारत के बट्टों का इतिहास मुसलमानी काल तक पहुँच जाता है। वह लिखता है कि—[1]

२० तोले का १ भार।

१० धरण का १ पल।

१०० पलों का १ आयमानी।

पाँच पल घटाते हुए व्यावहारिकी, भाजिनी, अंतःपुरभाजिनी नामक बट्टे (बनाए जायँ)।

उन का पल भी आधा धरण कम होता है।

इस के बाद वह उस समय के प्रचलित धातु के मापों को देता है। उस के अनुसार—

---

[1] विंशति तौलिको भारः।
दशधरणिकं पलम्।
तत्पल शतमायमानी।
पञ्चपलावरा व्यावहारिकी भाजन्यंतःपुरभाजिनी च।
तासामर्धधरणावरं पलम्। द्विपलावरमुत्तरलोहम्।
षडङ्गुला वराश्चायामाः।.......................
....
अथ धान्यमाषद्विपलशतं द्रोणमायमानम्।
सप्ताशीति पलशतमर्धपलंच व्यावहारिकम्।
पञ्चसप्तति पलशतं भाजनीयम्।
द्विषष्टि पलशतमर्धपलं चान्तःपुरभाजनीयम्।
तेषामाढकप्रस्थकुडुम्बाश्चतुर्भागावराः।
षोडशद्रोणा वारी।
विंशति द्रोणिकः कुम्भः।
कुम्भैर्दशभिर्वहः।
(पूर्वोद्धृत ग्रंथ। पृ० १०२)

२०० पल का १ द्रोण (आयमान)
१८७½ " " (व्यावहारिक)
१७५ " " (भाजनीय)
१६२½ " " (अंतःपुरभाजनीय)
इन के आढ़क, प्रस्थ, कुड़व क्रमशः एक एक चौथाई होते हैं।
१६ द्रोण का १ वारी।
२० द्रोण का १ कुंभ।
१० कुंभ का १ वह।

ऊपर लिखे बट्टों में २००, १८७½, १७५ तथा १६२½ पलों का द्रोण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इन चारों द्रोणों में एक दूसरे के अंदर १२½ पल का अंतर है। यह अंतर इतना क्रमबद्ध है कि स्वाभाविक है कि यह प्रश्न उठे कि ऐसा क्यों? क्या उद्देश्य था जिस से चार प्रकार के द्रोण चलाए गए और उन में भी १२½ का भेद रक्खा गया। हमारी समझ मे तो इस का संबंध उस समय की कर-प्रणाली से था। गेहूँ तथा अनाज पर जो टैक्स था वह दूसरे बट्टों को काम में ला कर इकट्ठा कर लिया जाता था। मध्यस्थ, दलाल, तोलने वाले आदि भी अपना अपना हिस्सा इसी तरह ले लेते थे। दृष्टांतस्वरूप बनारस को लो। शहर के लोग जब कभी दशाश्वमेध में आलू खरीदते है उन को उसी भाव में आलू मिलता है जो कि कमच्छा तथा विश्वेश्वरगंज की सट्टी में है। प्रश्न उठता है कि कुँजड़े ने कहाँ से कमाया। होता क्या है कि कुँजड़ा कमच्छा या विश्वेश्वरगंज की सट्टी से एक आना सेर आलू खरीदता है और दिखावे में इसी भाव पर दशाश्वमेध में बेच देता है। कमच्छा तथा विश्वेश्वरगंज का सेर तोल में बड़ा है और दशाश्वमेध का बहुत छोटा। परिणाम इस का यह है कि दोनों सेरों मे जो भेद है वही उस को आमदनी के रूप में मिलता है। यही प्रणाली भारत के प्राचीन काल में प्रचलित थी— कौटल्य ने जो द्रोणों का भेद दिया है, हम को तो यही मालूम पड़ता है।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि आढ़क, प्रस्थ, कुड़व—द्रोण के क्रमशः एक दूसरे के चौथाई थे (४ कुड़व १ प्रस्थ ४ प्रस्थ=१ आढक ४ आढ़क=

१ द्रोण) इस के अतिरिक्त एक और द्रोण था जिस का वर्णन प्रायः आयुर्वेद शास्त्र में तथा स्मृतियों में मिलता है। यह तोल में २५६ पल का था।[1] इसी प्रकार दक्खिनी भारत में वट्टे चलते थे। उन में भी उत्तरी भारत का क्रम था इस पर अब तक किसी ने भी प्रकाश नहीं डाला। भारत के वट्टों के अंदर एक प्रकार की एकता थी— चाहे वह वट्टे दक्खिन भारत के हों और चाहे उत्तरी भारत के। यह सब के सब वट्टे मुसलमानी काल तक चलते रहे या नहीं इस को जानने के लिये यह आवश्यक है कि उन को अकबरी दाम मे परिवर्तित किया जाय। प्राचीन भारत के वट्टों के तुल्य आजकल कौन से वट्टे हैं इस का जानना भी आवश्यक है। इस के लिये यह आवश्यक है कि उन को आंग्ल पाउंड में परिवर्तित किया जाय।

तालिका २ मे ६ खाने बनाए हैं। क, ख, ग, घ, ङ, च,। उन में ६ प्रकार

---

[1] चतुः कर्षैः पलं प्रोक्तं दशाषण्मितं बुधैः।
चतुः पलैश्च कुडवं प्रस्थाद्या पूर्ववन्मताः॥
पलाभ्यां प्रसृतिर्ज्ञेया प्रसृतश्चनिगद्यते।
प्रसृतिभ्यामञ्जलिः स्यात्कुडवोर्ध शरावकः॥
अष्टमानञ्च संज्ञेयम् कुडवाभ्यांच मानिका।
शरावोऽष्टपलं तद्वज्ज्ञेयमत्र विचक्षणैः॥
शरावाभ्यां भवेत्प्रस्थश्चतुष्प्रस्थैस्तथाढकम्॥
भाजनं कंसपात्रंच चतुःषष्टिपलं च तत्॥
चतुर्भिराढकैर्द्रोणः कलशोनल्वणोन्मतौ।
उन्मानश्च घटो राशि द्रोण पर्यायसंज्ञकाः॥
द्रोणाभ्यां शूर्पं कुम्भौ च चतुःषष्टि शरावकाः।
शूर्पाभ्यां च भवेद् द्रोणी वाहो गोणी च सास्मृता॥
द्रोणी चतुष्टयं खारी कथिता सूक्ष्मबुद्धिभिः।
चतुः सहस्र पलिका षण्णवत्यधिका च सा॥
(शार्ङ्गधर संहिता वेङ्कटेश्वर प्रेस, संस्करण संवत् १९७६, पृ० १० १३)

के बट्टे जो कि प्राचीन भारत में प्रचलित थे दिए गए हैं। प्रत्येक खाने को दो भागों में विभक्त किया है। एक में प्राचीन बट्टे का तोल अकबरी दाम में और दूसरे में उस का तोल आंग्ल तोल (पाउंड) में दिया है। हर एक तोल के सामने उस का नाम दे दिया है। हर एक बट्टे में जो भेद है और उन का एक दूसरे के साथ जो संबंध है वह पल आदि के नीचे दे दिया है।

उपरोक्त तालिका के अकबरी दाम का भार ३२४ ग्रेंज है। दक्खिनी भारत के मापों का वर्गीकरण तथा उन का उत्तरी भारत के बट्टों के साथ मिलाना सुगम काम नहीं है। मरक्काल का भार भी हम ने अंदाज से दिया है। महाशय एच० एच० विल्सन के अनुसार "मरक्काल वह तोल है जो कि मद्रास मे ८ 'पदी' के बराबर समझा जाता है। यह एक कलम का बारहवाँ भाग है। पुराने जमाने में यह ७५० वर्गीय इंच (cubic inches) था और आज कल ८००। ४०० मरक्काल का एक गरीसा या गर्से होता है। एक मरक्काल भार में ९०० रुपये के बराबर या १२ सेर या २४ पाउंड तथा ६ आउंस होता है।" महाशय विल्सन के इस कथन से स्पष्ट है कि पुराने जमाने के ७५० वर्गीय इंच वाले मरक्काल का तोल २२१ पाउंड के बराबर था। महाशय मोरलैंड का कहना है [१] कि १६ वीं सदी में दक्खिनी मन २५ पाउंड से २७ पाउंड के लगभग था। संस्कृत ग्रंथों का द्रोण ऊपर लिखी तालिका के अनुसार २१ पाउंड के लगभग था। प्राचीन काल की क़ीमतों के तथा मजदूरी में दिए गए मेहनतानों के अध्ययन से मैं तो इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ कि प्राचीन काल का द्रोण तथा दक्खिनी भारत का मरक्काल किसी भी रूप में भिन्न भिन्न बट्टे न थे। अकबरी दाम को यदि हम ३२४ ग्रेंज या १८० रत्ती के बराबर मान लें तो प्राचीन भारत के बट्टों का मध्यकालीन तथा नवीन बट्टों में परिवर्त्तित करना कुछ कुछ सुगम हो जाता है।

उपर्युक्त तालिका से यह भी सिद्ध है कि भिन्न भिन्न तोल का प्रस्थ या सेर पुराने जमाने में प्रचलित था। इस का भार १८, २०, २१, २२, तथा २८

---

[१] मोरलैंड, फ़्रम अकबर टु औरंगजेब, १९२३, पृ० ३३६

दाम था। आइन-ए-अकबरी से यह मालूम पड़ता है कि इस भार का प्रस्थ १६ वीं सदी तक प्रचलित था। अबुलफ़ज़ल लिखता है कि "पुराने ज़माने में हिंदुस्तान में सेर का भार १८ दाम था और कहीं कहीं पर यह २२ दाम के भी बराबर था। सम्राट् अकबर के समय के आरंभ में इस का भार २८ दाम था। आजकल इस को बढ़ा कर ३० दाम तक कर दिया गया है--- प्रत्येक दाम ५ टंक के बराबर होता है।[1] इसी प्रकार महाशय मोरलैंड का कहना है कि १६३४-५ तक गुजरात में १८ दाम का सेर प्रचलित था। आगे इस को २० दाम के बराबर कर दिया गया[2]। हमारी समझ में तो यह सेर बहुत ही प्राचीन है। कौटल्य के अनुसार उन में से एक तो रनवास में चलता था और दूसरा नौकरों को भत्ता देने में काम आता था। यह अंतःपुरभाजनीय तथा भाजनीय नाम से पुकारे जाते थे।[3] ऊपर लिखी तालिका में यह दोनों क तथा ख खाने में दिए गए हैं। ३६ दाम का प्रस्थ, जो कि गुजराती सेर का दोगुना था, बंगाल में १६४२ तथा उस के बाद तक चलता रहा।[4] २८ दाम का प्रस्थ जिस का संपूर्ण शास्त्रों में वर्णन है अकबर के ज़माने तक ज्यों का त्यों प्रामाणिक बना रहा। अकबर ने आगे चल कर उस का भार बढ़ा दिया तथा उस को ३० दाम का कर दिया।[5]

इस स्थिति को सामने रखते हुए यह कहना स्वाभाविक है कि मुसलमानी शासकों ने तोल तथा बट्टों के संबंध में कुछ भी नया काम नहीं किया। जिस प्रकार उन्हों ने पुराने ज़माने के ज़मीनों के माप को लिया उसी प्रकार

---

[1] आईन-ए-अकबरी, जिल्द २, पृ० १२५।

[2] मोरलैंड, 'फ़्रम अकबर टु औरंगज़ेब' पृ० ३३६।

[3] पञ्चसप्तति-पल-शतं भाजनीयम्।

द्विषष्टि पल शतं अर्धपलं चान्तःपुर-भाजनीयम्॥

(कौटल्य अर्थशास्त्र, पृ० १०४)

[4] मोरलैंड 'फ़्रम अकबर टु औरंगज़ेब' पृ० ३३६।

[5] वही पृ० ३३३ ३७

उन्हों ने बाजार में चलते बट्टों तथा तोलों को। इस में संदेह भी नहीं है कि भारत के शासक होते हुए उन का यह कर्त्तव्य था कि वह राज्य प्राप्त करने के बाद बाजारी बट्टों की देख रेख करें तथा उन को प्रामाणिक करें जिस से कारोबार बंद न हो। उस कर्त्तव्य को उन्हो ने निभाया। कोई ऐसा नया काम उन्हो ने इस संबंध में नहीं किया जिस से उन को तोल तथा बट्टों के विषय में महत्त्व मिले।

जहाँ तक तोल माप के निरीक्षण का प्रश्न है प्राचीन काल के हिंदू राजे इस को सदा से ही करते रहे हैं। कौटल्य के अनुसार तो बट्टों तथा मापों के बनवाने तक का सरकार का काम था।

उस ने बट्टों तथा तोलों का जो सरकारी दाम दिया है वह बहुत ही महत्त्व-पूर्ण है।[1] और वह नीचे लिखी तालिका में इस प्रकार दिखाया जा सकता है:—

तालिका—(२)

धान मापने के माप	तांबे के मासे तथा पण में कीमत
कुड़व (=४ पल; १ पल=५७६ ग्रेंज)	१ माषक
प्रस्थ (=४ कुड़व)	६ माषक
आढ़क (=४ प्रस्थ)	$\frac{3}{4}$पण (=९ माषक)
द्रोण (=१६ प्रस्थ या ४ आढ़क)	१$\frac{1}{4}$ पण
प्रतिमान (लोहे के बट्टे)	२० पण
तुला (तराजू)	६$\frac{2}{3}$ पण

[1] सपादपणो द्रोण मूल्यम्।
आढकस्य पादोनः।
षण्माषकाः प्रस्थस्य।
माषकः कुडुवस्य।
द्विगुणं रसादीनां मान मूल्यम्।
विंशति पणाः प्रतिमानस्य।
तुला मूल्यं त्रिभागः।
(कौटल्य, अर्थशास्त्र, मैसूर, द्वितीय संस्करण, पृ० १०५।)

कौटल्य ने जो सरकारी हस्तक्षेप बट्टों तथा मापों के संबंध में आवश्यक माना उस का मुख्य कारण यही मालूम पड़ता है कि वह जनता को बनियों की बेईमानी से बचाना चाहता था। व्यापार-व्यवसाय की वृद्धि में ईमानदारी का बड़ा भारी भाग होता है। यदि बट्टों तथा मापों में जाल-साजी चलने लगे तो लेन देन में असुविधा का अंत न रहे। कौटल्य के अनुसार संस्था-ध्यक्ष तोल माप का नियमपूर्वक निरीक्षण करे। द्रोण तथा परिमाणी नाम के बट्टे में आधे पल का भेद कोई अपराध नहीं है। परंतु यदि उन में एक पल का भेद हो तो दूकानदार पर १२ पण का जुरमाना किया जाय। ज्यों ज्यों बट्टों तथा मापों में भेद बढ़े उन पर जुरमाना भी बढ़ाया जाय। तराजू (तुला) में एक कर्ष का फ़रक कोई अपराध नहीं है। परंतु यदि तराजू से दो कर्ष का फ़रक हो तो तोलनेवाले पर छ पण का जुरमाना किया जाय। ऊपर लिखे नियम के अनुसार तोल मापने में जैसा ज्यादा कम फ़रक हो वैसा ही जुरमाना भी ज्यादा कम होना चाहिए।[1]

---

[1] संस्थाध्यक्षः पण्यसंस्थायां पुराणभाण्डानां स्वकरणविशुद्धानां स्थापनं विक्रयं वा स्थापयेत् ॥

तुलामान भाण्डानि चावेक्षेत, पौतवापचारात् ।

परिमाणी द्रोणयोरर्धपलहीनातिरिक्तमदोषः;

पलहीनातिरिक्ते द्वादशपणो दण्डः; । तेन पलोत्तरा

दण्डवृद्धिर्व्याख्याता ।

तुलायाः कर्षं हीनातिरिक्त अदोषः; द्विकर्षे हीनातिरिक्ते

षट्पणो दण्डः । तेन कर्षोत्तरा दण्डवृद्धिर्व्याख्याता ।

आढकस्यार्धं कर्षं हीनातिरिक्तमदोषः; कर्षं हीनातिरिक्ते

त्रिपणो दण्डः । तेन कर्षोत्तरादण्ड वृद्धिर्व्याख्याता ।

(कौटल्य, अर्थशास्त्र, मैसूर संस्करण, पृ० २०४-२०५)

चित्रकार "कवि" मोलाराम की चित्रकला और कविता

[लेखक—श्रीयुत मुकंदीलाल, बी० ए० (आक्सन), बार-एट्-ला]

[१]

हिंदी ग्रंथकर्ताओं के नामों का अभाव

संस्कृत भाषा में लिखने वाले ग्रंथकारों में अपने रचे ग्रंथों पर अपने नाम लिखने की प्रथा न थी। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि संस्कृत में लिखने वाले प्रायः संन्यासी व आचार्य लोग होते थे, जो कि त्यागी पुरुष थे और निष्काम कार्य करते थे। अपने कर्म के फलों के इच्छुक नहीं थे। आत्म-त्याग की मात्रा उन में बहुत अधिक थी। वे अपने विचारों को मानव जाति की भलाई के लिए छोड़ना चाहते थे। इसी लिए संस्कृत में लिखी पुस्तकों पर ग्रंथकर्ताओं के नाम नहीं मिलते हैं। जहाँ कहीं नाम मिले हैं, वे परोक्ष रूप से व प्रसंगवश, अनायास ही मिले हैं।

संस्कृत ग्रंथकर्ताओं के नामों का अभाव

प्राचीन हिंदी लेखक, प्रायः सब ही संस्कृत में लिखने वालों का अनुकरण करते थे। प्राचीन हिंदी में जो ग्रंथ हैं उन के ग्रंथकर्ता भी अपने नाम ग्रंथों पर नहीं लिखते थे। जहाँ कहीं हिंदी के बड़े बड़े कवियों के नाम उन के ग्रंथों पर मिले हैं वे परोक्ष रूप से मिले हैं। यथा तुलसीदास जी ने अपना नाम अपनी "सतसई" के २९ वें दोहे के पहिले पद में लिखा है—

प्राचीन हिंदी के ग्रंथकर्ताओं के नाम कहाँ तक व कैसे पाए जाते हैं

तुलसी हर हित बरन सिसु संपति सहज सनेह।

विहारी ने अपनी "सतसई" के ७१३ वें दोहे के दूसरे पद में लिखा है।

करी विहारी सतसई भरी अनेक सवाद ॥

रसनिधि ने अपनी "सतसई" के ३६ वें दोहे के दूसरे पद में लिखा है—

रसनिधि मन में नित बसैं चरन कमल अभिराम।

यदि ये दोहे इन सतसइयों की नक़ल करने वाले हटा देते और असली उन के हाथ की सतसई न मिलती तो आज हम यह न कह सकते कि किस ने उन को रचा था। हाल में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से हस्त-लिखित हिंदी पुस्तकों की छान-बीन की गई है। इस सिलसिले में पता लगा है कि आधे हस्त-लिखित, अप्रकाशित ग्रंथों में कहीं भी उन के रचने वालों का नाम नहीं। इस से यह मानना पड़ेगा कि नाम लिखने की प्रथा हिंदू लेखकों में नहीं या बहुत कम थी।

[२]

चित्रकारों के नामों का अभाव

यदि भारतवर्ष के सब चित्रकारों के नाम हमें मिलते तो कम से कम दस लाख से कम नाम न होते। संसार का कोई देश नहीं जहाँ भारतीय चित्र हज़ारों की संख्या में, राज-प्रासादों में, अमीरों के महलों में, चित्रशाला व अजायब-घरों में, न हों। उन के बनाने वालों के नामों का पता नहीं लगता। यदि इस समय संसार में बिखरे हुए सब भारतीय चित्र देखे जायँ तो अधिक से अधिक सौ नाम मिल सकेंगे। वे नाम भी प्रसंगवश या किसी कोने पर यों ही लिखे मिलेंगे। जो नाम मिलते भी हैं उन की बाबत यह नहीं कहा जा सकता है कि वे नाम चित्रकारों के हैं, या उन के जिन के लिए वे चित्र बनाए गए हों, या जिन्हों ने उन्हें ख़रीदा हो, या जिन के पास वे चित्र रहे हों। तथापि ऐसे कुछ लक्षण कहीं कहीं पाए जाते हैं, जिन से यह कहा जा सकता है कि कम से कम कुछ नाम तो चित्रों पर अवश्य चित्रकारों के हैं तथापि

विदित होता है कि हिंदू ग्रंथ-कर्ताओं की तरह हमारे चित्रकार लोग भी अपने नाम चित्रों पर नहीं लिखते थे। अजंता की गुफाओं की दीवारों पर जो अलौकिक चित्र बने हैं उन के बनाने वालों के नामों का कहीं पता नहीं। वहाँ आखिरी चित्र द्वितीय पुलिकेशिन के समय में (६०८-६४८) बने थे। इस का सबूत तो अवश्य है। जैसे कि सितन्नवासल के शिलामंदिरों की दीवारों पर बने चित्र जो अजंता व बाग़ के गुफा-मंदिर के चित्रों से मिलते हैं। उन के बनाने वालों का तो पता नहीं लगता है। किंतु इस बात का पता है कि ये राजा महेन्द्रवर्मन् (६००-६२५ ई०) के बनवाए हुए हैं। कहते हैं कि वह स्वयं भी चित्रांकण करते थे। वह अपने को "चित्रकार-पुलि" (चित्रकारों में सिंह), चित्रकारों का बादशाह अथवा चित्रकारों का शिरोमणि कहते थे। भारतीय चित्र जो दुनिया के सभ्य देशों में पाए जाते हैं उन में बिरले ही ऐसे चित्र हैं जिन पर चित्रकारों के नाम पाए जाते हैं। लंदन के ब्रिटिश म्यूज़ियम में कुछ भारतीय चित्रों पर प्रसिद्ध चित्रालोचक श्रीयुत नानालाल चमनलाल मेहता आइ० सी० एस० को निम्नलिखित नाम मिले हैं।

रामबिहारी, उद्योतसिंह, सीतलसहाय, कोविदसिंह, बिशनदास, बन्दी, मनोहरदास और रामसहाय। यह संभव है कि वे स्वयं चित्रकार थे। किंतु यह तो प्रायः ठीक मालूम होता है कि भैरवराम का चित्र शीतलदास ने बनाया और इब्नू हस्सन की किताब के लिये चित्र मूलचंद ने मुसलमानी साल १०९७ हिज़री संवत् में बनाए। ये दोनों ब्रिटिश म्यूज़ियम में हैं। बिशनदास का नाम एक इंडो-इरानियन चित्र (बाबर का बाग़ बनाना) पर भी मिला है। इस लिए यह संभव है कि बिशनदास अवश्य कोई विख्यात चित्रकार थे, जो हिंदुस्तान में आगंतुक सब से पुराने मुग़ल बादशाह बाबर के दरबार में चित्र बनाया करते थे। मोलाराम के एक पूर्वज का नाम भी बिशनदास था। क्या यह संभव नहीं कि ये बिशनदास उन के ही पूर्वज थे ? इस के विषय में उपयुक्त स्थान पर आगे चल कर कुछ कहा जायगा

या हिं[illegible] चित्रों पर कु[illegible] चित्र[illegible] के नाम पा[illegible]

जाते हैं। इन के विषय बादशाहों के जीवन से संबंध रखते हैं और इन के मालिक बादशाह ही रहे होंगे, इसलिए इन नामों को बाबत हम यह कह सकते हैं कि जिन चित्रों पर उन के नाम पाए जाते हैं उन के बनाने वाले वही लोग हैं जिन के उन चित्रों पर नाम हैं। एक पोलो खेल के चित्र पर साँवला का नाम है। हुमायूँ की एक तस्वीर पर भगवती का नाम है। कासिम ने क़िले की दीवार के बनने का चित्र बनाया है। "बाबर के बाग" पर नन्हा और बिसनदास के नाम हैं। अबुल हसन ने बैलों की जोड़ी के रथ का अति उत्तम चित्र बनाया है। मंसूर विख्यात चित्रकार था।

हिंदी-ईरानी चित्रकारों के नाम

कुछ मुग़ल चित्रों पर नादिर (शेर मुहम्मद का चित्र) चित्रमन (आला-उल-मुल्कतूनी) गोवर्धन (सादिक खाँ) हूनहार (चार फ़कीर), अनूप चत्तर (औरंगज़ेब) चित्रकारों के नाम हैं। अकबर के दर्बार के विख्यात चित्रकारों के नाम हैं—बसावन, दसवंत और केसूदास।

मुग़ल चित्रकारों के नाम

राजपूत (हिंदू) चित्र-कला जिस की दो शाखाएँ हैं—राजस्थानी और पहाड़ी—उस के निर्माण-कर्ताओं में से बहुत कम के नाम मिलते हैं। जैपुर के दर्बार में एक बड़ा चित्र रास-मंडल का है। उस पर लिखा है—सबी "साहिबराम" चेतेरे बणाई। 'सबी' छबि के लिये प्रयोग किया गया है और 'चेतेरे' के मानी मारवाड़ी बोली में चित्रकार के हैं। बणाई स्पष्ट है। वहाँ एक दूसरा बड़े आकार का चित्र "गोवर्धन" का है। उस पर पारस का नाम लिखा है। संभवतः उस का चित्रकार पारस था।

राजपूत चित्रकारों के नाम

गढ़वाली चित्रकारों में से केवल तीन के नाम अबतक मिले हैं। मोलाराम, माणकू और चैतू। माणकू का नाम उन दो चित्रों में मिला है जो इस समय टेहरी (गढ़वाल)-नरेश, सर नरेंद्रसाह के० सी० एस० आइ० के चित्र-सग्रह में हैं

गढ़वाली चित्रकार माणकू और चैतू

(१) 'कृष्ण व गोपों की आँख मिचौनी खेल' एक अच्छा चित्र है। चित्र में अति रमणीय वन में एक ओर गायें कुछ आराम कर रही हैं कुछ चर रही हैं। दूसरी ओर एक गोप-बालक कृष्ण की आँखें बन्द कर रहा है। चार गोपाल छिपने के लिए भागे जा रहे हैं। आँख मींचने वाले के पीछे एक गोपाल छिप गया है, दो पेड़ों के बीच छिपे हैं; और एक ग्वाला पेड़ पर चढ़ा हुआ शाखों के बीच में छिपा है। यह चित्र गढ़वाली (पहाड़ी) राजपूत चित्रकला का एक अच्छा उदाहरण है। इस चित्र की दूसरी ओर लिखा है—"मानक की लिखी"। चित्र बनाने को चित्र-लेखन कहते हैं। इस लिए लिखी के माने हैं अंकित की।

(२) 'राधा-कृष्ण' का एक चित्र, जो कि चित्रकला के लिहाज से निम्नकला का चित्र है। उस पर एक संस्कृत श्लोक लिखा है। इस श्लोक को श्री नानालाल चमनलाल मेहता ने अपनी पुस्तक ('स्टडीज़् इन् इंडियन पेंटिंग'.) के ४९ वें पृष्ठ पर उद्धृत किया है।

मुनिगिरिसोमैः सम्मिते विक्रमाब्दे।
गुणगणितगरिष्ठा मालिनी वृत्तवित्ता॥
व्यचरदजभक्ता माणकू चित्रकर्त्ता।
ललितलिपिविचित्रं गीतगोविन्द चित्रम्॥

पहली पंक्ति में संख्या संकेत करने वाले शब्दों में चित्र के बनने का विक्रम संवत् (१८८७) दिया है (मुनि=७; गिरि=८; वसु=८; सोमै=१=१८८७)[1] मालिनी शब्द के प्रयोग के कारण इस श्लोक के अर्थ में कुछ मतभेद है। मि० मेहता ने मालिनी के चार अर्थ बताए हैं। (१) मालन अथवा मालिन; (२) स्थान का नाम; (३) किसी महिला का नाम; (४) मालिनी छन्द। हम "मालिनी" को नाम के अर्थ में लेना उचित समझते हैं मालूम होता है कि तत्कालीन टेहरी-नरेश राजा सुदर्शन के दर्बार मे को उनकी लाड़ली महिला थी जिसको वे बहुत चाहते थे। चित्रकार माणकू

[1] संवत् १८८७=सन् १८३० ई०

ने इन्हीं विष्णु की भक्त, गुणवती, रूपवती, मालिनी के मनोरंजन के लिए गीत-गोविंद जो सुन्दर अक्षरों में लिखा था उसमें (राधा-कृष्ण के जीवन से संबंध रखने वाली घटनाओं के) विचित्र चित्र बनाए। यह चित्र उन चित्रों में से एक अथवा पहिला चित्र प्रतीत होता है। कई चित्र, गीत-गोविंद के आधार पर बने हैं। जिनके विषय में यह कहा जा सकता है कि वे माणकू ने अंकित किए होंगे। यह भी मुमकिन हो सकता है कि इस चित्र में जो राधा व कृष्ण अटारी पर बैठे दिखाए गए हैं उन से चित्रकार का मतलब राजा सुदर्शन शाह व मालिनी से हो।

चैतू का नाम एक चित्र, यादव-महिला-हरण पर है जो टेहरी महाराज के संग्रह में है। यह चित्रकार का नाम प्रतीत होता है। माणकू की तरह चैतू भी पहाड़ी नाम है। ये दोनों नाम अब भी गढ़वाल में पाए जाते हैं। मालिनी (माणकू), यादव-महिला-हरण (चैतू) की चित्रांकण शैली मोलाराम की चित्रकला से बहुत मिलती है। इसलिए माणकू व चैतू का मोलाराम का शिष्य होना सम्भव है।

यहाँ पर हम यह कह देना जरूरी समझते हैं कि गढ़वाल के राजा श्रीनगर छोड़ कर सन् १८०३ में टेहरी में जा बसे थे। अस्तु उस के बाद का टेहरी का इतिहास किसी से छिपा नहीं होना चाहिये। हम ने टेहरी के योग्य इतिहास-लेखक पं० हरिकृष्ण रतूड़ी से पूछा कि वे चैतू, माणकू और मालिनी की बाबत टेहरी के पुस्तकालय या हस्तलिखित पुस्तकों अथवा दन्त-कथाओं के आधार पर कुछ बता सकते हैं। २६ मई १९३२ के पत्र में उन्हों ने उत्तर में लिखा कि मानकू, चैतू व मालिनी की बाबत उन को कोई पता नहीं लगा, न इन नामों के कोई चित्रकार व महिला सुदर्शन शाह[1] के समय में टेहरी में थी। मोलाराम की बाबत वे भी लिखते हैं कि उस के

---

[1] सुदर्शनशाह अपने पिता प्रद्युम्नशाह के साथ १८०३ ई० में श्रीनगर छोड़ कर चले गए थे। सन् १८०५ से वे राज्य टेहरी में शासन में भाग लेने लगे थे, यद्यपि उन का राज्य-काल सन् १८१५ से सन् १८५९ है

हाथ के चित्र टेहरी दर्बार में भी हैं। और उसे कवि और चित्रकार टेहरी के लोग भी मानते हैं। मोलाराम के ऐतिहासिक काव्य को पं० हरिकृष्ण जी ने भी देखा है।

[३]

चित्रकार 'कवि' मोलाराम का नाम कैसे मिला

ललितशाह ने गढ़वाल में सन् १७८० ई० से १७९१ ई० तक राज्य किया। उन की राजधानी श्रीनगर थी। उन के चार पुत्र थे—जयकृतशाह, पराक्रमशाह, प्रद्युम्नशाह और प्रीतमशाह। उन की यह इच्छा थी कि वे अपने चारों लड़कों के लिये राज्य सिंहासन छोड़ जायँ। बड़े लड़के के लिए गढ़वाल की गद्दी थी। बाक़ी तीन के लिए वह राज्य तलाश करने लगे। वे अपने पड़ोसी राजाओं पर हाथ साफ़ करने लगे। कमाऊँ को पराजय कर वहाँ का राज्य ललितशाह ने प्रद्युम्नशाह के सिपुर्द किया। ७—८ वर्ष प्रद्युम्नशाह ने कमाऊँ में राज्य किया। ललितशाह के लालची होने के कारण मंत्रि-मण्डल को षड़यन्त्र रचने व राजा का कृपा-पात्र बनने का ख़ूब मौक़ा मिला। वे एक दूसरे के ख़िलाफ़ हो गए। वैमनस्य और ईर्ष्या ख़ूब बढ़ती गई। राजा को अपने हाथ का कठ-पुतला बनाने की ग़रज़ से मंत्री लोग एक दूसरे के ख़ून के प्यासे बन गए। रामा व धरणी दो सकलानी भाई उस समय के मुख्य राज-कर्मचारी व सेनानायक थे। वास्तव में वे गढ़वाल के कर्ता धर्ता थे। विपक्षी मंत्रियों ने दोनों भाइयों को मरवा डाला। उन में से एक की स्त्री (बेवा) नैपाल (गोर्खा) राजा के पुरोहित की बेटी थी। वह नैपाल गई, और गढ़वाल के राजकर्मचारियों के अत्याचार की बाबत नैपाल के राजा से कहा। उस ने १८०३ के फ़रवरी मास में अमरसिंह थापा और अपने चचा हस्तिदल चौतरिया को सेना लेकर गढ़वाल में आक्रमण करने को भेजा। कमाऊँ पर इस से पहिले ही गोर्खाओं ने क़ब्ज़ा कर लिया था एक बार पहिले भी सन् १७९१ में गोर्खा गढ़वाल पर चढ़ाई कर

गढ़वाल में गोर्खाओं का आक्रमण

चुके थे। किन्तु उस समय वे लैन्सडौन के पास लंगूर गढ़ी तक पहुँच पाए थे कि वहीं से गढ़वाली सेना ने उन्हें मार भगाया।

गढ़-राज्य में स्वार्थी राजकर्मचारी ऊधम मचाने लगे। गढ़-राज्य की शक्ति गोर्खाओं का सामना करने को संगठित न हो सकी। गढ़वाली सिपाही हारते गए। गोर्खाओं ने श्रीनगर पर चढ़ाई की। प्रद्युम्नशाह अपने भाई प्रीतमशाह और पुत्र सुदर्शनशाह व अन्य कुटुम्बियों और कुछ नौकर व दर्बारियों को साथ लेकर, श्रीनगर छोड़ कर, अलकनंदा पार हो गए। और पहाड़ के रास्ते देहरादून (जो उस समय गढ़वाल राज्य के अन्तर्गत था) चले गए। श्रीनगर में गोर्खा गवर्नर हस्तिदल चौतरिया ने अपना राज्य-शासन आरम्भ किया। बारह वर्ष तक गोर्खा-शासन गढ़वाल में रहा।

मोलाराम राज-परिवार के साथ श्रीनगर छोड़ कर अलकनंदा के उस पार, टेहरी-गढ़वाल, नहीं गए। श्रीनगर में हस्तिदल चौतरिया को मोलाराम सन् १८०३ में मिले। किन्तु मालूम होता है कि मोलाराम की चित्रकला की ख्याति नैपाल की राजधानी कान्तिपुर तक पहुँच चुकी थी। मोलाराम अपने काव्य में लिखते हैं कि हस्तिदल ने उन को "कवि बीर" कह कर उन से कहा—

मोलाराम के हस्तलिखित काव्य की रचना कैसे हुई

कान्तिपुर मे किरति तुहारी सुनत रहे।
अब आँख निहारि चित्र विचित्र तुम्हारे देखे॥

हस्तिदल ने मोलाराम से गढ़वाल के पराजय के कारण पूछे—

हस्तिदल सुनि के इहे रीझे अत मन माँहि।
कहो कवि गढ़राज की अब उतपति देहो सुनाइ॥
क्यों कर राज हाथ न आयो, अपनो कैसे करहिं गंवायो।
विद पूर्वक अब देहो सुनाई, मोलाराम कहो समझाई॥
हस्तिदल बूझे तुम सों, कहो तहाँ की बातहि हमसौं।

गढवाल के राजाओं का इतिहास व के राजाओं ने तिब्बत सरमोर

और कमाऊँ पर जो आक्रमण किए उन का उल्लेख करते हुए, प्रसंगवश, मोलाराम ने अपने पूर्वजों के गढ़वाल में आने के विषय में और अपनी चित्रशाला की बाबत अपने "काव्य" में लिखा है। मोलाराम के अपने हाथ के लिखे काव्य के आगे के १९ दोहे चौपाई खो गये हैं शेष दोहे, चौपाई, छन्द १२७ पृष्ठों में मौजूद हैं। पीछे के २-४ पृष्ठ और भी खो गए प्रतीत होते हैं।

मोलाराम ने अपना काव्य हस्तिदल चौतरिया के कहने पर रचा था। उस समय गढ़वाल के राजा प्रद्युम्नशाह देहरादून से टेहरी चले गए थे। मोलाराम को अपने पुराने राजा का भय नहीं था। पुराने राजा व उन की संतति के, अलकनन्दा के इस पार श्रीनगर गढ़वाल में फिर राज्य स्थापित करने की कोई आशा नहीं थी। उन की पतंग की डोर कट चुकी थी। इस लिए जो कुछ उन्हों ने अपने पूर्वजों से सुना था वह सब हस्तिदल से निर्भयता पूर्वक अपने काव्य द्वारा कह दिया।

सुलैमान शिकोह का गढ़वाल में आगमन

औरंगज़ेब के भाई दारा शिकोह का पुत्र सुलैमान शिकोह प्राणरक्षा के लिए गढ़वाल के राजा पृथिवीशाह (पृथिविपतशाह) जो तब श्रीनगर में रहते थे, के पास आया और उन का मेहमान बनकर रहने लगा। जब औरंगजेब को इस का पता लगा तो उस ने पृथिवीशाह को धमकी दी कि अगर वे सुलैमान शिकोह को बादशाह के हवाले न करें तो उन के हक़ मे अच्छा नहीं होगा। कैसे अथवा क्यों पृथिवीशाह सुलैमान शिकोह को औरंगज़ेब के हवाले करने पर राजी हुए, इस के विषय में मोलाराम ने जो लिखा हो उस के दोहे चौपई खो गए हैं। जो दोहे चौपाई अब मौजूद हैं वे यह हैं—

इह अरजी लिखि तहाँ पठाई।
बाँची जब अतिही मन आई॥
नौरंजेब भये अति राजी।
कह्यो बेग तुम जाओ काजी॥

पकड सलेमा को इत लाओ।...

[४]

सुलैमान शिकोह किस तरह औरंगजेब के हाथ आया

औरंगजेब की सेना पातली[1] (दूण) सुलैमान को लेने के लिए आई। इस की खबर जब गढ़वाल में आई राजा पृथिवीशाह (मोलाराम गलती से पृथिविपतशाह को फतेशाह कहते हैं) ने—

(चौपाई)—सब मंत्री तब पास बुलाये।

... ...

राजा कहे कहा अब कीजे।

कौन भाँत सैजादा दीजे ॥

... ...

खसिया[2] कहिं बाँध ले जैहैं।

वहाँ पकरि कै सौंप जो देहैं ॥

विप्र कहै यह मत ठहरावो।

जुगत जतन करिके ले जाओ ॥

(दोहा)—राजमंत्रि मिलहीं सबै, गये सैजादे पास।

झूटे मीठे वचन तहँ, लोग करन हि ब्यास ॥

(चौपाई)—हाथ जोड सब कहनहि लागे।

खड़े खड़े सैयजादे आगे ॥

---

[1]पातली दूण नगीना से २५ मील कोटद्वार से २६ मील रामगंगा के तट-पर ५००० एकड लम्बा मैदान गढ़वाल की तराई में है। पहिले वहाँ बस्ती (आबादी) थी। अब यह स्थान कालागढ़ बंद जंगल के अन्तर्गत एक विशाल शिकारगाह है।

[2]खसिया—क्षत्री अथवा राजपूत

हजरत फौजें मुकलि आई।
चलिये जल्दी करैं लड़ाई॥

... ...

मोलाराम ने गढ़वाली सैनिकों का वर्णन अपने काव्य में किया है जो कि बड़ा रोचक एवं पढ़ने लायक है। उस से विदित होता है कि उस समय के गढ़वाली सैनिकों के पास शस्त्र क्या होते थे, उन की पोशाक क्या थी और क्या क्या सामान वे अपने साथ रण-क्षेत्र में ले जाते थे। मोलाराम की कविता के दृष्टान्त देते हुए गढ़वाली सेना का विवरण मोलाराम के शब्दों में अन्यत्र दिया जायगा।

शाहज़ादे सुलैमान शिकोह के सामने गढ़वाली सेना खड़ी कर युवराज मेदिनीशाह ने सुलैमान शिकोह से कहा—

कुली पाछे जिनस लावै।
संग दिवान जू तिनके आवै॥
तुमहूँ बैठो डाक के माहीं।
हमहूं संग चलत है ताहीं॥
श्यामदास जू के हरदास।
पिता पुत्र रहे माल के पास॥
कुली मुलक से पाछे आवे।
माल असबाब सभी ओ लावे॥

... ...

इस तरह सुलैमान को गढ़वाली सेना के साथ उस का सेनापति बनाकर—

इनसों साह सलेम ठैं 'गये।
जलदी सौंप जो तिन पै दये॥
पकड़ सैजादा सलेम ले गये।
जल्दी सौंप जो तिन पै दये॥
पकड़ सैजादा उनहूँ लीना।

गढ़ महि जाके जपति कीनी।
जिनस सब हजरत की लीनी॥
जो सैजादे को गढ़ छूट्यो।
माल बादसाही सब लूट्यो॥
जपद दिवान मुसद्दी कीने।
राखे कैद लूट सब लीने॥
श्यामदास अरु हरदास ही।
पिता पुत्र दोउ राखे पास ही॥

अस्तु मोलाराम के पूर्वज सुलैमान शिकोह के साथ श्रीनगर गढ़वाल में आए थे। उन का नाम था श्यामदास और हरदास (पिता-पुत्र) और सुलैमान शिकोह के औरंगजेब के हाथ आजाने पर वे श्रीनगर में रह गए। मोलाराम कहते हैं कि राजा पृथिविपतशाह ने—

मोलाराम के पूर्वज गढ़वाल मे कैसे रह गए?

कूँवर जान दिवानहि जाने।
राखे हित सौ अत मन माने॥
तब सो हम गढ़ माँझ रहाये।
हमरे पुरखा या विद आये॥
तिनके बंस जनम हम धारा।
मोलाराम नाम हमारा॥
सुनो चौतरा साहब काजी।
तब सौं गढमहि रहे वे राजी॥
....
पाँच रुपैया रोज लगायो॥
साठ गाँउ जागीर ही दीने।
अपने वह उस्तादहि कीने॥
पढ़ी पारसी तिन के पास हि।
रहे होय जो तिन के दास हि॥

नजर बंद करि राखे पास्या।.....

हरदास के पुत्र हीरालाल, उन के मंगतराम और मंगतराम के मोला-राम हुए। मोलाराम का जन्म-सन् १७६० ई० मे हुआ। और उन का देहान्त सन् १८३२ ई० में अपने जन्म-स्थान, श्रीनगर, गढ़वाल, में अलकनन्दा (गंगा की मुख्य शाखा) के तट पर हुआ।

[५]

मोलाराम का काव्य और उसमें उल्लिखित ऐतिहासिक घटनाएँ

मोलाराम ने अपने काव्य की रचना गोर्खा-गवर्नर हस्तिदल चौतरिया के अनुरोध करने पर की। यह काव्य अपने व अपने वंश की प्रशंसा अथवा अस्तित्व के लिये नहीं लिखा गया था। जो कुछ मोलाराम ने अपने पूर्वजों के गढ़वाल में आने के विषय में उन से सुना वही हस्तिदल से दोहा चौपाइयों मे (तुकबन्दी द्वारा) कह दिया। इस काव्य में गढ़वाल के राजाओं का संक्षिप्त इतिहास है और उन के पराक्रम व गढ़वाल पर जो आक्रमण और गढ़वालियों ने अन्य देशों पर जो चढ़ाइयाँ कीं वह सब लिखी हैं। मोलाराम के काव्य की घटनाएँ इतिहास से मिलती हैं।

सुलैमान शिकोह जब (सन् १६५८ ई०) श्रीनगर (गढ़वाल) आए थे उस समय पृथिवीशाह गढ़वाल के राजा थे। उन का राज्यकाल सन् १६५४ ई० से १६७८ ई० तक है। यद्यपि उन के पुत्र, युवराज मेदिनीशाह राज्य सिंहासन पर सन् १६७८ ई० में बैठे थे और उन्हों ने सन् १७८४ तक राज्य किया, किन्तु मालूम होता है कि, युवराज मेदिनीशाह की, राज्य-शासन में, बहुत चलती थी। सुलैमान शिकोह को औरंगज़ेब के हवाले करना वास्तव मे उन के ही षड्यंत्र का फल था। मोलाराम ने घटनाओं की तारीख़ व साल अपने काव्य में नहीं लिखा है।

प्रोफ़ेसर सरकार औरंगज़ेब के सब से बड़े इतिहास-लेखक माने जाते हैं उन्हों ने अपने इतिहास के द्वितीय काण्ड के २२ वें अध्याय में

विस्तार-पूर्वक सुलैमान शिकोह के गढ़वाल के राजा के पास आने के विषय में लिखा है। सन् १६५८, मई मास में सुलैमान शिकोह अपने पिता दारा शिकोह के दल में सम्मिलित होने के लिये अपनी सेना को लेकर लाहौर जाना चाहते थे। औरंगजेब की फौज ने उन का पीछा किया। तब सुलैमान शिकोह गढ़वाल के राजा पृथिवीशाह[1] के राज्य में शरण लेने को उत्सुक हुए। राजा पृथिवीशाह स्वयं श्रीनगर से सुलैमान के स्वागत के लिये कुछ पड़ाव आगे रास्ते में आए और इस शर्त पर उन्हें अपना अतिथि बनाना स्वीकार किया कि वे केवल थोड़े से नौकर और अपने परिवार के लोगों को ही अपने साथ लावें; और अपनी सेना, घोड़े, हाथी सब वापिस भेज दें। क्योंकि पहाड़ की सड़क तंग थी। मुल्क गरीब होने के कारण खाने पीने की दिक़्क़त होती। एक दफ़े सुलैमान ने अपना इरादा बदल दिया। किन्तु फिर अपने दल को नगीने के आस पास छोड़ दिया। अपनी कई बेगमों को लोगों को दे दिला कर सिर्फ अपनी एक बेगम और कुछ और स्त्रियों, १७ नौकरों, व मुसाहिबों, और अपने सौतिया भाई (धाई के पुत्र) मुहम्मदशाह को साथ लेकर श्रीनगर पहुँचे। वहाँ पृथिवीशाह ने उन के लिए अपने पुराने महल की मरम्मत कराई और शाहजादे को वहीं रक्खा, उन की बड़ी खातिर की। मासूम के आधार पर प्रोफ़ेसर सरकार लिखते हैं, "राजा ने दिल्ली के शाही खान्दान के साथ रिश्ता जोड़ने की गरज से अपनी लड़की सुलैमान को ब्याह दी।" इस के विषय में मोलाराम कुछ नहीं लिखते हैं। किन्तु मोलाराम के यह लिखने से कि औरंगजेब ने

सर यदुनाथ सरकार के अनुसार सुलैमान शिकोह का गढ़वाल में आगमन

सुलेमान जब बन्द में डारे।
राम कृष्ण अल्लाह पुकारे॥

यह संकेत होता है कि सुलैमान शिकोह की हिन्दू धर्म पर श्रद्धा हो गई थी।

---

[1] पृथिवीशाह को पृथिविपतशाह भी कहते हैं। प्रोफेसर सरकार उन को पृथिविसिंह कहते हैं और उन के पुत्र मेदिनीशाह को वे मदिनोसिंह कहते हैं।

इस का कारण क्या था ? क्या सुलैमान हिन्दू बन गए थे ! या हिन्दू राजा के साथ रिश्ता जोड़ने से यह परिवर्तन हुआ ।

एक साल तक सुलैमान श्रीनगर में आराम से एकान्तवास में रहा । मासूम के कथनानुसार सुलैमान ने मुग़ल राज्य के दो चार गाँवों पर धावा किया किन्तु फिर ग़रीबी हालत में गढ़वाल में लौट आया । औरंगज़ेब ने गढ़वाल के राजा पृथिवीसिंह को डराया धमकाया कि यदि अपने राज्य को नष्ट नहीं करना चाहते हो तो सुलैमान को हमारे पास वापिस भेज दो । अन्त में २७ जुलाई १६५५ को औरंगज़ेब ने जम्मू के राजा राजरूप को सुलैमान को लेने के लिए भेजा । तब भी पृथिवीशाह ने अपने अतिथि सुलैमान को उस के ख़ून के प्यासे शत्रु (औरंगज़ेब) के हवाले नहीं किया । तब औरंगज़ेब ने गढ़राज्य के मन्त्री को कहा कि यदि तुम सुलैमान को हमारे हवाले करदो तो गढ़वाल का राज्य तुम्हे दे देंगे । मन्त्री ने सुलैमान के खाने में जहर मिलवा दिया । सुलैमान को इस का पता लग गया । सुलैमान ने यह बात राजा से कही । राजा ने उस मन्त्री का सिर कटवा दिया । तब औरंगज़ेब ने जैसिंह द्वारा कुटिल नीति का अवलम्बन किया, जैसिंह की कूटनीति व साम, दाम, दंड, भेद से भी पृथिवीशाह सुलैमान के साथ विश्वासघात करने को तैयार नहीं हुआ किन्तु युवराज मेदिनीशाह जो ज्यादा दुनियादार था देहली के बादशाह से पारितोषिक पाने की लालच में आकर अतिथि-धर्म को भूल गया । मेदिनीशाह को अपने राज्य को खो बैठने का भय भी हुआ । क्योंकि औरंगज़ेब गढ़वाल के पड़ोसी राजाओं को गढ़वाल पर आक्रमण करने के लिए भड़काने लगा था । गढ़वाल राज्य के दूण (देहरादून) के इलाके पर औरंगज़ेब ने क़ब्ज़ा कर लिया था । अस्तु मेदिनीशाह ने पृथिवीशाह को भी सुलैमान को दे देने के लिए राज़ी कर लिया । १२ दिसम्बर १६६० को औरंगज़ेब ने जैसिंह को पहाड़ की तराई पर सुलैमान को पकड़ने के लिए भेजा । यह सुन कर सुलैमान बर्फ़ानी पहाड़ों को पार कर लदाख जाने के लिए निकल भागा । गढ़वाल के राजा के सिपाहियों ने उस का पीछा किया इस लड़ाई में सुलैमान

खुद जख्मी हुआ। उस का सौतिया भाई (धाई का लड़का) मारा गया। और कुछ साथी भी मारे गए। ता० २७ दिसम्बर १६६० को सुलैमान देश भेज दिया गया। वहाँ वह रामसिह के हवाले कर दिया गया। २ जनवरी १६६१ को वह दिल्ली सलीमगढ़ किले में बन्द कर दिया गया। ता० १९ जनवरी को सुलैमान ग्वालियर के किले में कैद कर दिया गया। वहाँ "पुस्ता" (विष) के द्वारा धीरे धीरे मई के महीने मे सुलैमान मरवा दिया गया।

पं० हरिकृष्ण रतूड़ी को टेहरी दरबार के इतिहास इत्यादि हस्तलिखित लेखों को देखने का अवकाश मिला है। उन का गढ़वाल का इतिहास प्रामाणिक है। उन्हों ने प्रोफेसर सरकार के इतिहास को भी देखा है। और बर्नियर, हारडीक, विलियम्स इत्यादि अंग्रेज यात्रियों के लेखों को भी देखा है। पं० हरिकृष्ण मोलाराम व यदुनाथ सरकार के लेखों मे जो थोड़ा भेद है उसी का जिक्र यहाँ किया जायगा। रतूड़ी जी सुलैमान का एक बार पहिले आना व पहिली बार राजा का रास्ते में उन के स्वागत के लिए कई पड़ाव आगे जाने का जिक्र नहीं करते हैं। वे लिखते हैं कि सुलैमान अपनी स्त्री और कुछ और दास-दासियों और अपने दूधभाई (धाई के पुत्र) मुहम्मद को साथ लेकर कोटद्वारा के रास्ते श्रीनगर पहुँचा और राजा से मिला।[१] अपनी विपत्ति और श्रीनगर आने का सब कारण राजा से कहा। राजा सुलैमान से बड़ी इज्जत और प्रेम से मिला। उस की इज्जत के अनुकूल उस का सत्कार किया। उस को अपने यहाँ निर्भय रहने का वचन दिया और पुत्र के समान प्रेम से उस से बर्ताव करने लगा एक अलग महल सुसज्जित करके उस के रहने को दिया। औरंगजेब ने जम्मू के राजा राजस्वरूप को शाही सेना का एक बड़ा सा भाग देकर गढ़वाल के

पं० हरिकृष्ण रतूड़ी के गढ़वाल के इतिहास मे सुलैमान शिकोह का गढ़वाल आगमन

[१] गढ़वाल का इतिहास पृष्ठ २८४

राजा के पास भेजा कि लड़कर अथवा ख़ुशामद से सुलैमान को ले लेवे। राजा पृथिवीशाह एक वर्ष तक उस सेना के साथ लड़ता रहा। राजस्वरूप के पास सेना और तोप भेजी गई। परन्तु गढ़वाल के पर्वतों में युद्ध करना उन के लिए टेढ़ी खीर थी। औरंगज़ेब जब लड़ाई से अपना अभीष्ट सिद्ध न कर सका तब वह एक चाल चला। उस ने राजा के मंत्री को लालच दिया..... एक दिन सुलैमान के भोजन में विष डलवा दिया।..... राजा ने मन्त्री को तुरन्त मरवा डाला। इस के बाद औरंगज़ेब ने एक ओर तो मन्त्रि-मंडल और युवराज मेदिनीशाह को सुलैमान के विरुद्ध अपने पक्ष में कर लिया और दूसरी ओर सरमोर और कमाऊँ के पड़ोसी पहाड़ी राजा को भड़काया कि वे शाही ख़र्चे से पृथिवीशाह से युद्ध करें और उस के राज्य को अपने राज्य मे बाँट लें। सरमोर की सेना एक दम गढ़वाल पर आक्रमण करती हुई माली देवलग्राम तक पहुँच गई जो श्रीनगर से ४५ मील पश्चिम को गंगा नदी के किनारे पर है और टेहरी से पश्चिम ओर चार मील पर है। गढ़वाल के राजा ने सरमोर की सेना से युद्ध करके उस को यमुना नदी के पार कर दिया। कमाऊँ के राजा की सेना का आक्रमण सीमा पर ही रोक दिया गया।......तब उस (औरंगज़ेब) ने सहारनपुर की ओर से शाही सेना भेज कर दूण पर आक्रमण किया......तब भी राजा ने कुछ परवाह नहीं की......तब उस ने जयसिंह के पुत्र कुमार रामसिंह को सुलैमान को लेने के लिए राजा के पास श्रीनगर भेजा।[1]

रामसिंह ने मंत्रि-मंडल व कुछ गढ़वाली थोकदार और मेदिनीशाह को अपने क़ाबू में कर लिया। कुमार रामसिंह और मेदिनीशाह के षड्यन्त्र की सूचना जब सुलैमान को मिली तो वह कुछ विश्वासी नौकरों को साथ ले कर तिब्बत को भाग जाने के इरादे से रात्रि में श्रीनगर से भाग चला। परन्तु पहाड़ों मे मार्ग भूल गया। इधर उस की तलाश में जासूस लगे हुए थे। चट्टान में छिपा हुआ उस को एक ग्वाले ने देखा। उस ने राजकुमार को ख़बर दी।

---

[1] 'गढ़वाल का इतिहास', पृष्ट ३८६ ७

राजकुमार के आदमी उसे पकड़ ले गए और षड्यंत्रियों ने मिल कर राजा को सुलैमान के दे देने पर विवश किया। और अभागे सुलैमान को उस के राज्य-लोलुप निर्दयी चचा औरंगजेब के पास कुमार रामसिंह के साथ भेज दिया।[1]

[६]

सुलैमान शिकोह का गढ़वाल में आना—ऐतिहासिक घटना

सर यदुनाथ, पंडित हरिकृष्ण रतूड़ी और मोलाराम तीनों के लेखों से सुलैमान का गढ़वाल (श्रीनगर) आना पूरी पूरी तौर साबित है। जाहिरा सुलैमान प्राणरक्षा के लिए गढ़वाल के राजा की शरण आया। यदुनाथ सरकार संकेत करते हैं कि सुलैमान का इरादा पहाड़ों के रास्ते अपने पिता दारा शिकोह के पास पहुँचने का था। उन्हों ने यह भी लिखा है कि सुलैमान ने गढ़वाल में आ जाने के बाद भी औरंगजेब के राज्य के कुछ (मुग़ल) गाँवों पर हमला किया। किन्तु गढ़वाल की भौगोलिक स्थिति के लिहाज़ से जाहिर है कि सुलैमान कभी पहाड़ के रास्ते अपनी सेना लाहौर नहीं पहुँचा सकता था। न वह गढ़वाल से मुग़ल सम्राट् पर हमला ही कर सकता था। वह अपनी प्राणरक्षा व एकान्तवास के लिए ही गढ़वाल में आया होगा।

सुलैमान के विरुद्ध मेदिनीशाह व मंत्रि-मंडल क्यों होगए थे?

पं० हरिकृष्ण जी लिखते हैं कि "सुलैमान ने अपने किसी मुसलमानी त्योहार पर श्रीनगर में छिप कर गऊ की कुर्बानी दी थी" इस लिए शायद श्रीनगर के लोग उस के विरुद्ध हो गए हों। हमारी राय में यह मिथ्यावाद कृतघ्न मंत्रियों ने इरादतन सुलैमान के खिलाफ जनता को भड़काने के इरादे से किया। अतिथि और शरणागत को उसके शत्रु के हवाले कर देना नीच कर्म है। इस अपने निन्दनीय कर्म की सफ़ाई में मंत्रि-

---

[1] 'गढ़वाल का इतिहास' पृष्ठ २८८

मंडल व युवराज का सुलैमान पर यह दोष लगाना प्रतीत होता है। पृथिवीशाह तो अंत तक सुलैमान को औरंगज़ेब के हवाले करने के विरुद्ध थे। यदि सुलैमान ने ऐसा कुत्सित कर्म किया होता तो धर्मपरायण महाराज पृथिवीशाह भी उस के ख़िलाफ़ हो जाते। हमारी राय में मंत्रि-मंडल और युवराज मेदिनीशाह दुनियादार लोग थे। वे औरंगज़ेब से डर गए और लालच में भी आ गए। औरंगज़ेब गढ़वाल के राजा को काफ़ी तंग कर चुका था और लालची भी बना चुका था। उस ने दूण (देहरादून) का इलाक़ा जो अपने क़ब्ज़े में कर लिया था उसे गढ़वाल के राजा को वापिस देने का बचन दिया था। और सुलैमान को क़ैद कर लेने पर देहरादून का इलाक़ा वापिस दे भी दिया।

तीनों लेखकों ने सुलैमान का औरंगज़ेब के पास पहुँचाया जाना बताया है। यह बात सिद्ध है कि सुलैमान औरंगज़ेब के पास अवश्य भेज दिया गया था। यदुनाथ सरकार सुलैमान का लदाख़ की तरफ़ भागना बताते हैं। लदाख़ तो काश्मीर के उस तरफ़ गढ़वाल से पहाड़ के रास्ते से भी २०० मील की दूरी पर है। मुमकिन है उन का अभिप्राय तिब्बत से हो। तिब्बत गढ़वाल के उत्तरी भाग से मिला है। किंतु तिब्बत की सीमा श्रीनगर से १०५ मील है। पं० हरिकृष्ण लिखते हैं कि सुलैमान तिब्बत जाने के इरादे से रात को भाग निकला और चट्टानों में छिपा हुआ एक ग्वाले को मिला। यह भी ग़लत मालूम होता है। श्रीनगर से तिब्बत की सीमा के लिए कम से कम बद्रीनाथ तक छोटा मोटा रास्ता गंगा (अलकनंदा) के किनारे किनारे तब भी मौजूद था। पहाड़ों में मार्ग भूलने का क़िस्सा ग़लत मालूम होता है। एक शाहज़ादा ऐसी ग़लती न करता कि इस तरह पहाड़ों पर रात को भाग कर जाना चाहता। अस्तु लदाख़ व तिब्बत की तरफ़ जाने का क़िस्सा ग़लत है। यह दंत-कथा मंत्रि-मंडल की गाथा मालूम होती है।

सुलैमान शिकोह वास्तव में कैसे औरंगज़ेब के पास पहुँचाया गया

यह बात सही और स्वाभाविक है कि औरंगज़ेब ने सुलैमान को पकड़ कर मँगवाने की बड़ी कोशिश की सुलैमान ही असल में दारा के बाद

गद्दी का मालिक था। औरंगज़ेब दारा से छोटा था। इस लिए सुलैमान को अपने हाथ करना उसका मुख्य उद्देश्य था। अगर औरंगज़ेब से कोई यह कह भी देता कि सुलैमान मार दिया गया है तब भी वह यक़ीन न करता, जब तक कि सुलैमान के सर को न देख लेता। सुलैमान को अपने हाथ में करने का कोई भी उपाय औरंगज़ेब ने नहीं छोड़ा होगा। औरंगज़ेब ने गढ़वाल पर खुद अपनी सेना व सरमोर व कमाऊँ के राजाओं से चढ़ाई करवाई। मेदिनीशाह व मंत्रि-मंडल ने जैसा कि मोलाराम कहते हैं सुलैमान को सेना-नायक बना कर गढ़वाली सैनिकों के साथ अवश्य इस बहाने से भेजा होगा कि औरंगज़ेब की सेना से लड़ कर तुम्हें राज्य दिलवावेंगे। गढ़वाली सिपाहियों की वीरता सुलैमान देख चुके होंगे। उन्हों ने सरमोर व कमाऊँ की फौज को मार भगाया था। औरंगज़ेब की सेना भी आगे नहीं बढ़ पाई थी। इस लिये गढ़वाली सिपाहियों के बल दिल्ली के तख्त को प्राप्त करने की इच्छा सुलैमान में होनी स्वाभाविक थी। और इस तरह रण-क्षेत्र में होने से पकड़ा जाना नितांत स्वाभाविक मालूम होता था।

वास्तव में कैसे सुलैमान औरंगजेब के हाथ आया।

यदुनाथ सरकार ने मासूम के आधार पर लिखा है कि पृथिवीशाह ने अपनी कन्या सुलैमान को ब्याह दी थी। इस को पंडित हरिकृष्ण बिलकुल असत्य बात बताते हैं और लिखते हैं कि "इस पुस्तक के अतिरिक्त अन्य किसी इतिहास में ऐसा नहीं लिखा गया है।" मोलाराम ने भी इस का ज़िक्र नहीं किया। गढ़वाल के राजा बड़े कट्टर हिंदू थे। यहाँ की प्रजा भी इस संबंध को पसंद न करती इस लिए इस प्रकार का संबंध असाधारण और अस्वाभाविक प्रतीत होता है, किंतु असंभव नहीं।

सुलैमान को गढ़वाल के राजा का अपनी कन्या का देना।

पुराणों व महाभारत के अनुसार भारतवर्ष के राजाओं का उत्तर व पश्चिम के अन्य अहिंदू देशों के राजाओं से विवाह-संबंध था। राजा लोग राज-वंश की खोज करते थे न कि जाति व धर्म की उसी प्रथा के अनु-

सार बड़े बड़े राजपूत राज-वंश मुसलमान बादशाहों से विवाह संबंध कर चुके थे। अम्बर के राजा बिहारीमल ने सन् १५६२ ई० में अपनी जेष्ठ कन्या का विवाह अकबर के साथ कर के राजपूत राजाओं के लिए प्राचीन समय की प्रथा फिर से आरम्भ कर दी थी। अस्तु प्रो० यदुनाथ सरकार का यह लिखना कि गढ़-नरेश की एक कन्या का विवाह दिल्ली के एक युवराज से हो गया था असंभव व नितांत असत्य बात नहीं मालूम देती। पृथिवीशाह ने सुलैमान से पुत्र का सा बर्ताव किया। पृथिवीशाह का सुलैमान से बड़ा प्रेम हो गया था। मेदिनीशाह सुलैमान के दरबारी हरदास से फारसी पढ़ने लगे थे। मेदिनीशाह पर मुसलमानी सभ्यता का बहुत प्रभाव पड़ चुका था। पृथिवीशाह ने डेढ़ वर्ष तक औरंगजेब की शक्ति और अपने पड़ोसी राजाओं के आक्रमण का सामना करते हुए सुलैमान को औरंगजेब के हवाले नहीं किया। इस से यह अवश्य संकेत होता है कि सुलैमान और पृथिवीशाह के बीच कोई घना संबंध हो गया था। मासूम (जिस के आधार पर यदुनाथ सरकार ने लिखा है) को यह लिखने की क्या आवश्यकता थी कि गढ़वाल की राज-कन्या का विवाह शाहजादे, जिसे कि औरंगजेब की मृत्यु पर दिल्ली अथवा उत्तरीय भारतवर्ष के सिंहासन पर बैठना था, से हुआ। मुग़लों के लिए यह कोई नई बात नहीं थी। मासूम को झूठी बात लिखने की क्या आवश्यकता थी?

(अपूर्ण)

उमर ख़ैयाम

[लेखक—श्रीयुत इक़बाल वर्मा, 'सेहर']

उमर ख़ैयाम के जीवन के संबंध में हमारी जानकारी बहुत थोड़ी है। वह अपनी जगत्प्रसिद्ध रुबाइयों का रचयिता था—इस के या अन्य कुछ बातों के अतिरिक्त उस महाकवि के जीवन-काल की अन्य घटनाओं का कुछ भी ठीक और सिलसिलेवार पता नहीं चलता। उस का पूरा नाम ग़यासुद्दीन अबुल-फ़तेह उमर था और उस के पिता का नाम इबराहीम। उस ने अपना उपनाम "ख़ैयाम" रक्खा। कारण, वह उस के ख़ीमा बनाने के पैत्रिक व्यवसाय का परिचायक था। यद्यपि वह अपने व्यवसाय का संचालन बहुत दिनों तक न कर सका, पर उस का उपनाम तो साहित्य-संसार में चिरजीवी हो कर ही रहा। ऐसे उपनाम में कोई नवीनता न थी। फ़ारस के कतिपय कवियों ने व्यवसाय-सूचक उपनाम ग्रहण किए थे। उदाहरण-स्वरूप वीररस के आचार्य और जगत्प्रसिद्ध फ़ारसी पुस्तक "शाहनामा" के रचयिता "फ़िरदौसी" का नाम लिया जा सकता है। यह उपनाम इस कारण था कि "फ़िरदौसी" के पिता का पेशा ज़मींदारी और बाग़बानी था।

हमारे चरितनायक का जन्म-संवत् निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो सका। हाँ, अनुमानतः वह १०२३ ई० कहा जा सकता है। जन्मस्थान ख़ुरासान का मशहूर शहर नीशापुर कहा जाता है, जो वर्तमान नीशापुर की पूर्व ओर बसा हुआ था। उस के भग्नावशेष अब भी उस के अतीत वैभव का पता देते हैं। यही नीशापुर न केवल ख़ैयाम, प्रत्युत अनेक महान आचार्यों, उद्भट विद्वानों और ख्यातनामा कवियों का जन्मस्थान एवं निवासस्थान था। वह विविध विद्याओं का प्रसिद्ध केंद्र भी था और वहाँ कई बड़े बड़े विद्यालय भी खुले हुए

थे, जिन से ज्ञान की अविरल धाराएँ प्रवाहित हो कर तृषित जनता की प्यास बुझाने का प्रयास कर रही थीं।

उन्हीं विद्यालयों में से एक में उमर ख़ैयाम भी लगभग १६ वर्ष की आयु का हो कर, पढ़ने के लिए प्रविष्ट हुआ। अबुल क़ासिम और हसन बिन सब्बाह उस के समकक्ष थे। उन के गुरु इमाम मुवफ्फ़क़ के विषय में यह बात प्रसिद्ध थी कि उन के शिष्य साधारणतया सफलजीवी हुआ करते थे। इसी विश्वास पर इन तीनों छात्रों ने आपस मे समझौता किया कि उन मे से जिस किसी को भी अपने सांसारिक जीवन में किसी उच्च पद पर प्रतिष्ठित होने का सौभाग्य प्राप्त हो वह विद्यालय की इस समकक्षता को ध्यान में रखते हुए उस समृद्धि की दशा में भी अपने शेष दो साथियों को अवश्य ही अपना समकक्ष बनाए। बात पक्की हो गई और तीनो उपयुक्त समय की प्रतीक्षा मे विद्योपार्जन करने लगे।

सर्वप्रथम अबुल क़ासिम पढ़ाई से निवृत्त हो नौकरी की तलाश मे इसफ़हान गया, जो सुलतान अलप अरसलान सलजूक़ी की राजधानी थी। वहाँ उस को कोई जगह मिल गई। पर आदमी था ईमानदार, मेहनती, शरीफ़ और ख़ुशक़िस्मत, अतः जल्द जल्द तरक़्क़ी पाता गया—यहाँ तक कि वह सुलतान का प्रधान मंत्री बन गया और निज़ामुल्-मुल्क की उपाधि से विभूषित हुआ। शनैः शनैः उस के दोनों पुराने साथी भी वचनपूर्ति की आशा में उस के पास पहुँचे। निज़ामुल्-मुल्क ने उन के साथ साथियों का सा ही बर्ताव कर उन की बड़ी आवभगत की और अपना वादा पूरा करने पर तैयार हुआ। हसन को तो उस ने उसी की इच्छानुसार किसी उच्च सरकारी पद पर नियुक्त करा दिया जिस पर वह अपनी स्वाभाविक नीचता के कारण अंत तक न टिक सका। परंतु ख़ैयाम तो था प्रकृत कवि, उसे सांसारिक वैभव की कब परवा हो सकती थी? उस ने केवल यही इच्छा प्रकट की कि "मुझे गुज़र बसर के लिए नीशापुर में ही कोई जागीर मिल जाय कि निश्चित हो कर एकांत विद्या-व्यसन में समय बिता सकूँ।" तदनुसार ख़ैयाम को १२०० तूमान (३००० रुपए) सालाना की जागीर मिल गई और नीशापुर में ही, उस ने अपने

पूर्व निश्चय के अनुसार अपनी सारी आयु पुस्तकावलोकन और काव्य-प्रणयन में समाप्त कर दी। फिर वह आयु भी आजकल की कोई अल्पकालीन आयु न थी, प्रत्युत पूरे १०९ वर्ष की। यद्यपि आज उस की रुबाइयों के सिवा और कुछ भी उपलब्ध नहीं, पर सोचने की बात है कि उस ने अपने दीर्घकालीन अध्ययन एवं अध्यवसाय की बदौलत अपने अभ्यस्त हाथों से साहित्योद्यान की कितनी क्यारियों को कितने प्रकार के पुष्पों से न भर दिया होगा। कदाचित प्रत्युपकार-स्वरूप ही नीशापुर में उस की समाधि पर प्रकृति की ओर से अब तक बराबर फूल बरसाये जा रहे हैं। यह कवि की भविष्यवाणी थी जो आज भी सच उतर रही है।[1]

यों तो ख़ैयाम भाषा-संबंधी साहित्य के अतिरिक्त दर्शन, इतिहास, गणित, ज्योतिष, खगोल इत्यादि कई विद्याओं का ज्ञाता था। अपने इसलामी धर्म-ग्रंथों से भी पूर्णतः अभिज्ञ था। पर यह सब होते हुए भी उस की वर्तमान विश्वव्यापी ख्याति की निर्माणकर्त्री तो केवल उस की रुबाइयाँ ही हैं जो फारसी क्या, संसार के किसी भी साहित्य में अपना जवाब नहीं रखतीं। ख़ैयाम कवि का हृदय रखता था और कवि की भावुकता भी। वह अपने सूक्ष्म विचारों को सूक्ष्म रीति से ही प्रगट करना चाहता था जिस के लिए रुबाइयाँ बहुत मौज़ूँ हैं। उस की एक एक रुबाई एक एक सूत्र है जिस में काव्य है, कल्पना है, रस है और रहस्य है। वह अपनी थोड़ी बात को थोड़े में कह देता है और फिर वह अपने पाठकों की रुचि पर छोड़ देता है कि चाहे वे उसे थोड़े में समझ लें या बहुत में। उभय प्रयोजनों की दृष्टि से ही, कुशल कवि ने अपने कथन में बेहद सफाई लाने की कोशिश की है। फ़ारसी भाषा के नैसर्गिक माधुर्य ने तो मानों इन रुबाइयों के निमित्त "सोने पर सुहागे" का काम किया है। अतिरिक्त आकर्षण का यह मौलिक कारण है।

---

[1] कहते हैं कि उमर ख़ैयाम ने बलख़ में किसी अवसर पर यह फ़र्माया था कि मेरी क़ब्र ऐसे स्थान पर होगी जहाँ कम से कम साल में दो बार वृक्षों द्वारा पुष्प वर्षा हुआ करेगी—ले०

परंतु जो बात हमें सब से अधिक आकृष्ट करती है वह है खैयाम के अपरिमित मदिरा-प्रेम का प्रस्फुटन। कदाचित् ही कोई ऐसा विषय हो जो उस की रुबाइयों में समाविष्ट न हो। ईश्वर, धर्म, नीति, जीवन, मरण, पृथिवी, आकाश, स्वर्ग, नरक, सुख, दुःख, अमीरी-ग़रीबी, दोस्ती-दुश्मनी, मदिरा, प्रेमिका, इत्यादि, इत्यादि सभी पर कवि ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। पर मदिरा की चर्चा से उस की तृप्ति नहीं होती। तद्विषयक रुबाइयों की न केवल संख्या ही अधिकतम है, प्रत्युत उस का भाव इतना व्यापक है कि कोई भी विषय उस से अछूता नहीं बचा। उदाहरणार्थ हम यहाँ केवल ऐसी तीन रुबाइयाँ उद्धृत करना पर्याप्त समझते हैं, जिन में विषयों की विचित्रता कवि को अपना रंग दिखलाने से बाज नहीं रख सकी—

मेरे दुःख भरे हुए सीने पर दया कर। मेरे बंदी जान व दिल पर दया कर। मेरे पग जो शराबख़ाने की तरफ़ जा रहे हैं, उन पर भी करुणा कर और मेरे उन हाथों पर भी करुणा कर जो शराब का प्याला लिए हुए हैं।

यह जो कुछ लौकिक रचना है सभी कल्पना और चित्र है। वह विज्ञ नहीं जो इस स्थिति को नहीं जानता। बैठ, शराब का प्याला पी और प्रसन्न रह। यह जो गूढ़ चिंता है इस से निवृत्त हो जा।

यह दुनिया न तो फिरने की जगह है, न बैठने की। इस में जो बुद्धिमान हैं वही खोटे हैं और जो मस्त हैं खरे बने हुए हैं। जो दुःख की अग्नि है उस पर सुरारूपी जल डाल—इस से पहिले कि तू धूल में, अपनी मुट्ठी में हवा भरे हुए, मिल जाय।[1]

بر سینهٔ غم پذیر من رحمت کن   بر جان و دل اسیر من رحمت کن[1]
بر پاے خرابات رو من بخشاے   بر دست پیاله گیر من رحمت کن
این صورت کون جمله نقشے ست و خیال   عارف نبود هر که نداند این حال
بنشین قدح باده بنوش و خوش باش   فارغ شو ازین نقش خیالات محال
دنیا نه مقام گشت و نه جاے نشست   فرزانه درو خراب و ادنی تر مست
بر آتش غم ز باده آبے میزن   زان پیش که در خاک روی با -

बात यह है कि कवि अपने सहृदय पाठकों को, उस मस्ती से महरूम नही रखना चाहता जिस मे उसे स्वयं मजा आता है। फिर मजा भी कैसा? फ़र्जी नहीं, बल्कि जो ठोस वस्तु से मिला करता है। कोई कुछ कहे परंतु हम यह मानने को तैयार नहीं कि ख़ैयाम शराब नहीं पीता था। हम यह नहीं कहते कि उस में ईश-प्रेम की न्यूनता थी या उस की बहुत सी रुबाइयों से ईश-प्रेम संबंधी मदिरा का अर्थ नहीं निकाला जा सकता। परंतु कुछ रुबाइयाँ इतनी स्पष्ट हैं कि उन का कोई दूसरा अर्थ हो नहीं सकता।

फ्रेडरिक रोजेन कृत 'रुबाइयात उमर ख़ैयाम' की भूमिका में लिखा है कि बर्लिन की स्टेट लाइब्रेरी में उमर ख़ैयाम कृत 'नौरोज़ नामा' नामी फारसी की गद्य-पुस्तक है।

इस मे लिखा है कि—

"सुक़रात, बूअली सीना, मुहम्मद जकरिया जैसे नामी हकीम इस पर सहमत हैं कि मानवी शरीर के लिये कोई चीज इतनी मुफ़ीद नहीं जितनी शराब—ख़ास कर वह शराब जो अंगूर से खींची गई हो। ग़म दूर हो कर दिल खुशी से भर जाता है। शरीर में शक्ति और मुख पर लालिमा आती है। बुद्धि मे निखार और स्मरण-शक्ति मे बल पैदा होता है। कृपण उदार हो जाता है, और कायर वीर। विद्वानों के कथनानुसार शुद्ध सुरा पीने से मानवी प्रकृति के असली जौहर खुल जाते हैं·· ······।"

हमारा यह मतलब नहीं कि ख़ैयाम बेदीन था। लोग तो उसे प्राय: बेदीन ही कहा करते थे, इस लिए कि वह स्वच्छन्द था और महान दार्शनिक था पर वह ऐसा था नहीं। कवि की कविताएँ प्राय: उस के आंतरिक विचारों की द्योतक हुआ करती हैं। उन्हीं से इस बात का पता चलता है कि वह मुसलमान था। लेकिन उस में किसी प्रकार का कट्टरपन न था इस रुबाई से उस की अन्य मतों के प्रति सहिष्णुता प्रकट होती है—

मंदिर हो या काबा, दोनों पूजा के घर हैं। शंख का नाद पूजा का सगीत है

मस्जिद हो या गिरजाघर, तस्बीह हो या सूली का चिह्न, ईश्वर साक्षी है कि सभी पूजा की निशानियाँ हैं।[1]

उस की स्वाभाविक विशालहृदयता इस कारण और बढ़ गई थी कि उस का संबंध सूफ़ी सम्प्रदाय से था जिसे हम अपने शब्दों में अद्वैतवाद कह सकते हैं। प्रमाण उस की यह रुबाई है—

कभी तो परदे में छिप कर किसी को मुख नहीं दिखलाता और कभी तू सृष्टि के इन रूपों में प्रकट हो जाता है। यह अपना प्रकाश तू अपने को ही दिखाता है। अर्थात् तू स्वयं प्रकट होने वाला और स्वयं दर्शक है।[2]

और सब से बड़ा प्रमाण उस की वह मस्ती है जिस पर सूफ़ी सम्प्रदाय का एकाधिकार ही समझना चाहिए और जो उस के शब्द शब्द से टपकी पड़ती है। उस के विचार कितने विशद एवं विशुद्ध थे, इस का पता उस की नीति-विषयक रुबाइयों से लगेगा जिन की संख्या बहुत अधिक है।

उदाहरण के लिये केवल दो रुबाइयाँ दी जाती हैं—

ऐ दिल ज़माने से उपकारों की आशा न कर। पदार्थों के लिये तू आस्मान की गर्दिश का भरोसा न कर। तू दवा चाहता है और तेरा दर्द बढ़ जाता है। जो दर्द है उसे सहन कर और किसी से दवा न माँग।

अगर तेरे पास घोड़े, अब्ब और जवाहिरात हैं तो इस दस रोज़ की दौलत पर घमंड न कर। आस्मान के क्रोध से अपनी जान कोई न बचा सका। आज उस ने घड़ा तोड़ डाला; कल प्याला तोड़ डालेगा।[3]

بتخانه و کعبه خانهٔ بندگی است   ناقوس زدن ترانهٔ بندگی است[1]
محراب و کلیسا و تسبیح و صلیب   حقا که همه نشانهٔ بندگی است
گه گشته نهان روے بکس نه نمائی   گه در صور کون و مکان پیدائی[2]
این جلوه‌گري به خویشتن بنمائی   خود عین عیاني و خودی بینائی
اے دل ز زمانه رسم احسان مطلب   وز گردش دوران سروسامان مطلب[3]
درمان طلبی درد تو افزون گردد   با درد بساز و هیچ درمان مطلب
گر اسپ و عراق است دگر فیروزه   مغرور مشو به دولت ده روزه
ز قهر فلک هیچ کسے جاں نبرد   مرور سبو - و فرد کوزه

ऐसी भी अनेक रुबाइयाँ हैं जिन से यह विदित होता है कि खैयाम 'पुनर्जन्म' के विषय में भी विचार कर रहा था। वह किस निश्चय पर पहुँचा, हमें यह पता नहीं। इतना अवश्य मालूम होता है कि वह उस दशा में है जिसे हम संदिग्धता की दशा कह सकते हैं। दो रुबाइयाँ उस को इस द्विविध दशा को दिखाती हैं—

वह लोग जो कि आकाश के रहस्यों के ज्ञाता हैं और इस संसार को अलंकृत करते हैं—वह आते हैं और चले जाते हैं और फिर इस दुनिया में आते हैं। आसमान के दामन में और पृथ्वी के नीचे एक जनता है जिसे ईश्वर से शांति प्राप्त होती है।

सवेरे का समय है। ऐ! आनबान वाले उठ! धीरे धीरे मदिरा पी और चंग बजा। इसलिये कि जो लोग यहाँ हैं वह अधिक समय तक यहाँ न रहेंगे और जो चले गए हैं फिर यहाँ न आएंगे।[1]

एक शब्द में हम खैयाम के धर्म को 'प्रेम-धर्म' कह सकते हैं। उस प्रेम की केवल आध्यात्मिक अभिव्यक्ति नहीं होती प्रत्युत भौतिकता से भी उस का घनिष्ठ संबंध है। दोनों ही प्रवृत्तियाँ पराकाष्ठा तक उन्नत होती हैं। परिणाम-स्वरूप प्रेमी का प्रेम एक ओर तो ईश्वर को अपना लक्ष्य बनाता है और दूसरी ओर वह साधारण मनुष्यों से गुजर कर प्रेमिका के सौन्दर्य से सम्बद्ध हो जाता है। खैयाम सिर्फ़ शराब की मुहब्बत का दम नहीं भरता, वह माशूक़ की भी पूजा करता है। उस की वे रुबाइयाँ भी पढ़ने के योग्य हैं।

खैयाम में एक खूबी और भी है जो उस की रुबाइयों में प्रायः सर्वत्र देखी जाती है। वह एक ही बात को बार बार कहता है परन्तु इस रीति

---

[1] آنها که فلک دیده و دهر آرایند   آیند و روند و باز با دهر آیند
در دامن آسمان و در زیر زمین   خلقی است که با خدای دهر آسایند
وقت سحر است خیز ای مایه ناز   نرمک نرمک باده خور و چنگ نواز
آنها که بجایند نپایند دراز   و آنها که شدند کس نمی آید باز

पर कि वह पुनरुक्ति सी दिखती हुई भी उस के कथन को पुष्ट करे और नीरस होने के बजाय अधिकाधिक प्रभावोत्पादक हो।

ख़ैयाम की कुल रुबाइयों की ठीक तादाद का अब तक पता नहीं; वह कमोबेश एक हज़ार बतलाई जाती हैं। उस की रुबाइयों में यदा-कदा अन्य फारसी कवियों की रुबाइयाँ भी शामिल हो गई हैं। कदाचित् इस कारण कि रुबाइयों का संग्रह कवि की मृत्यु के पश्चात् किया गया। जैसा कि बहुधा होता है, कवि की कीर्ति भी उस की मृत्यु के पश्चात् ही फैली और सारे संसार में फैल गई। उसे पश्चिमी जगत में फैलाने का श्रेय फ़िट्ज़जेरल्ड नामी अंगरेज़ कवि को प्राप्त है जिस ने सर्व-प्रथम ख़ैयाम की ७५ रुबाइयों का अँगरेज़ी कविता में अनुवाद किया था। यह अनुवाद सन् १८५८ ई० में केवल २०० प्रतियों के संस्करण द्वारा प्रकाशित हुआ था जिन पर अनुवादक का नाम भी न था। उस समय पुस्तक को किसी ने न पूछा। उस का मूल्य ५ शिलिंग से घटा कर १ पेनी कर दिया गया, फिर भी बात ज्यों की त्यों रही। शनैः शनैः पुस्तक गुणग्राहियों के हाथ पड़ी और फिर उस की क़द्र बढ़ चली। जहाँ पहले १०-५ वर्षों में नवीन संस्करण की नौबत आती थी वहाँ सन् १८८९ ई० के बाद यह हालत हुई कि पुस्तक वर्ष में कई-कई बार छपने लगी और ख़ैयाम के साथ फ़िट्ज़जेरल्ड का नाम भी साहित्य-संसार में अमर हो गया। अंगरेज़ी में और अनुवाद भी हुए परंतु सर्व-प्रियता का सेहरा फ़िट्ज़जेरल्ड ही के सिर रहा। उस की भाषा इतनी सिजिल समझी गई कि अन्य कवियों ने भी उस का अनुकरण किया। और सच पूछिए तो भाषा-सौंदर्य के कारण ही उसे यह शुहरत नसीब हुई, अन्यथा न तो उस ने अपने अनुवाद में मूल रुबाइयों का ही ख़्याल रक्खा है और न उस ने अनूदित रुबाइयों का चयन ही अच्छा किया है। हाँ, फ़िट्ज़जेरल्ड ही ने अनुवाद में ग़लती की हो, सो बात नहीं है; बल्कि जितने भी अनुवाद अँगरेज़ी फ़रांसीसी, जर्मन इत्यादि भाषाओं में छपे हैं उन सभों में यही दोष कमोवेश पाया जाता है—भले ही उन में रुबाइयों की संख्या अधिक हो। मगर तारीफ़ की बात तो यह है कि ऐसा होते हुए भी ख़ैयाम अपनी मनोमुग्धकारी मौलिकता की बदौलत सब

पाठकों से बरबस अपनी प्रशंसा करा लेता है और साथ ही उस प्रशंसा का कुछ अंश अपने अनुवादकों को भी दे देता है। फिट्ज़जेरल्ड को तो इतना बड़ा अंश मिला है कि उस का प्रभाव समूची अँगरेज़ जाति पर भी पड़े बिना नहीं रहा। लंदन में तो उमर खैयाम के नाम पर क्लब तक क़ायम हैं जिन के सदस्य साप्ताहिक अधिवेशनों मे खैयाम की रुबाइयों का पाठ करते हैं। यह है एक साहित्य प्रेमी जाति के साहित्य प्रेम का बढ़िया नमूना !

सभ्य संसार की बीसियों भाषाओं में इन रुबाइयों के अनुवाद हो चुके हैं और यही क्रम अब भी बराबर जारी है। हमारे देश की कई भाषाओं में अनुवाद हुए और हो रहे हैं। रुबाइयाँ आज क्यों इतनी सर्वप्रिय हो रही हैं, इस का कारण उन की वह विशेष रचना-शैली है जिसे आधुनिक संसार अपनाता चला जा रहा है। अधिक स्पष्ट शब्दों में, उन में उस रहस्यवाद की पुट का होना है जिसे संसार की वर्तमान एवं आगामी कविता का लक्ष्य समझना चाहिए और जिस लक्ष्य की प्राप्ति पर ही कविता अपनी सार्थकता प्रकट करने—अपने को चित्रित करने—में पूर्णतः सफल हो सकेगी।

संपादकीय

इस अंक के साथ हमारी पत्रिका का दूसरा वर्ष समाप्त होता है। इतना थोड़ा समय हमारे प्रयास की सफलता का निर्णय करने के लिए यद्यपि पर्याप्त नहीं है तथापि हम यह कह सकते हैं कि अपने सहयोगियों के बीच 'हिंदुस्तानी' ने अपने लिए एक आदर का स्थान प्राप्त कर लिया है। हमें हिंदी के विभिन्न विद्वानों से सदा प्रोत्साहन मिला है और हम इस कृपा के लिए उन के आभारी हैं। हम आशा करते हैं कि भविष्य में भी वह इसी प्रकार कृपा बनाए रहेंगे।

प्रचार की दृष्टि से, हम स्वीकार करते हैं, कि पत्रिका उतनी सफल नहीं रही है। हमे आशा है कि आगामी वर्ष में हमारी यह शिकायत भी दूर हो जायगी। अपनी ओर से हम ने यथाशक्य इसे अपने प्रांत की एक बड़ी साहित्यिक संस्था की प्रतिष्ठा के उपयुक्त ही बनाने का प्रयत्न किया है। अगले वर्ष के लिए हमारे पास कई नए विचार हैं, और हम सब प्रकार से पत्रिका की उपयोगिता के बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे।

❦ ❦ ❦

यह वर्ष हमारे वयोवृद्ध साहित्यिकों के लिए बहुत बुरा सिद्ध हुआ है। अभी पिछले अंक में हम पंडित पद्मसिंह शर्मा, श्रीयुत शिवनंदन सहाय, गोस्वामी किशोरीलाल तथा श्रीयुत जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की मृत्यु पर अपनी शोक-श्रद्धांजलि समर्पित कर चुके हैं। इस बार अत्यंत शोक के साथ हमें पंडित नाथूराम शंकर शर्मा जी की मृत्यु का स्मरण करना पड़ता है। यह दुःखद घटना विगत २१ अगस्त की है। आप हिंदी के खड़ी बोली के प्रतिष्ठित कवियों में बहुत ऊँचा स्थान रखते थे और 'कविता [illegible]'

पंडित नाथूराम शंकर शर्मा का जन्म संवत् १९१६ वि० की चैत्र शुक्ला पंचमी को हरदुआ गंज, जिला अलीगढ़ मे हुआ था। आप गौड़ ब्राह्मण थे। आप के पिता का नाम पंडित रूपराम जी शर्मा था।

बाल्यावस्था से ही स्वर्गीय पंडित जी ने कविता करने में प्रतिभा प्रदर्शित की। कहा जाता है कि आप अपने पाठों को कविता का रूप दे कर, उन्हे याद कर लिया करते थे। सं० १९३७ में कानपुर में नहर-विभाग में आपने नौकरी कर ली थी और वहीं पर आप को घनिष्ठता स्वर्गीय पंडित प्रतापनारायण मिश्र से हो गई थी। आप उस समय मिश्र जी के 'ब्राह्मण' पत्र के संपादन में सहायता भी करने लगे थे। कानपुर में ही आप का स्वामी दयानंद जी से साक्षात्कार हुआ था। उन के व्याख्यानों से नाथूराम जी बहुत प्रभावित हुए। उन्हे गुरु स्वीकार कर नाथूराम जी आर्य-समाज के सदस्य हो गए थे। और आजन्म उसी मत का समर्थन करते रहे। आप ने आर्य-समाज की बड़ी सेवा की है। आप का इस समाज के प्रति प्रेम आप की कविताओं में भी बराबर लक्षित होता है।

लगभग ६ साल तक नौकरी करने के उपरांत आप का जी उस में न लगा। आप अपने जन्म-स्थान में लौट आए और चिकित्सक का कार्य करने लगे। इस कार्य में भी आपने ख्याति लाभ को। आयुर्वेद में आप ने बड़ा ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

आप कई भाषाएँ जानते थे। संस्कृत और हिंदी के अतिरिक्त बँगला और फ़ारसी में भी आप की गति थी। उर्दू में भी आप ने सफल कविता की है। आप के प्रकाशित ग्रंथों में 'शंकर-सरोज', 'अनुराग रत्न', 'वायस-विजय', और 'गर्भरंडारहस्य' विशेष प्रसिद्ध हैं। आप बड़े विनोद-प्रिय और निर्भीक व्यक्ति थे।

इधर कई वर्षों से आप पर गृहस्थी-संबंधी अनेकों आपत्तियाँ आई और आप कई निकट प्रिय-जनों के वियोग से दुखी रहते थे।

हम आप के पुत्र पंडित हरिशंकर शर्मा जी से उन के दुःख में समवेदना प्रकट करते हैं और आशा करते हैं कि अपने प्रतिष्ठित पिता की सुकृति

स्थायी करने के निमित्त उन की सभी प्रकाशित और अप्रकाशित रचनाओं को एकत्र कर के प्रकाशित करने का उद्योग करेंगे। ऐसे संग्रह-ग्रंथ से हमारी भाषा की प्रतिष्ठा बढ़ेगी।

* * *

काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से द्विवेदी-अभिनंदन ग्रंथ के प्रकाशित होने की जो योजना हो रही है उस के संबंध में सभा के प्रधान मंत्री श्री राय कृष्णदास जी ने नीचे लिखी सूचना भेजी है। हम इस सूचना को सहर्ष प्रकाशित करते हुए सभी हिंदी-सेवियों से यह आशा करते हैं कि इस योजना को सफल बनाने में पूर्ण रूप से सहयोग प्रदान करेंगे और अपने एक ऐसे वयोवृद्ध साहित्य-सेवी का आदर करेंगे जिस की कृतियों की आधुनिक हिंदी पर पग पग पर छाप है—

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने आधुनिक हिन्दी साहित्य के लिए जो कुछ किया है, वह लोक-विश्रुत है। वे एक व्यक्ति नहीं, एक संस्था हैं। उन के द्वारा आधुनिक हिन्दी की गद्य-पद्य शैली का यथोचित निर्माण एवं निर्धारण हुआ है। हिन्दी के इस शैली-निर्माण पर द्विवेदीजी महाराज की अमिट छाप है।

आगामी वैशाख शुक्ल ४ को वे सत्तरवें वर्ष में पदार्पण करेंगे। हिन्दी-संसार का यह कर्तव्य है कि उस अवसर पर ऐसे संमाननीय आचार्य का समुचित समादर करे। अतएव काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने निश्चय किया है कि उस समय एक विराट उत्सव एवं समारोह कर के उन्हें एक अभिनन्दन-ग्रन्थ अर्पित किया जाए। यह ग्रन्थ कला एवं साहित्य का अद्वितीय निदर्शन होगा। इस में भारत के श्रेष्ठ चित्रकारों के उत्तमोत्तम चित्र रहेंगे; एवं इस के साहित्यिक अंश में हिन्दी के सभी प्रमुख तथा यशस्वी साहित्यिकों की रचनायें तो रहेंगी ही—देश तथा विदेश की अन्यान्य भाषाओं के प्रमुख विद्वानों के लेखादि प्राप्त करने का प्रबन्ध भी किया जा रहा है कि यह सुयोग भारत तथा संसार की उन्नत भाषाओं का हिन्दी के साथ साहित्यिक सम्बन्ध-स्थापना का निमित्त बन जाय। यह सर्वाङ्ग सुन्दर ग्रन्थ लगभग ६०० पृष्ठ का होगा। इस के चित्रों की संख्या पचास के ऊपर होगी, जिन में अधिकांश रंगीन होंगे

सभा की हार्दिक कामना है कि उस की इस योजना में अभूत-पूर्व सफलता हो; किंतु यह सफलता देश के श्रीमानों की कृपा-दृष्टि पर ही अवलम्बित है; क्योंकि इस के लिये ५०००) के व्यय का अनुमान किया गया है, पर सभा में यह व्यय-भार उठाने का सामर्थ्य नहीं है, अतः गुणज्ञ तथा विद्या-प्रेमी श्रीमानों से प्रार्थना है कि इस कार्य के लिये यथोचित सहायता प्रदान कर के इस योजना को सु-संपन्न कराने के यशोभागी हों। सभा आशा करती है कि देश के उदार दाता इस आयोजन की सिद्धि में अग्रसर हो कर सभा को चिर आभारी करेंगे।

अभिनंदन ग्रंथ को सर्वाङ्ग पूर्ण बनाने के लिये साहित्यिकों का पूर्ण सहयोग भी वाञ्छित है। हम उन से साग्रह अनुरोध करते हैं कि वे यह सहयोग प्रदान कर के सभा को कृतज्ञ करें। हमें पूर्ण आशा है कि आचार्य के प्रति श्रद्धा-भक्ति-भावना से प्रेरित हो कर हिंदी के सभी कोविद तथा साहित्यिक अपनी उत्कृष्ट रचना हमारे पास भेजने की कृपा करेंगे। इस संबंध में उन से निवेदन है कि—

१—उन की रचना उन के इच्छानुसार गद्य या पद्य के किसी भी अंग में हो।

२—वह उन की रुचि के अनुकूल किसी भी विषय की हो। सभा चाहती है कि ग्रन्थ विभिन्न विषयों से पूर्ण कर के आचार्य द्विवेदीजी को समर्पित किया जाय। हाँ, इन विषयों का संबंध वर्तमान धार्मिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक प्रश्न से न हो।

३—रचना यथासम्भव बड़ी न हो।

अभिनन्दन ग्रन्थ को सभा जिस रंग-ढंग से निकालना चाहती है, उस के लिए यह आवश्यक है कि वह अविलम्ब प्रेस में दे दिया जाय। इस बात पर ध्यान देते हुए लेखक समुदाय शीघ्र ही अपनी कृति हमारे पास भेजने का अनुग्रह करें।

❦ ❦ ❦

नागरी प्रचारिणी सभा के प्रधान मंत्री द्वारा भेजी हुई हम यह दूसरी सूचना भी सहर्ष प्रकाशित करते हैं। हमें यह जान कर बड़ी प्रसन्नता है कि रत्नाकर जी की कृतियों की अब सुचारु रूप से रक्षा हो सकेगी। श्री राधेकृष्ण दास की उदारता सराहनीय है सभा रत्नाकर जी की रचनाओं का भी ११

जिल्दों में शीघ्र ही प्रकाशित करने वाली है। सभा को भी उस की तत्परता के लिए हम बधाई देते हैं। सूचना यह है—

हिन्दी संसार को यह बात भली भाँति विदित है कि स्वर्गीय बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर बड़े परिश्रम और मनोयोग से "सूरसागर" का सम्पादन नागरी प्रचारिणी सभा के लिए कर रहे थे। इस कार्य में उन्हों ने अपना कई हज़ार रुपया व्यय किया था और इस में उन की इतनी लगन थी कि ज्यों ज्यों उन का स्वास्थ्य बिगड़ता जाता था और जीवन से निराशा होती जाती थी त्यों त्यों वे द्विगुण परिश्रम से इस महान कार्य को पूरा करने का उद्योग करते थे। जीवन के अन्तिम दिन भी उन्हों ने इस में इतना परिश्रम किया कि उन की कुछ सुधरी हुई बीमारी फिर बिगड़ गई जिस से दो ही तीन घंटे के उपरान्त उन का देहान्त हो गया और इस ग्रंथ-संपादन को, जिस के लिये वे इतने लालायित थे, पूर्ण न कर सके। "सूरसागर" का कोई ⅔ अंश रत्नाकर जी ने संपादित किया है और शेष अंश अब उन्हीं के निर्दिष्ट पथ पर सम्पादित हो रहा है। हिन्दी-प्रेमियों को यह जान कर हर्ष होगा कि रत्नाकर जी के सुयोग्य पुत्र श्रीयुक्त राधेकृष्ण दास जी ने सूरसागर का यह सब सम्पादित अंश, इस संबंध में एकत्र की हुई सारी सामग्री के सहित, नागरी-प्रचारिणी सभा को प्रदान कर दिया है। सभा ने इसके प्रकाशन में हाथ लगा दिया है। और इस का पहला भाग शीघ्र ही हिन्दी-प्रेमियों को उपलब्ध हो जायगा। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से जो लाभ होगा उस का आधा अंश, सभा "रत्नाकर-स्मारक" में व्यय करेगी और वह रत्नाकर जी के सब ग्रन्थों को भी "रत्नाकर कवितावली" के नाम से प्रकाशित कर रही है।

इस के अतिरिक्त रत्नाकर जी ने घनानन्दकृत सुजान सागर को पूर्णत: सम्पादित किया था और उन्हों ने अपने पुस्तकालय में कई हजार बहुमूल्य ग्रंथों का संग्रह किया था। इस में लगभग चार पाँच सौ ग्रंथ हस्तलिखित हैं और अनेक दुष्प्राप्य हैं। यह सारा संग्रह भी श्रीयुक्त राधेकृष्ण दास ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा को उदारतापूर्वक प्रदान कर दिया है। "बिहारी रत्नाकर" के सम्पादन के लिए तथा अष्ट छाप के जो ग्रंथ रत्नाकर जी निकालना चाहते थे उन के लिए उन्हों ने

ग्रंथ सभा के पुस्तकालय में एक विशिष्ट स्थान में 'रत्नाकर संग्रह' के नाम से सजा कर रक्खे गए हैं और हिंदी-प्रेमियों को इन ग्रंथों से लाभ उठाने के लिये सभा द्वारा विशेष प्रबन्ध किया गया है।

श्री राधेकृष्ण दास की इस सराहनीय उदारता की सभा अत्यन्त आभारी है। इस अनुकरणीय दान के द्वारा उन्हों ने केवल अपने स्वर्गीय पिता की सदिच्छा की पूर्ति ही नहीं की है अपितु हिन्दी साहित्य को चिर कृतज्ञता के पाश में आबद्ध कर लिया है। वे योग्य पिता के सुयोग्य पुत्र हैं और उन की सदिच्छा तथा उदाराशयता से हिन्दी को बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं।

❦ ❦ ❦

हमें खेद है कि पिछले अंक में दो स्थलों पर (पृष्ठ ३६३ पंक्ति ७ और पृष्ठ ३६४ पंक्ति १४) 'नंद' के स्थान पर 'पूज' छप गया है। दोनों स्थलों पर श्री शिवनंदन सहाय पढ़ना चाहिए। पाठक कृपया सुधार कर लें।

समालोचना

उपन्यास और कहानियाँ

गढ़कुंडार—लेखक, श्री वृन्दावन लाल वर्मा। प्रकाशक, गंगा-पुस्तक-माला कार्यालय, लखनऊ। १९८६। मूल्य सजिल्द ३) सादी २॥)। पृ० ४५२।

कंकाल—लेखक, श्री जयशंकर 'प्रसाद'। प्रकाशक, भारती-भंडार, रामघाट, बनारस सिटी। १९८६। मूल्य ३)। पृ० ३३९।

परख—लेखक, श्री जैनेन्द्र कुमार। प्रकाशक, हिंदी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई। मूल्य १)

अप्सरा—लेखक, श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'। प्रकाशक, गंगा-पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ। १९८८। मूल्य सजिल्द १॥) सादी १)। पृ० १८५।

मंच—लेखक, श्री राजेश्वरप्रसाद सिंह। प्रकाशक, श्री नन्दकिशोर जी, ३१५ कटरा, इलाहाबाद। मूल्य १।)। पृ० २५२।

कसौटी—लेखक, श्री विश्वनाथ सिंह शर्मा। प्रकाशक, हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता। १९२९। मूल्य २।)। पृ० २९५।

अमल—लेखक, श्री चतुरसेन शास्त्री। प्रकाशक, गंगा-पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ। १९८८। मूल्य सजिल्द १॥) सादी १)। पृ० १४५।

आकाशदीप—लेखक, श्री जयशंकर 'प्रसाद'। प्रकाशक, भारती भंडार, काशी। १९८६। मूल्य सादी १ ") सजिल्द २)। पृ० २२०

ग़बन—लेखक, श्री प्रेमचन्द। प्रकाशक, सरस्वती प्रेस, बनारस सिटी। १९३१। मूल्य ३), पृ० ४२८।

चन्द्रकला—लेखक, श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार। प्रकाशक, हिन्दी-ग्रंथ-कार्यालय, बंबई। १९२९ ई०, मूल्य ॥=) सजिल्द का १।=)। पृ० १२२।

हृदय के आँसू—लेखक, श्री विश्वप्रकाश। प्रकाशक, कला प्रेस, प्रयाग। १९३१। मूल्य १)। पृ० ९७।

हार—लेखक, श्री यादवेन्द्र सिंह। प्रकाशक, गाँधी हिन्दी पुस्तक भंडार, प्रयाग। पृ० २५७।

अनाख्या; सुधांशु—लेखक, श्री राय कृष्णदास। प्रकाशक, भारती भंडार, काशी। १९८६, मूल्य १।)। पृ० १६२; और मूल्य ॥।)। पृ० ९७।

मुसल्मानी काल में, हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश में, हिंदू राष्ट्रीयता का अवशेष बुंदेलखंड में रह गया था। हिंद के शिवाजी महाराज छत्रसाल यहाँ ही हुए, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई यहाँ ही हुई, गढ़कुंडार की कथा का क्षेत्र भी यहाँ ही है।

प्रस्तुत उपन्यास सन् १२८८ ईस्वी के लगभग के बुंदेलखंड के इतिहास के आधार पर लिखा गया है। एक ऐतिहासिक उपन्यास की दृष्टि से ग्रंथ पूर्ण रूप से सफल है। १३ वीं शताब्दी का बुंदेलखंड आँखों के सामने नाचने लगता है। क्षत्रियों में गिने जाने की लालसा गढ़कुंडार के रखने वाले खंगार राजा तथा उन के समकालीन चंदेल तथा बुंदेल क्षत्रिय सरदारों का आपस में वैमनस्य तथा ऊँच नीच का भाव और उस का परिणाम चतुर लेखक ने बहुत सुन्दर ढंग से चित्रित किया है। बुंदेलखंड-वासियों की कथा के पीछे बुंदेलखंड देश के प्राकृतिक सौंदर्य का पट कथा के सौंदर्य को और भी बढ़ाता है। लेखक ने इस का पूर्ण रूप से उपयोग किया है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी अनेक चरित्र अत्यन्त आकर्षक चित्रित किए गए हैं। समस्त चरित्र जीते जागते हैं, इस में तो कोई संदेह ही नहीं। देश के लिए यह सौभाग्य की बात है कि हमारे लेखकों का ध्यान अपने देश के निकट भूत काल के अक्षय ऐतिहासिक भंडार की ओर जाने लगा है हिंदी प्रदेश में न मालूम कितने

गढ़कुंडार पड़े हैं जिन के इतिहास के एक एक दिन पर कदाचित् एक एक उपन्यास लिखा जा सकता है।

* * *

सुप्रसिद्ध लेखक के नाम से आकर्षित होकर जिस आशा से 'कंकाल' हाथ में लिया गया वह आशा पुस्तक समाप्त करने पर पूर्ण नहीं हुई। पुस्तक मे तीन भाग हैं—कथानक, समाज-संबंधी लेखक की विचारमाला तथा जहाँ तहाँ बिखरी हुई काव्यछटा। काव्यछटा आकर्षक है, समाज-संबंधी विचार ठीक रूप नहीं पाए हैं, कथानक विचित्रता से पूर्ण है।

उपन्यास की कथा का वातावरण आद्योपान्त अस्वाभाविक है। उपन्यास पढ़ कर ऐसा मालूम होता है, जैसे देश में साधारण गार्हस्थ्य-जीवन तो कहीं शेष ही नहीं रह गया हो। समाज के किसी एक अंग को चित्रित किया जा सकता है, किन्तु उस में इतनी अति न हो जानी चाहिए कि पाठक को समाज का संपूर्ण वातावरण अस्वाभाविक जँचने लगे। उपन्यास में हृदय को प्रभावित कर सकने वाले अनेक अवसर आए हैं किन्तु वे हृदय को प्रभावित करने में सफल हो सके हैं इसमे संदेह है। कथा-वर्णन तथा चरित्र-चित्रण में कुछ ऐसा उपसंयम है जिस से पाठक उन के साथ बहकर तन्मय नहीं हो पाता। साधारणतया कथानक अत्यन्त रोचक है यद्यपि आकर्षक बनाने के लिए भिन्न भिन्न काल तथा अनेक स्थानों का सहारा लिया गया है जिस से कला की प्रौढ़ता में बाधा पड़ती है।

समाज-संबंधी विचार वाले अंशों को पढ़ते समय टैगोर की 'गोरा' जैसी कृतियों का स्मरण हो आता है, किन्तु ये अंश 'कंकाल' में प्रायः लंबे लंबे व्याख्यानों के रूप में अलग से निकले पड़ते हैं। 'भारत-संघ' की स्थापना 'सेवा-सदन' की स्थापना का स्मरण दिलाता है। शायद हिंदी उपन्यासकारों की प्रथम कृति का अन्त किसी 'सदन' 'संघ' या 'आश्रम' की स्थापना किए बिना ठीक नहीं बन पाता

जैनेन्द्र कुमार की 'परख' लेखक के हृदय से निकली हुई कहानी मालूम पड़ती है।

छोटा होने पर भी उपन्यास हृदय को स्पर्श करने वाला है। चुने हुए चरित्रों की मानसिक परिस्थिति तथा उथल पुथल का अत्यन्त मार्मिक और सजीव चित्र लेखक ने खींच कर सामने रख दिया है। साम्यवाद के उपदेश से पूर्ण अन्तिम पृष्ठ को छोड़ कर शेष संपूर्ण कृति कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। ऐसी ही मौलिक रचनाओं से अपने साहित्य का मस्तक ऊँचा हो सकेगा। पुस्तक में दिए हुए चित्र बिलकुल बेमेल हैं। अजंता की चित्रकला की भद्दी नकल वाली ये बंगाली शकलें हिंदी के उपन्यास में कुरुचि ही उत्पन्न करती हैं। इन के हटा देने से पुस्तक का मूल्य घटने के बजाय बढ़ जावेगा।

* * *

सूर्यकांतत्रिपाठी 'निराला' की 'अप्सरा' पढ़ कर मुझे हिंदी की प्रसिद्ध कहावत 'नाम बड़े और दर्शन थोड़े' की सहसा याद आ गई। ऐसी शिथिल, कला-विहीन, उपन्यास नाम रखने वाली भद्दी रचना मेरी नजर से शायद ही कोई दूसरी गुजरी हो। कथा, चरित्र-चित्रण, शैली, कहीं पर भी सौंदर्य का नाम नहीं। वास्तव में पुस्तक को पढ़ कर अत्यन्त निराशा हुई। मेरी समझ में 'सुन्दर सुकुमार कवि-मित्र श्रीसुमित्रानंदन पंत' को समर्पित कर के लेखक ने अपने सुन्दर सुकुमार मित्र का अनजाने अपमान किया है। नाम को छोड़ कर हिंदी के इस 'गंधर्व' में और इस अप्सरा में किसी प्रकार का भी साम्य नहीं है। आशा इतनी ही है कि कुछ दिनों में यह 'अप्सरा' इस लोक को छोड़ कर अपने लोक को चली जावेगी और मेनका की तरह फिर संसारी लोगों को भुलावे में डालने के लिये कभी नहीं लौटेगी।

* * *

'मंच' एक साफ सुथरा गार्हस्थ्य-जीवन संबंधी उपन्यास है। कल्पना की अपेक्षा वास्तविकता का सहारा लेखक ने विशेष लिया है। इस का सब से बड़ा गुण यह है कि विचित्रता लाने का लेखक ने बिलकुल भी प्रयत्न नहीं

किया है, जैसे सभी घटनाओं को बिना निमक मिर्च मिलाए लेखक लिख रहा हो। भाषा-शैली भी बहुत सुथरी है। लेखक में उपन्यास लिखने की शक्ति मौजूद है। कुछ मांजने से यह चमक उठेगा। कथानक, भाषा, चरित्रचित्रण तथा शैली की अकृत्रिमता इस पुस्तक की सब से बड़ी विशेषताएं हैं।

❦ ❦ ❦

श्री विश्वनाथ सिंह शर्मा के 'कसौटी' नामक उपन्यास की सब से बड़ी विशेषता इसका अश्रृंगारी होना है। सामयिक राजनीतिक तथा सामाजिक अवस्था का इसमें सच्चा चित्र खींचने का उद्योग किया गया है, साथ में इस बात पर भी ध्यान रक्खा गया है कि अन्त में भले लोग सुखी और बुरे लोग दुखी सिद्ध हों—घरेलू कहानियों की तरह अन्त में यह कहा जा सके कि 'जैसे उनकी हुई वैसी सब किसी की हो'। 'सेवासदन' वाली आदर्शवादिता नवीन उपन्यास लेखकों का पीछा ही नहीं छोड़ती। 'सेवासदन' तथा 'प्रेमाश्रम' के समान इस में भी एक 'प्रेममंदिर' स्थापित किया गया है। यदि साहित्य समाज के भविष्य का प्रतिबिंब है तो निश्चय है कि शीघ्र ही अनेक 'सेवासदन' और प्रेममंदिर हमारे गाँवों में दिखलाई पड़ने लगेंगे। समाज की गार्हस्थ्य-संबंधी समस्याओं को चित्रित करने वाले साधारण उपन्यासों की अपेक्षा यह कहीं बेहतर है। समाज के एक भिन्न पहलू की तरफ़ यह हमारा ध्यान आकर्षित करता है और वह भी काफ़ी सफलता-पूर्वक।

❦ ❦ ❦

प्रेमचंद की क़लम में जो सफ़ाई है वह अभी तक किसी भी अन्य हिन्दी उपन्यास-लेखक को नसीब नहीं हो पाई है। कथा का बहाव, शैली का सुथरापन, भावों की चुस्ती इन सब में प्रेमचंद अपना सानी नहीं रखते। 'ग़बन' प्रेमचंद की कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। मुझे तो यह उन के प्रारंभ के छोटे तथा बीच के बड़े उपन्यासों से भी अधिक सुंदर जँचा। एक बात जो प्रेमचंद की रचनाओं में, विशेषतया उपन्यासों में, खटकती है वह उन में होते हुए भी का न होना है यों तो सब बातें सभी

सी लगती है लेकिन जरा ध्यान देने पर कहानी कहानी ही रह जाती है। यह सच है कि उपन्यास किन्हीं व्यक्तियों का जीवन-चरित्र नहीं है किन्तु तो भी इस तरह की काल्पनिक रचनाएँ हो सकती हैं जिन में सच्चे जीवन की ऐसी नक़ल मिलती है कि असल और नक़ल को बराबर बराबर रखने पर भी असल और नक़ल में धोखा हो जाता है। इस तरह का धोखा प्रेमचंद की अधिकांश रचनाएं देर तक दे सकती हैं, इस में मुझे संदेह है।

यह सब होते हुए भी 'ग़बन' हिन्दी के उपन्यासों में प्रथम श्रेणी की रचना है—अत्यन्त रोचक, अत्यन्त आकर्षक, अत्यन्त सजीव और अत्यन्त उपदेश-जनक।

* * *

श्री चतुरसेन शास्त्री की 'अक्षत'-शीर्षक पुस्तक की 'आठ अमर कहानियों' में कुछ कहानियाँ सुन्दर हैं, शेष साधारण। 'फूलवाले की सैल' शायद सब से अधिक आकर्षक कहानी है। श्री चतुरसेन की 'पान वाली' तो काफी प्रसिद्धि पा चुकी है। "दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी ?" कहानी भी अत्यन्त मार्मिक है। अन्य कहानियों में मुझे विशेष कला या आकर्षण नहीं दिखलाई पड़ा। लेखक को अपनी क़लम पर भरोसा भी कदाचित् आवश्यकता से अधिक है। इस लिए अपने लिखे हुए को माँजना-सँवारना वे शायद अनावश्यक समझते हैं।

* * *

'आकाशदीप' की उन्नीस कहानियों के रूप में 'प्रसाद' जी की कला का नमूना उन के 'कंकाल' से कहीं अधिक उत्कृष्ट है। कुछ कहानियाँ सचमुच बहुत सुंदर हैं, कुछ साधारण और कुछ की कला ऐसी है कि हम जैसे परिमित बुद्धि, और ज्ञान रखने वाले मनुष्यों की पहुँच वहाँ तक नहीं हो पाती। कलियुग के प्रारंभ में व्यास जी ने अपने अमर संस्कृत ग्रंथ में कूट श्लोक लिखे थे, ब्रजभाषा के सागर में महाकवि सूरदास कूट पद रच कर रख गए हैं फिर आजकल के हिन्दी लेखक नवीनता के उपासक होते हुए भी इस प्रणाली को कैसे छोड़ सकते हैं? लेकिन इस बीसवीं सदी में

ये कूट रचनाएँ कविता तक ही सीमित नहीं हैं। विकसित होकर अब ये कहानी जैसी गद्यरचनाओं तक पहुँच गई हैं। इस का पता 'आकाशदीप' पढ़ने से लगता है। ध्वनिकाव्य उत्तमकाव्य है। ध्वनिकाव्य वह है जिस मे संकेत से बात कही जाय। अतः आजकल की ये सांकेतिक गद्यपद्यात्मक रचनाएँ उत्तम काव्य की श्रेणी में आप ही पहुँच जाती हैं। यह मोटा तर्क तो मोटी बुद्धि वाले व्यक्तियों की अक़ल मे भी समा जाना चाहिए।

आजकल की छायावादी कविताओं तथा 'आकाशदीप'-वादी गद्यरचनाओं की व्यंजना मुझे एक सज्जन का स्मरण दिला देती हैं। आजकल के नए हिंदी कवियों की तरह मेरे एक रिश्तेदार को भी कभी कभी कम सखुनी का दौरा हो जाता है। रात को दस बजे नौकर को बुलाया और एक मिनट घूर कर कहा 'कपड़े'। बड़े वकील हैं। मिज़ाज के सख्त हैं। दुबारा बात लौटने की नौकर की हिम्मत कहाँ? बिचारा घर में आकर बाबू साहब की पहेली सब के सामने पेश करता है और उस के बूझने मे सारा घर लग जाता है। कहीं जाना तो नहीं है जो पहनने को 'कपड़े' मँगाये हैं? दर्ज़ी के यहाँ तो 'कपड़े' सिलने नहीं गए जो उन को पूछ रहे हैं। घर मे किसी से कहीं 'कपड़े' भेजने को तो नहीं कहा था जो यह जानना चाहते हैं कि कपड़े भेज दिए गए या नहीं? अरे कहीं मुझ से तो 'कपड़े' पहन कर आने को तो नहीं कहा है, शायद कहीं भेजना हो? कहिए, कैसा उत्कृष्ट ध्वन्यात्मक काव्य है? हम साधारण बुद्धि वालों की तो भगवान ऐसे लोगों से रक्षा करे। मेरे सामने तो जब ऐसी रचनाएँ आती हैं तो किसी लाल बुझक्कड़ को ढूँढने की इच्छा होने लगती है।

'आकाशदीप' की कुछ कहानियाँ इसी श्रेणी की हैं। मेरी समझ में न आने के कारण उनकी उत्कृष्टता में कोई फ़र्क न आना चाहिए। अगर उन्नीसवीं सदी में पैदा हुए व्यक्ति की समझ में बीसवीं सदी की शैली न आए तो उस में उस शैली का दोष कैसे हो सकता है?

लेकिन जैसा मैं ऊपर कह चुका हूँ कुछ कहानियाँ सचमुच सुंदर हैं

श्री जैनेन्द्रकुमार का 'वातायन' ऊँची श्रेणी की उत्कृष्ट कहानियों का संग्रह है। प्रायः सब की सब कहानियाँ सुंदर, भावपूर्ण तथा हृदय पर चोट करने वाली हैं। लेखक जानता है कि किस बात को कैसे लिखने से वह आकर्षक बन्ना सकेगा और अनायास ही वह उसे वैसे ही लिखता है। 'खेल' तथा 'चलित-चित्त' जैसी कहानियों में विशेष कथानक न होते हुए भी कला है। कुछ कहानियों को पढ़ कर पश्चिमी कहानियों का स्मरण हो आता है लेकिन यदि इस तरह का कोई प्रभाव हो भी तो वह जुगाली किया हुआ भोजन मालूम होता है, निगला हुआ नहीं। अपने पात्रों की मानसिक अवस्था की उथल पुथल की जिस गहराई तक श्री जैनेन्द्रकुमार पहुँचते हैं वहाँ प्रेमचंद भी अक्सर नहीं पहुँचते।

❦ ❦ ❦

श्री चंद्रगुप्त विद्यालंकर की 'चंद्रकला' में संगृहीत कहानियाँ बुरी नहीं हैं—रोचक हैं, जहाँ तहाँ कला की छटा है किन्तु उनके वातावरण में स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में विदेशी प्रभाव दिखलाई पड़ता है। 'मौलिक' कहानियों में यह प्रभाव किस तरह आया है इस संबंध में लेखक महोदय ही ठीक बतला सकेंगे। लेखक को 'अपने भविष्य की उज्वलता पर पूर्ण विश्वास है' इससे पाठक भी असहमत न होंगे।

❦ ❦ ❦

'हृदय के आँसू' की अधिकांश कहानियों का विषय प्रेम—अतृप्त प्रेम है। शैली में अभी प्रौढ़ता नहीं है—कुछ बचकानापन है। वैसे कहानियाँ रोचक है। परिश्रम करने से लेखक महोदय कदाचित सचमुच उत्कृष्ट कहानियाँ लिख सकेंगे यह बात इस बानगी से अवश्य स्पष्ट होती है। दो एक कहानियो का विषय भी भिन्न है और विवेचन भी अधिक विकसित है। ये कहानियाँ कदाचित् लेखक की कुछ प्रौढ़ रचनाएँ हैं।

❦ ❦ ❦

...े 'मार' की मौलिक कहानियों के इस संग्रह में अधि-

प्रारंभ की कुछ कहानियों मे प्रेम के ऐसे रूप और ऐसे आदर्श का चित्रण किया गया है जो अपने देश के लिए केवल नए तथा असाधारण ही नहीं हैं बल्कि भारतीय सभ्यता के आदर्शों की नींव हिलाने वाले हैं। जीवन में अवश्य अनेकरूपता है किन्तु साहित्य में जीवन छान छान कर रक्खा जाता है। समाज के गहन वन में अनेक कॅंकरीली कंटकपूर्ण तथा अंधकारयुक्त पगडंडियाँ फैली पड़ी हैं किन्तु साधारण यात्रियों को उन पर से होकर सकुशल निकाल ले जाना अत्यन्त कुशल पथ-प्रदर्शकों का काम है, थोड़ी सी भी भूल से अबोध यात्रियों के भटकने और पथभ्रष्ट हो जाने की आशंका रहती है।

आजकल वैचित्र्य और उच्छृङ्खलता उत्कृष्ट कला के निकटतम सुहृद् समझे जाते हैं इस लिये अपने देश के नवयुवक लेखकों की क़लम किसी प्रकार के भी बंधन को मानने को उद्यत नहीं है।

कहानियाँ लिखी अच्छे ढंग से गई हैं, पढ़ने में रोचक हैं, तथा शैली सुथरी है। कुछ कहानियाँ काफी सुंदर तथा मार्मिक हैं। इनमें मानव-हृदय के छोटे छोटे चित्र सरल तथा स्पष्ट ढंग से खींचे गए हैं। झूठी कला के चक्कर में पड़ कर कहानियों को तोड़ा मरोड़ा नहीं गया है। लेखक ने अपनी रचनाओं के बाह्य रूप के माँजने पर यदि कुछ अधिक ध्यान दिया होता तो वे अधिक चमक उठतीं।

* * *

'अनाख्या' और 'सुधांशु' राय कृष्णदास द्वारा लिखी गई कहानियों के संग्रह हैं। 'सुधांशु' की प्रायः समस्त कहानियाँ 'छायावादी' कविता की टक्कर लेने वाली हैं जिन में कुछ की व्यंजना स्पष्ट तथा कुछ की अस्पष्ट है। 'अनाख्या' की भी कुछ कहानियां इसी प्रकार की हैं। आज-कल छायावादी लेखक प्रायः यह भूल जाते हैं कि बात को अधूरा छोड़ देने से ध्वनिकाव्य नहीं हो जाता। जो हो लेखक का उद्देश्य उत्कृष्ट कलापूर्ण कहानियाँ लिखने की ओर है और यह सराहनीय है। किन्तु जितना ऊँचा आदर्श लेखक ने अपने सामने रक्खा है उस से प्राय बहुत नीचे लेखक को रुक जाना

की 'इनाम' शीर्षक कहानी अत्यंत उत्कृष्ट रचना है। साधारणतया 'सुधांशु' की अपेक्षा 'अनाख्या' की कहानियाँ मेरी समझ में अधिक आईं। लेखक की खड़ी बोली में कहीं कहीं बनारसी-पन आ गया है। 'हो' के स्थान पर 'हौ' (सम्राट् ने पूछा—"यह क्या कर रहे हौ" सुधांशु पृ० २५) का प्रयोग बराबर जान बूझ कर किया गया है किंतु यह कानों और आँखों दोनों को बेहद खटकता है। पहले मेरा ख्याल था कि शायद स्त्रियों की बोली तक ही यह प्रयोग सीमित है किंतु बात ऐसी नहीं निकली। ग्रामीणों के मुख से बनारसी बोली का प्रयोग सुंदर ढंग से कराया गया है।

—निकष

सूचना

आगामी वर्ष से 'हिंदुस्तानी' में साहित्यिक विज्ञापनों के प्रकाशन का भी प्रबंध किया गया है। विज्ञापन की दर नीचे दी हुई है।

	पूरा पृष्ठ	आधा पृष्ठ	चौथाई पृष्ठ
चार अंकों में	३६)	२८)	१६)
दो " "	२०)	१५)	९)
एक अंक "	१२)	८)	५)

प्रति इंच

१ बार के लिए २)

२ " " " ४)

३ " " " ७॥)